पुस्तक प्राप्ति स्थान—

※ श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

※ श्री टोडरमल स्मारक भवन, 4-A, बापूनगर, जयपुर (राज०)



प्रथमावृत्ति : १००० श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला मारोठ, रक्षाबंधन, वीर नि० सं० २४७७

द्वितीयावृत्ति : ५०० श्री वीतराग विज्ञान प्रकाशिनी ग्रन्थमाला, खण्डवा, वीर नि० सं० २५००

तृतीयावृत्ति : ३१०० श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ, वीर नि० स० २५०५



इस ग्रन्थ की ३१०० प्रति के ३२ फार्म मे २० × ३०=१५.५ Kg. का जे. के. मेपलीथो १०३ रीम कागज लगा है।

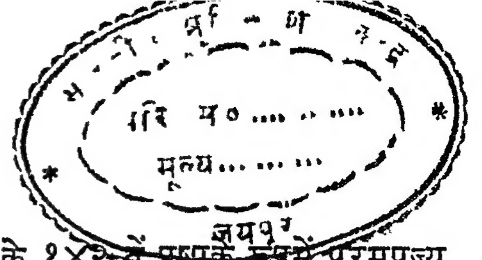


मुद्रक :

नेमीचन्द बाकलीवाल

बाकलीवाल प्रिन्टर्स

मदनगंज–किशनगढ (राजस्थान)



—: आद्य निवेदन :—

आज हमें श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ के १४२ वें पुष्पके रूपमें परमपूज्य १०८ श्री स्वामी कार्तिकेय विरचित कार्तिकेयानुप्रेक्षा अर्थात् बारह भावनाओ को आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त हर्ष है। वर्तमान उपलब्ध आर्ष ग्रन्थो में यह एक उच्चकोटिका बहुत प्राचीन ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थराजका वीर निर्वाण सं० २४४७ मे कलकत्तासे भारतीय जेन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था द्वारा प्रकाशन हुआ था। उसके बाद इतने लम्बे समयमे भी कहीसे इसका पुन: प्रकाशन नही होनेसे कई वर्षोसे यह ग्रन्थ अप्राप्य हो रहा था और बहुत से मुमुक्षु इसके स्वाध्यायसे वचित रहते थे। यह देखकर मेरे भाव इसके पुन: प्रकाशन कराने के हुए। अत: मैने यह ग्रन्थ श्रीयुत् प० महेन्द्रकुमारजी पाटनी, काव्यतीर्थ को सशोधन के लिए दिया तब उन्होने मुझे निम्नलिखित सुझाव दिये।

(१) इसकी भाषा टोका श्रीयुत् सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० जयचन्द्रजी छाबडा द्वारा ढूँढारी भाषा मे की हुई है जो बहुत ही प्रामाणिक टीका है परन्तु इसको यदि आधुनिक हिन्दी भाषामे परिवर्तित कर दिया जावे तो अधिकाश भाई लाभ उठा सकेगे। [पं० जयचन्द्रजी का संक्षिप्त परिचय अष्टपाहुडमे दिया है।]

(२) इसकी मूल भाषा प्राकृत है जो ध्यान देने पर बहुत ही सरल व सरस ज्ञात होती है। ऐसी अवस्थामे यदि अन्वयपूर्वक अर्थ लिख दिया जावे तो मूल गाथाओको समझनेके लिए अधिक उपयोगी होगा। सभव है जैन परीक्षालय इसको सरल व उपयोगी समझ कर इसके दो तीन भाग करके कोर्समे भी रख दे तो विद्यार्थियोके लिए यह टीका अधिक लाभप्रद हो सकेगी।

मुझे ये सुझाव बहुत पसन्द आये और मैने उन्ही को यह कार्यभार सौप दिया। पडितजीने यह कार्य बडी ही लगन एव परिश्रमपूर्वक अल्प समयमे ही पूरा कर दिया इसके लिए उन्हे हार्दिक धन्यवाद है।

भाषा परिवर्तनमे साहित्यिक दृष्टि गौण रखी गई है और टीकाकारके भावोंको जैसाका तैसा द्योतित करनेकी मुख्यता रखी गई है। इस परिवर्तन को मैने आद्योपान्त भले प्रकारसे जाँच भी लिया है और मुझे विश्वास है कि इसमे टीकाकारके भावोमे कही भी तोड़ मरोड़ नही होने दिया गया है फिर भी यदि कही कोई भूल हो गई हो तो पाठकोसे क्षमायाचना पूर्वक प्रार्थना है कि उसे सुधार लेवे और मुझे भी सूचित करनेकी कृपा करे।

इस ग्रन्थराजकी विशेषता यह है कि इसमे प्रत्येक अनुप्रेक्षाका वर्णन इतने सुन्दर ढंगसे आया है कि धर्मका यथार्थ स्वरूप समझाते हुए संसार देह भोगोका स्वरूप एव उनकी असारता दिखा कर स्वात्मरुचि करानेकी ही मुख्यता है। हर एक विषय का खास करके लोकका स्वरूप एव धर्मका स्वरूप क्रमश: लोकभावना एव धर्मभावनामे बहुत ही विस्तृतरूपमे कहते हुए भी मुख्यता स्वात्मरुचिकी ही रही है इस कारण विशेषसे भो यह ग्रन्थ मुमुक्षुओके लिए बहुत ही उपयोगी है।

ग्रन्थके साथ विषय सूची, गाथा सूची आदि भी सुविधाके लिये लगा दिये गये है आशा है पाठकगण इस ग्रन्थराजके स्वाध्यायसे पूरा २ लाभ उठावेगे।

निवेदक :

 नेमीचन्द पाटनी

तृतीयावृत्ति का प्रकाशकीय निवेदन



स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ की जिज्ञासुओं में बहुत मांग है। आज से २३ वर्ष पूर्व श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारोठ से यह प्रथम प्रकाशित हुआ था। श्री नेमीचन्दजी पाटनी की अनुमति से ही इसकी द्वितीय आवृत्ति राष्ट्रीय स्तर पर मनाये जाने वाले २५०० वे वीर निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में प्रकाशित हुई थी। प्रस्तुत ग्रन्थ की तृतीय आवृत्ति श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ की ओर से प्रकाशित हो रही है।

प्रथमावृत्ति की मूल सामग्री में किसी तरह का परिवर्तन नहीं किया गया है। मुद्रण मे यथासम्भव पूर्ण सावधानी रखी गई है। शुद्ध मुद्रण के लिए मैं श्री नेमीचन्दजी बाकलीवाल, बाकलीवाल प्रिन्टर्स, मदनगंज–किशनगढ़ का विशेष आभारी हूं।

जे० लालचन्द जैन
इन्दौर (म० प्र०)





परमपूज्य सद्‌गुरुदेव श्री कानजी स्वामी

—: गाथानुक्रम :—





❀ श्री परमात्मने नमः ❀

श्रीमत् स्वामि कार्त्तिकेय प्रणीत

कार्तिकेयानुप्रेक्षा

(भाषानुवाद सहित)

भाषाकार का मंगलाचरण

❀ दोहा ❀

प्रथम ऋषभ जिन धर्मकर, सनमति चरम जिनेश ।
विघनहरन मंगलकरन, भवतमदुरितदिनेश ॥१॥
वानी जिनमुखतैं खिरी, परी गणाधिप कान ।
अक्षरपदमय विस्तरी, करहि सकल कल्यान ॥२॥
गुरु गणधर गुणधर सकल, प्रचुर परम्पर और ।
व्रततपधर तनुनगनतर, बंदौं वृष शिरमौर ॥३॥
स्वामिकार्त्तिकेय मुनी, बारह भावन भाय ।
कियो कथन विस्तार करि, प्राकृतछंद बनाय ॥४॥
ताकी टीका संस्कृत, करी सु-धर शुभचन्द्र ।
सुगमदेशभाषामयी, करू नाम जयचन्द्र ॥५॥
पढहु पढावहु भव्यजन, यथाज्ञान मनधारि ।
करहु निर्जरा कर्मकी, बार बार सुविचारि ॥६॥

इसप्रकार देव शास्त्र गुरुको नमस्काररूप मंगलाचरण पूर्वक प्रतिज्ञा करके स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक ग्रन्थकी देशभाषामय वचनिका की जाती है। सो सस्कृत टीकाके अनुसार मेरी बुद्धि माफिक गाथाका सक्षेप अर्थ लिखूंगा उसमे कही भूल हो जाय तो विशेष बुद्धिमान् ठीक कर लेवे❋।

श्रीमत्स्वामिकार्त्तिकेय नामक आचार्य, अपने ज्ञानवैराग्यकी वृद्धि होना, नवीन श्रोताओके ज्ञानवैराग्यका उत्पन्न होना तथा विशुद्धता होनेसे पापकर्मकी निर्जरा, पुण्यका उत्पन्न होना, शिष्टाचारका पालना, विघ्नरहित शास्त्रकी समाप्ति होना इत्यादि अनेक अच्छे फलोको चाहते हुए अपने इष्टदेवको नमस्काररूप मगलपूर्वक प्रतिज्ञा कर गाथा कहते है—

तिहुवणतिलयं देवं, वंदित्ता तिहुवणिंदपरिपुज्जं।
वोच्छं अणुपेहाओ, भवियजणाणंदजणणीओ ॥१॥

अन्वयार्थः—[तिहुवणतिलयं] तीन भुवनका तिलक [तिहुवणिंदपरिपुज्जं] तीन भुवनके इन्द्रोंसे पूज्य (ऐसे) [देवं] देवको (मैं अर्थात् स्वामि कार्त्तिकेय) [वंदित्ता] नमस्कार करके [भवियजणाणंदजणणीओ] भव्य जीवोको आनन्द उत्पन्न करने वाली [अणुपेहाओ] अनुप्रेक्षाये [वोच्छं] कहूगा।

भावार्थः—यहा 'देव' ऐसी सामान्य संज्ञा है सो क्रीडा, रति, विजिगीषा, द्युति, स्तुति, प्रमोद, गति, कान्ति इत्यादि क्रियाये करे उसको देव कहते है, सो सामान्यतया तो चार प्रकारके देव वा कल्पित देव भी गिने जाते है, उनसे भिन्नता दिखानेके लिये 'तिहुवणतिलयं (त्रिभुवनतिलक)' ऐसा विशेषण दिया इससे अन्य देवका व्यवच्छेद (निराकरण) हुआ, परन्तु तीन भुवनके तिलक इन्द्र भी हैं, उनसे भिन्नता दिखानेके लिए 'तिहुअणिदपरिपुज्ज (त्रिभुवनेन्द्रपरिपूज्य)' ऐसा विशेषण दिया, जिससे तीन भुवनके इन्द्रो द्वारा भी पूज्य ऐसा जो देव है उसको नमस्कार किया।

यहां इसप्रकार समझना कि ऊपर कहे अनुसार देवपना अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इन पचपरमेष्ठियोमे ही पाया जाता है, क्योकि परम स्वात्मजनित

❋ इस जगह भाषानुवादक स्वर्गीय पण्डित जयचन्द्रजीने समस्त ग्रन्थकी पीठिका (कथनकी सक्षिप्त विषय सूची) लिखी है सो हमने उसको यहा न रखकर आधुनिक प्रथानुसार प्रारम्भमे विस्तृत विषय सूचीके रूपमे लिख दी है।

आनन्द सहित क्रीड़ा, तथा कर्म कलंकको जीतनेरूप विजिगीषा, स्वात्मजनित प्रकाशरूप द्युति, स्वस्वरूपकी स्तुति, स्वरूपमें परमप्रमोद, लोकालोकव्याप्तरूप गति, शुद्धस्वरूपकी प्रवृत्तिरूप कान्ति इत्यादि देवपनेकी उत्कृष्ट क्रियाये सब एकदेश वा सर्वदेशरूप इनमें ही पाई जाती है, इसलिये सर्वोत्कृष्ट देवपना इनमें ही पाया जाता है, अतः इनको मगलरूप नमस्कार करना उचित है। (मं=पापं गालयति इति मगल अथवा मंगं=सुख लाति ददाति इति मगल) 'म' कहिये पाप उसको गालै (नाश करे) तथा 'मंग' कहियें सुख, उसको लाति ददाति कहिये दे, उसको मगल कहते है, सो ऐसे देवको नमस्कार करनेसे शुभपरिणाम होते है जिससे पापोका नाश होता है और शान्तस्वभावरूप सुखकी प्राप्ति होती है।

अनुप्रेक्षाका सामान्य अर्थ बारम्बार चिन्तवन करना है, वह चितवन अनेक प्रकारका है, उसके करनेवाले अनेक है, उनसे भिन्नता दिखानेके लिये 'भवियजणाणंद-जणणीओ (भव्यजनानन्दजननीः)' ऐसा विशेषण दिया है। इसलिये मै (स्वामि-कार्तिकेय) जिन भव्यजीवोके मोक्ष होना निकट आया हो उनको आनन्द उत्पन्न करनेवाली, ऐसी अनुप्रेक्षा कहूंगा।

यहां 'अणुपेहाओ (अनुप्रेक्षाः) ऐसा बहुवचनांत पद है। अनुप्रेक्षा—सामान्य चितवन एक प्रकार है तो भी अनेक प्रकार है, भव्य जीवोको सुनते ही मोक्षमार्गमे उत्साह उत्पन्न हो, ऐसा चितवन सक्षेपसे बारह प्रकार है, उनके नाम तथा भावनाकी प्रेरणा दो गाथाओमे कहते है:—

अद्धुव असरण भणिया, संसारामेगमण्णमसुइत्तं।
आसव संवरणामा, णिज्जरलोयाणुपेहाओ ॥२॥
इय जाणिऊण भावह, दुल्लह-धम्माणुभावणाणिच्चं।
मन-वयण-कायसुद्धी, एदा दस दोय भणिया हु ॥३॥

अन्वयार्थः—[एदा] ये [अद्धुव] अध्रुव (अनित्य) [असरण] अशरण [संसारामेगमण्णमसुइत्तं] संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व [आसव] आस्रव [संवरणामा] संवर [णिज्जरलोयाणुपेहाओ] निर्जरा, लोक अनुप्रेक्षाये [दुल्लह] बोधि दुर्लभ [धम्माणभावणा] धर्म भावना यह [दस दोय] बारह भावना [भणिया] कही

गई है [इय जाणिऊण] इन्हें जानकर [मणवयणकायसुद्धी] मनवचनकाय शुद्ध कर [णिच्चं] निरन्तर [भावह] भावो ।

भावार्थः—ये बारह भावनाओंके नाम कहे गये हैं, इनका विशेष अर्थरूप कथन तो यथास्थान होगा ही परन्तु ये नाम भी सार्थक है, इनका अर्थ किस प्रकार है ?—अध्रुव तो अनित्यको कहते है। जहां कोई शरण नही सो अशरण। भ्रमणको ससार। जहा कोई दूसरा नही सो एकत्व। जहा सबसे भिन्नता सो अन्यत्व। मलिनताको अशुचित्व। कर्मके आनेको आस्रव। कर्मके आनेको रोके सो संवर। कर्मका झरना सो निर्जरा। जिसमे छह द्रव्य पाये जांय सो लोक। अतिकठिनतासे प्राप्त होय सो दुर्लभ। ससारसे उद्धार करे सो वस्तुस्वरूपादिकधर्म। इसप्रकार इनका अर्थ है।



अध्रुव-अनुप्रेक्षा

पहले अध्रुव अनुप्रेक्षाका सामान्य स्वरूप कहते हैः—

जं किंचिवि उप्पण्णं, तस्स विणासो हवेइ णियमेण।
परिणामसरूवेण वि, ण य किंचि वि सासयं अत्थि ॥४॥

अन्वयार्थः—[जं किंचिवि उप्पण्णं] जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है [तस्स णियमेण विणासो हवेइ] उसका नियमसे नाश होता है [परिणामसरूवेणवि] परिणाम-स्वरूपसे तो [किंचिवि सासयं ण अत्थि] कुछ भी नित्य नही है।

भावार्थः—सब वस्तुए सामान्य विशेषस्वरूप है। सामान्य तो द्रव्यको और विशेष गुणपर्यायको कहते है सो द्रव्यरूपसे तो वस्तु नित्य ही है तथा गुण भी नित्य ही है और पर्याय है वह अनित्य है इसको परिणाम भी कहते है, यह प्राणी पर्यायबुद्धि है सो पर्यायको उत्पन्न होते व नष्ट होते देखकर हर्ष विषाद करता है तथा उसको नित्य रखना चाहता है इसप्रकारके अज्ञानसे दुखी होता है उसको इस भावनाका चितवन इसप्रकार करना योग्य है किः—

मैं द्रव्यरूपसे नित्य जीवद्रव्य हूँ, उत्पन्न होती है तथा नाश होती है यह पर्यायका स्वभाव है, इसमें हर्ष विषाद कैसा ? यह शरीर, जीव पुद्गलकी संयोगजनित पर्याय है। धन धान्यादिक, पुद्गलपरमाणुओंकी स्कन्धपर्याय हैं। इनके सयोग और वियोग नियमसे अवश्य है, स्थिरताकी बुद्धि करता है सो मोहजनित भाव है इसलिये वस्तुस्वरूपको समझकर हर्ष विषादादिकरूप नही होना चाहिए।

आगे इसहीको विशेषरूपसे कहते है—

जम्मं मरणेण समं, संपज्जइ जोव्वणं जरासहियं।
लच्छी विणास सहिया, इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥५॥

अन्वयार्थः—[जम्मं मरणेण समं] यह जन्म है सो मरण सहित है [जुव्वणं जरासहियं संपज्जइ] यौवन है सो जरा सहित उत्पन्न होता है [लच्छी विणाससहिया] लक्ष्मी है सो विनाश सहित उत्पन्न होती है [इयसव्वं भंगुरं मुणह] इसप्रकारसे सब वस्तुओंको क्षणभगुर जानो।

भावार्थः—जितनी अवस्थायें ससारमे हैं वे सब ही विरोधी भावको लिये हुए है। यह प्राणी जन्म होता है तब उसको स्थिर मानकर हर्ष करता है, मरण होनेपर नाश मानकर शोक करता है। इसीप्रकारसे इष्टकी प्राप्तिमे हर्ष, अप्राप्तिमें विषाद तथा अनिष्टकी प्राप्तिमें विषाद, अप्राप्तिमें हर्ष करता है सो यह मोहका माहात्म्य है। (नित्य पूर्ण ज्ञायकभावके आलम्बनके बल द्वारा) ज्ञानियोको समभावरूपसे रहना चाहिये।

अथिरं परियण-सयणं, पुत्त-कलत्तं सुमित्त-लावण्णं।
गिह-गोहणाइ सव्वं, णव-घण-विंदेण सारिच्छं ॥६॥

अन्वयार्थः—[परियणसयणं] परिवार, बन्धुवर्ग [पुत्तकलत्तं] पुत्र, स्त्री [सुमित्त] अच्छे मित्र [लावण्णं] शरीरकी सुन्दरता [गिहगोहणाइ सव्व] गृह गोधन इत्यादि समस्त वस्तुएं [णवघणविंदेण सारिच्छं] नवीन मेघके समूहके समान [अथिरं] अस्थिर है।

भावार्थः—ये सबही वस्तुएं नाशवान् जानकर (नित्य ज्ञानस्वभावमेंही एकत्व द्वारा) हर्षविषाद नही करना चाहिये।

सुरधणु-तडि व्व चवला, इंदिय-विसया सुभिच्च-वग्गा य।
दिट्ठ-पणट्ठा सव्वे, तुरय-गया रहवरादी य ॥७॥

अन्वयार्थः—[इंदियविसया] इन्द्रियोके विषय [सुभिच्चवग्गा] अच्छे सेवकोका समूह [य] और [तुरयगयारहवरादीया] घोडे, हाथी, रथ आदिक [सव्वे] ये सब ही [सुरधणुतडिव्वचवला] इन्द्रधनुष तथा बिजलीके समान चंचल है [दिट्ठपणट्ठा] दिखाई देकर नष्ट हो जानेवाले है।

भावार्थ—यह प्राणी, श्रेष्ठ इन्द्रियोके विषय, अच्छे नौकर, घोडे, हाथी, रथादिककी प्राप्तिसे सुख मानता है सो ये सब क्षणविनश्वर है इसलिये (निज आत्मासे ही उत्पन्न अतीन्द्रिय) अविनाशी सुखको प्राप्त करनेका उपाय करना ही योग्य है।

अब बन्धुजनोका सयोग कैसा है सो दृष्टान्तपूर्वक कहते है—

पंथे पहिय-जणाणं, जह संजोओ हवेइ खणमित्तं।
बंधुजणाणं च तहा, संजोओ अद्धुओ होइ ॥८॥

अन्वयार्थः—[जह] जैसे [पंथे] मार्गमे [पहियजणाणं] पथिक जनोका [संजोओ] संयोग [खणमित्तं] क्षणमात्र [हवेइ] होता है [तहा] वैसे ही (ससारमे) [बंधुजणाणं] बधुजनोका [सजोओ] सयोग [अद्धुओ] अस्थिर [होइ] होता है।

भावार्थः—यह प्राणी बहुत कुटुम्ब परिवार पाता है तब अभिमान करके सुख मानता है, इस मदसे अपने स्वरूपको भूल जाता है। यह बन्धुवर्गका सयोग, मार्गके पथिकजनोके समान है जिसका शीघ्र ही वियोग होता है। इसमे सन्तुष्ट होकर अपने असली स्वरूपको नही भूलना चाहिये।

अब देहसयोगको अस्थिर दिखाते है:—

अइलालिओ वि देहो, ण्हाण-सुयंधेहिं विविह-भक्खेहिं।
खणमित्तेण वि विहडइ, जल-भरिओ आम-घडओ व्व ॥९॥

अन्वयार्थः—[देहो] यह देह [ण्हाणसुयंधेहिं] स्नान तथा सुगन्धित पदार्थोसे सजाया हुआ भी (तथा) [विविहभक्खेहिं] अनेक प्रकारके भोजनादि भक्ष्य

पदार्थोंसे [अइलालिओ वि] अत्यन्त लालन पालन किया हुआ भी [जलभरिओ] जलसे भरे हुए [आमघडओव्व] कच्चे घड़ेकी तरह [खणमित्तेण वि] क्षणमात्रमे ही [विहडइ] नष्ट हो जाता है।

भावार्थः—ऐसे शरीरमे स्थिर बुद्धि करना बडी भूल है।

अब लक्ष्मीकी अस्थिरता दिखाते है—

जा सासया ण लच्छी, चक्कहराणं पि पुण्णवंताणं।
सा किं बंधेइ रइं, इयर-जणाणं अपुण्णाणं ॥१०॥

अन्वयार्थः—[जा लच्छी] जो लक्ष्मी (सम्पदा) [पुण्णवंताणं चक्कहराणं पि] पुण्यके उदय सहित चक्रवर्तियोके भी [सासया ण] नित्य नही है [सा] वह (लक्ष्मी) [अपुण्णाणं इयरजणाणं] पुण्यहीन अथवा अल्प पुण्यवाले अन्य लोगोसे [किं रइं बंधेइ] कैसे प्रेम करे ? अर्थात् नही करे।

भावार्थः—(अपने त्रैकालिक पूर्ण ज्ञानानन्दमय आत्मलक्ष्मीको भूल जाना ही बड़ा दुःख है। अतः) इस लक्ष्मीका अभिमान कर यह प्राणी प्रेम करता है सो वृथा है।

आगे इसी अर्थको विशेषरूपसे कहते है—

कत्थ वि ण रमइ लच्छी, कुलीण-धीरे वि पंडिए सूरे।
पुज्जे धम्मिट्ठे वि य, सुवत्त-सुयणे महासत्ते ॥११॥

अन्वयार्थः—[लच्छी] यह लक्ष्मी [कुलीणधीरे वि पंडिए सूरे] कुलवान्, धैर्यवान्, पण्डित, सुभट [पुज्जे धम्मिट्ठे वि य] पूज्य, धर्मात्मा [सुवत्त-सुयणे महासत्ते] रूपवान्, सुजन, महापराक्रमी इत्यादि [कत्थवि ण रमइ] किसी भी पुरुषसे प्रेम नही करती है।

भावार्थः—कोई समझे कि मै बडा कुलवान् हूँ, मेरे बडोंकी सम्पत्ति है, वो कहाँ जाती है ? तथा मै धैर्यवान हूँ, कैसे गमाऊंगा ? तथा पण्डित हूँ, विद्वान हूँ, मेरी कौन लेगा? उलटा मुझको तो देवेहीगा तथा मै सुभट हूं, कैसे किसीको लेने दूंगा ? तथा मै पूजनीक हू मेरी कौन लेवे है ? तथा मै धर्मात्मा हूँ, धर्मसे तो आती है, आई हुई कहां जाती है ? तथा मै बड़ा रूपवान् हूँ, मेरा रूप देखकर ही जगत प्रसन्न है, लक्ष्मी कहां जाती है ? तथा मै

सज्जन हूँ, परोपकारी हूँ, कहां जायगी ? तथा मै बड़ा पराक्रमी हूँ, लक्ष्मीको बढाऊंगा, जानें कहाँ दूंगा ? ये सब विचार मिथ्या हैं। यह लक्ष्मी देखते देखते नष्ट हो जाती है। किसोके रक्षा करनेसे नही रहती।

अब कहते है कि जो लक्ष्मी मिली है उसका क्या करना चाहिये ? सो बतलाते हैं:—

ता भुंजिज्जउ लच्छी, दिज्जउ दाणे दया-पहाणेण।
जा जल-तरंगचवला, दो तिण्णि दिणाणि चिट्ठेइ ॥१२॥

अन्वयार्थः—[जा लच्छी] जो लक्ष्मी [जलतरंगचवला] पानीकी लहरके समान चचल है [दो तिण्णिदिणाणि चिट्ठेइ] दो तीन दिन तक चेष्टा करती है अर्थात् विद्यमान है तब तक [ता भुंजिज्जउ] उसको भोगो [दयापहाणेण दाणं दिज्जउ] दयाप्रधान होकर दान दो।

भावार्थः—कोई कृपणबुद्धि इस लक्ष्मीको इकट्ठी करके स्थिर रखना चाहता हो उसको उपदेश है कि—यह लक्ष्मी चचल है, रहनेवाली नही है, जो थोड़े दिन विद्यमान है तो भगवानकी भक्तिनिमित्त तथा परोपकारनिमित्त दानमें खरचो और विवेक सहित भोगो।

यहां प्रश्न—भोगवेमे तो पाप होता है फिर भोगनें का उपदेश क्यो दिया ? उसका समाधान—इकट्ठी करके रखनेमें पहिले तो ममत्व बहुत होता है तथा किसी कारणसे नाश हो जाय तब बड़ा ही दुःख होता है। आसक्तपनेसे कषाय तीव्र तथा परिणाम मलिन सदा रहते हैं। भोगनेसे परिणाम उदार रहते है मलिन नही रहते। उदारतासे भोग सामग्रीमे खर्च करे तो ससारमे यश फैलता है और मन भी उज्ज्वल-प्रसन्न रहता है। यदि किसी अन्य कारणसे नाश भी हो जाय तो दुःख बहुत नही होता है इत्यादि भोगनेमे भी गुण होते है। कृपणके तो कुछ भी गुण नही होता। केवल मनकी मलिनताका ही कारण है। यदि कोई सर्वथा त्याग ही करे तो उसको भोगनेंका उपदेश नही है।

जो पुण लच्छिं संचदि, ण य भुञ्जदि णेय देदि पत्तेसु।
सो अप्पाणं वंचदि, मणुयत्तं णिप्फलं तस्स ॥१३॥

अन्वयार्थः—[पुण] और [जो लच्छि संचदि] जो लक्ष्मीको इकट्ठी करता है [ण य भुंजदि] न तो भोगता है [पत्तेसु णेय देदि] और न पात्रोंके निमित्त दान करता है [सो अप्पाणं वंचदि] वह अपनी आत्माको ठगता है [तस्स मणुयत्तं णिप्फलं] उसका मनुष्यपना निष्फल है।

भावार्थः—जिस पुरुषने लक्ष्मीको पा करके संचय ही किया, दान तथा भोगमें खर्च नही की, उसने मनुष्यभव पा करके क्या किया ? निष्फल ही खोया, केवल अपनी आत्माको ठगा।

जो संचिऊण लच्छि, धरणियले संठवेदि अइदूरे।
सो पुरिसो तं लच्छि, पाहाण-समाणियं कुणइ ॥१४॥

अन्वयार्थः—[जो लच्छि संचिऊण] जो पुरुष लक्ष्मीको सचय करके [अइदूरे धरणियले संठवेदि] बहुत नीचे जमीनमे गाडता है [सो पुरिसो तं लच्छि] वह पुरुष उस लक्ष्मीको [पाहाणसमाणियं कुणइ] पत्थरके समान करता है।

भावार्थः—जैसे मकानकी नीवमे पत्थर रखा जाता है वैसे ही इसने लक्ष्मीको गाडी तब वह पत्थरके समान हुई।

अणवरयं जो संचदि, लच्छि ण य देदि णेय भुञ्जेदि।
अप्पणिया वि य लच्छी, पर-लच्छिसमाणिया तस्स ॥१५॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [लच्छि] लक्ष्मी को [अणवरयं] निरतर [संचदि] सचित करता है [ण य देदि] न दान करता है [णेय भुञ्जेदि] न भोगता है [तस्स अप्पणिया वि य लच्छी] उसके अपनी लक्ष्मी भी [पर लच्छिसमाणिया] परकी लक्ष्मीके समान है।

भावार्थः—जो लक्ष्मीको पाकर दान भोग नही करता है, उसके वह लक्ष्मी, दूसरेकी है। आप तो रखवाला (चौकीदार) है, लक्ष्मीको कोई दूसरा ही भोगेगा।

लच्छी-संसत्तमणो, जो अप्पाणं धरेदि कट्ठेण।
सो राइ-दाइयाणं, कज्जं साहेहि मूढप्पा ॥१६॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [लच्छीसंसत्तमणो] लक्ष्मीमें आसक्त चित्त होकर [अप्पाणं कट्ठेण धरेदि] अपनी आत्माको कष्ट सहित रखता है [सो मूढप्पा]

वह मूढात्मा [राइदाइयाणं] राजा तथा कुटुम्बियोका [कज्जं साहेहि] कार्य सिद्ध करता है।

भावार्थः—लक्ष्मीमें आसक्तचित्त होकर इसको पैदा करनेके लिये तथा रक्षा करनेके लिये अनेक कष्ट सहता है, सो उस पुरुषको तो केवल कष्ट ही फल होता है। लक्ष्मीको तो कुटुम्ब भोगेगा या राजा लेवेगा।

जो वड्ढारदि लच्छि, बहु-विह-बुद्धीहिं ग़ेय तिप्पेदि।
सव्वारंभं कुव्वदि, रत्ति-दिणं तं पि चिंतेइ ॥१७॥
ण य भुंजदि वेलाए, चिंतावत्थो ण सुवदि रयणीए।
सो दासत्तं कुव्वदि, विमोहिदो लच्छि-तरुणीए ॥१८॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [बहुविहबुद्धीहिं] अनेक प्रकारकी कला चतुराई और बुद्धिके द्वारा [लच्छि वड्ढारदि] लक्ष्मीको वढाता है [ग़ेय तिप्पेदि] तृप्त नही होता है [सव्वारंभं कुव्वदि] इसके लिये असिमसिकृषि आदिक सब आरभ करता है [रत्तिदिणं तं पि चिंतेइ] रात दिन इसीके आरंभका चितवन करता है [वेलाए ण य भुंजदि] समय पर भोजन नही करता है [चिंतावत्थो रयणीए ण सुवदि] चिंतित होता हुआ रातमे सोता भी नही है [सो] वह पुरुष [लच्छि-तरुणीए विमोहिदो] लक्ष्मीरूपी युवतीसे मोहित होकर [दासत्तं कुव्वदि] उसका [1]किंकरपना करता है।

भावार्थः—जो स्त्रीका किंकर होता है उसको ससारमें 'मोहल्या' ऐसे निंद्यनामसे पुकारते है। जो पुरुष निरन्तर लक्ष्मीके निमित्त ही प्रयास करता है सो लक्ष्मीरूपी स्त्रीका मोहल्या है।

अब जो लक्ष्मीको धर्मकार्य में लगाता है उसकी प्रशंसा करते हैंः—

जो वड्ढमाण लच्छिं, अणवरयं देदि धम्मकज्जेसु।
सो पण्डिएहिं थुव्वदि, तस्स वि सहला हवे लच्छी ॥१९॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष (पुण्यके उदयसे) [वड्ढमाण लच्छिं] बढती हुई लक्ष्मीको [अणवरयं] निरन्तर [धम्मकज्जेसु देदि] धर्मके कार्योंमे देता है [सो

१—किंकरपना=दासता, नौकरी।

पडिएहिं थुव्वदि] वह पुरुष पडितों द्वारा स्तुति करने योग्य है [वि तस्स लच्छी सहला हवे] और उसीकी लक्ष्मी सफल है ।

भावार्थः—लक्ष्मी, पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा, पात्रदान, परोपकार इत्यादि धर्मकार्यो मे खर्च की गई ही सफल है, पडित लोग भी उसकी प्रशसा करते है ।

एवं जो जाणित्ता, विहलिय-लोयाण धम्म-जुत्ताणं ।
णिरवेक्खो तं देदि, हु तस्स हवे जीवियं सहलं ॥२०॥

अन्वयार्थः—[जो एवं जाणित्ता] जो पुरुष ऐसा जानकर [धम्मजुत्ताणं विहलियलोयाण] धर्मयुक्त ऐसे निर्धन लोगोके लिये [णिरवेक्खो] प्रत्युपकारकी इच्छासे रहित होकर [तं देदि] उस लक्ष्मीको देता है [हु तस्स जीवियं सहलं हवे] निश्चयसे उसीका जन्म सफल होता है ।

भावार्थः—अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिए तो दान देनेवाले संसारमें बहुत है । जो प्रत्युपकारकी इच्छासे रहित होकर धर्मात्मा तथा दुखी दरिद्री पुरुषोंको धन देते है, ऐसे विरले है उनका जीवन सफल है ।

अब मोहका माहात्म्य दिखाते है :—

जल बुब्बुय-सारिच्छं धणजोव्वण जीवियं पि पेच्छंता ।
मण्णंति तो वि णिच्चं, इह-बलिओ मोह-माहप्पो ॥२१॥

अन्वयार्थः—(यह प्राणी) [धणजुव्वणजीवियं] धन, यौवन, जीवनको [जलबुब्बुय-सारिच्छं] जलके बुदबुदेके समान (तुरत नष्ट होते) [पेच्छंता पि] देखते हुए भी [णिच्चं मण्णंति] नित्य मानता है (यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है) [मोह-माहप्पो अइबलिओ] मोहका माहात्म्य बड़ा बलवान है ।

भावार्थः—वस्तुस्वरूपका अन्यथा ज्ञान करानेमे मदिरा पीना, ज्वरादिक रोग, नेत्र विकार, अन्धकार इत्यादि अनेक कारण है परन्तु यह मोह भाव सबसे बलवान है, वस्तुको प्रत्यक्ष विनाशीक देखता है तो भी नित्य ही मान्य कराता है तथा मिथ्यात्व, काम, क्रोध, शोक इत्यादिक है वे सब मोह ही के भेद है, ये सब ही वस्तु स्वरूपमें अन्यथाबुद्धि कराते हैं ।

अब इस कथनका संकोच करते है·—

चइऊण महामोहं, विसऐ मुणिऊण भंगुरे सव्वे ।
णिव्विसयं कुणह मणं, जेण सुहं उत्तमं लहइ ॥२२॥

अन्वयार्थः—(हे भव्यजीवो !) [सव्वे विसऐ भंगुरे मुणिऊण] समस्त विषयोको विनाशीक जानकर [महामोहं चइऊण] महामोहको छोड़कर [मणं णिव्विसयं कुणह] अपने मनको विषयोसे रहित करो । [जेण उत्तमं सुहं लहइ] जिससे उत्तम सुखको प्राप्त करो ।

भावार्थः—पूर्वोक्त प्रकारसे संसार, देह, भोग, लक्ष्मी इत्यादिकको अस्थिररूप दिखाये, उनको सुनकर जो अपने मनको विषयोसे छुडाकर (अपनेको नित्य ज्ञानानन्दमय और) उनको अस्थिररूप भावेगा सो भव्यजीव सिद्धपदके सुखको पावेगा ।

इति अध्रुवानुप्रेक्षा समाप्ता ॥१॥



अशरण-अनुप्रेक्षा

तत्थ भवे किं सरणं, जत्थ सुरिंदाण दीसदे विलओ ।
हरिहरबंभादीया, कालेण य कवलिया जत्थ ॥२३॥

अन्वयार्थः—[जत्थ सुरिंदाण विलओ दीसदे] जिस संसार मे देवोके इन्द्रका नाश देखा जाता है [जत्थ हरिहरबंभादीया कालेण य कवलिया] जहां हरि कहिये नारायण, हर कहिये रुद्र, ब्रह्मा कहिये विधाता आदि शब्दसे बड़े २ पदवीधारक सब ही काल द्वारा ग्रसे गये [तत्थ किं सरणं भवे] उस ससारमे कौन शरण होवे ? कोई भी नही होवे ।

भावार्थः—शरण उसको कहते हैं जहा अपनी रक्षा हो सो संसारमे जिनका शरण विचार जाता है वे ही काल-पाकर नष्ट हो जाते है वहां कैसा शरण ।

अब इसका दृष्टान्त कहते है—

सिंहस्स कमे पडिदं, सारंगं जह ण रक्खदे को वि।
तह मिच्चुणा य गहिदं, जीवं पि ण रक्खदे को वि ॥२४॥

अन्वयार्थः—[जह सिंहस्स कमे पडिदं] जैसे (वनमें) सिंहके पैर नीचे पड़े हुए [सारंगं को वि ण रक्खदे] हिरणकी कोई भी रक्षा करने वाला नही [तह मिच्चुणा य गहिदं जीवं पि] वैसे ही (संसारमे) मृत्युके द्वारा ग्रहण किये हुए जीवकी [को वि ण रक्खदे] कोई भी रक्षा नही कर सकता है।

भावार्थः—वनमे सिंह मृगको पैर नीचे दाब ले तब रक्षा कौन करे ? वैसे ही यह कालका दृष्टान्त जानना चाहिये।

आगे इसी अर्थको दृढ़ करते हैं—

जइ देवो वि य रक्खदि, मंतो तंतो य खेत्तपालो य।
मियमाणं पि मणुस्सं, तो मणुया अक्खया होंति ॥२५॥

अन्वयार्थः—[जइ मियमाणं पि मणुस्सं] यदि मरते हुए मनुष्यको [देवो वि य मंतो तंतो य खेत्तपालो य रक्खदि] कोई देव, मंत्र, तंत्र, क्षेत्रपाल उपलक्षणसे संसार जिनको रक्षक मानता है सो सब ही रक्षा करने वाले होय [तो मणुया अक्खया होंति] तो मनुष्य अक्षय होवे, कोई भी मरे नही।

भावार्थः—(नित्य निर्मोही पूर्ण ज्ञानानंद स्व को भूलकर) लोग जीवित रहनेके निमित्त (मोह वश होकर) देवपूजा, मन्त्रतन्त्र, औषधि आदि अनेक उपाय करते हैं परन्तु निश्चयसे विचार करें तो कोई जीवित दीखता नही है, वृथा ही मोहसे विकल्प पैदा करते हैं।

आगे इसी अर्थको और दृढ करते हैं—

अइ-बलिओ वि रउद्दो मरण-विहीणो ण दीसए को वि।
रक्खिज्जंतो वि सया रक्ख-पयारेहिं विविहेहिं ॥२६॥

अन्वयार्थः—(इस संसारमें) [अइबलिओ वि रउद्दो] अत्यत बलवान् तथा अत्यन्त रौद्र (भयानक) [विविहेहिं रक्खपयारेहिं रक्खिज्जंतो वि सया] और अनेक रक्षाके प्रकार उनसे निरन्तर रक्षा किया हुआ भी [मरणविहीणो को वि ण दीसए] मरणरहित कोई भी नही दीखता है।

भावार्थः—(अपने को तो भूलते ही है और परमें इष्ट अनिष्ट मान कर) अनेक रक्षाके प्रकार गढ, कोट, सुभट, शस्त्रादिक को शरण मानकर कोटि उपाय करो परन्तु मरणसे कोई बचता नही। सब उपाय विफल जाते है।

अब शरणकी कल्पना करे उसको अज्ञान बताते है—

एवं पेच्छंतो वि हु, गह-भूय-पिसाय-जोइणी-जक्खं।
सरणं मण्णइ मूढो, सुगाढ-मिच्छत्त-भावादो ॥२७॥

अन्वयार्थः—[एवं पेच्छंतो वि हु] ऐसे (पूर्वोक्तप्रकार अशरण) प्रत्यक्ष देखता हुआ भी [मूढो] मूढ प्राणी [सुगाढमिच्छत्तभावादो] तीव्रमिथ्यात्वभावसे [गहभूयपिसाय जोइणी जक्खं] सूर्यादि ग्रह, भूत, व्यंतर, पिशाच, योगिनी, चंडिकादिक, यक्ष, मणिभद्रादिकको [सरणं मण्णइ] शरण मानता है।

भावार्थः—यह प्राणी प्रत्यक्ष जानता है कि मरणसे बचानेवाला कोई भी नही है तो भी ग्रहादिकको शरण मानता है सो यह तीव्रमिथ्यात्वका माहात्म्य है।

अब मरण है सो आयुके क्षयसे होता है यह कहते हैं—

आयु-क्खयेण मरणं, आउं दाऊण सक्कदे को वि।
तह्मा देविंदो वि य, मरणाउ ण रक्खदे को वि ॥२८॥

अन्वयार्थः—[आयुक्खयेण मरणं] आयुकर्मके क्षयसे मरण होता है [आउं दाऊण सक्कदे को वि] और आयुकर्म किसीको कोई देनेमे समर्थ नही [तह्मा देविंदो वि य] इसलिये देवोका इन्द्र भी [मरणाउ को वि ण रक्खदे] मरनेसे किसीकी रक्षा नही कर सकता है।

भावार्थः—मरण आयुके पूर्ण होनेसे होता है और आयु कोई किसीको देनेमे समर्थ नही, तब रक्षा करनेवाला कौन ? इसका विचार करो !

आगे इसी अर्थको दृढ करते है—

अप्पाणं पि चवंतं, जइ सक्कदि रक्खिदुं सुरिंदो वि।
तो किं छंडदि सग्गं, सव्वुत्तम-भोय-संजुत्तं ॥२९॥

अन्वयार्थः—[जइ सुरिंदो वि] यदि देवोका इन्द्र भी [अप्पाणं पि चवंतं] अपनेको चयते (मरते) हुए [रक्खिदु सक्कदि] रोकनेमे समर्थ होता [तो सव्वुत्तम-

भोयसंजुत्तं] तो सर्वोत्तम भोगोसे सयुक्त [सग्गं किं छंडदि] स्वर्गको क्यो छोडता ?

भावार्थः—सर्व भोगोंका निवास स्थान अपना वश चलते कौन छोड़े ?

अब परमार्थ शरण दिखाते है—

दंसण-णाण-चरित्तं, सरणं सेवेहि परम-सद्धाए ।
अण्णं किं पि ण सरणं, संसारे संसरंताणं ॥३०॥

अन्वयार्थः—(हे भव्य !) [परमसद्धाए] परम श्रद्धासे [दंसणणाणचरित्तं] दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप [सरणं सेवेहि] शरणका सेवन कर । [संसारे संसरंताणं] इस ससारमें भ्रमण करते हुए जीवोको [अण्णं किं पि ण सरणं] अन्य कुछ भी शरण नही है ।

भावार्थः—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र अपना स्वरूप है सो यह ही परमार्थरूप (वास्तवमे) शरण है । अन्य सब अशरण है (सम्यग्दर्शनका विषय अपना त्रैकालिक निश्चय परमात्मा है ऐसा) निश्चयश्रद्धापूर्वक यह ही शरण ग्रहण करो, ऐसा उपदेश है ।

आगे इसीको दृढ करते है—

अप्पाणं पि य सरणं, खमादि-भावेहिं परिणदं होदि ।
तिव्व-कषायाविट्ठो, अप्पाणं हणदि अप्पेण ॥३१॥

अन्वयार्थः—[य अप्पाणं खमादिभावेहिं परिणदं होदि सरणं] जो अपनेको क्षमादि दशलक्षणरूप परिणत करता है सो शरण है [तिव्वकषायाविट्ठो अप्पेण अप्पाणं हणदि] और जो तीव्रकषाययुक्त होता है सो अपने ही द्वारा अपनेको हनता है ।

भावार्थः—परमार्थसे विचार करे तो (स्वय अपना गुरु-शिष्य, उपास्य-उपासक. भक्त-भगवान और स्वय ही शत्रु व मित्र है) । आपही अपनी रक्षा करनेवाला है तथा आपही घातनेवाला है । (ज्ञातास्वभावकी अरुचि ही क्रोध है और रागादि करने योग्य है, मेरे है वह रागादि की रुचि है उसीका नाम निश्चयसे क्रोध है) । क्रोधादिरूप परिणाम करता है तब शुद्ध चैतन्यका घात होता है और क्षमादि परिणाम करता है तब अपनी रक्षा होती है । इन ही भावोसे जन्ममरणसे रहित होकर अविनाशीपद प्राप्त होता है ।

❀ दोहा ❀

वस्तुस्वभावविचारतैं, शरण आपकूं आप ।
व्यवहारे पंच परमगुरु, अवर सकल संताप ॥२॥

इति अशरणानुप्रेक्षा समाप्ता ॥२॥



संसार-अनुप्रेक्षा

पहले दो गाथाओमे संसारका सामान्य स्वरूप कहते है—

एक्कं चयदि शरीरं, अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो ।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं, गिण्हदि मुंचेदि बहुवारं ॥३२॥
एक्कं जं संसरणं, णाणादेहेसु हवदि जीवस्स ।
सो संसारो भण्णदि, मिच्छकसाएहिं जुत्तस्य ॥३३॥

अन्वयार्थः—[मिच्छकसायेहिं जुत्तस्स जीवस्स] मिथ्यात्व कहिये सर्वथा एकान्तरूप वस्तुको श्रद्धा मे लाना और कषाय कहिये क्रोध, मान, माया, लोभ इनसे युक्त इस जीवका [जं णाणादेहेसु संसरणं हवदि] जो अनेक शरीरोमे ससरण कहिये भ्रमण होता है [सो संसारो भण्णदि] वह ससार कहलाता है । वह किस तरह ? सो ही कहते है । [जीवो एक्क शरीरं चयदि] यह जीव एक शरीरको छोड़ता है [पुणु णवणवं गिण्हेदि] फिर नवीन (शरीर) को ग्रहण करता है [पुणु अण्णं अण्णं बहुवारं गिण्हदि मुंचेदि] फिर अन्य अन्य शरीरको कई बार ग्रहण करता है और छोडता है [सो संसारो भण्णदि] वह ही ससार कहलाता है ।

भावार्थः—(निश्चयसे अपनेको भूल जाना रूप मिथ्यात्व ही संसार है और व्यवहारसे) एक शरीरसे अन्य शरीरकी प्राप्ति होते रहना सो ससार है ।

अब ऐसे ससारमे संक्षेपसे चार गतिया है तथा अनेक प्रकारके दु.ख है । सो प्रथम ही नरकगतिमे दु ख है यह छह गाथाओमे कहते है—

पावोद्येण णरए, जायदि जीवो सहेदि बहुदुक्खं ।
पंच-पयारं विविहं, अणोवमं अण्ण-दुक्खेहि ॥३४॥

अन्वयार्थः—[जीवो पावोदयेण णरए जायदि] यह जीव पापके उदयसे नरकमें उत्पन्न होता है [विविहं अण्णदुक्खेहिं पंचपयारं अणोवमं बहुदुक्खं सहेदि] वहां कई तरहके, पचप्रकारसे, उपमारहित ऐसे बहुतसे दु.ख सहता है ।

भावार्थः—जो जीवोकी हिसा करता है, झूठ बोलता है, परधन हरता है, परस्त्री तकता[1] है, बहुत आरंभ करता है, परिग्रहमे आसक्त होता है, बहुत क्रोधी, प्रचुर मानी, अति कपटी, अति कठोर भाषी, पापी, चुगल, कृपण, देवशास्त्रगुरुका निदक, अधम, दुर्बुद्धि, कृतघ्नी और बहुत शोक दुःख करने ही की जिसकी प्रकृति हो ऐसा जो जीव होता है सो मर कर नरकमे उत्पन्न होता है, अनेक प्रकारके दुःखको सहता है । ❋

अब पाच प्रकारके दुःखोको कहते है––

असुरोदीरिय-दुक्खं, सारीरं माणसं तहा विविहं ।
खित्तुब्भवं च तिव्वं, अण्णोण्ण-कयं च पंचविहं ॥३५॥

अन्वयार्थः—[असुरोदीरियदुक्खं] १ असुरकुमार देवो द्वारा उत्पन्न किया हुआ दु ख, [सारीरं माणस] २ शरीरसे उत्पन्न हुआ और ३ मनसे हुआ [तहा विविहं खित्तुब्भवं] तथा ४ अनेकप्रकार क्षेत्रसे उत्पन्न हुआ [च अण्णोणकयं पंचविहं] और ५ परस्परमे किया हुआ ऐसे पाँच प्रकारके दु'ख है ।

भावार्थः—तीसरे नरक तक तो १ असुरकुमार देव कुतूहलमात्र जाते है, वे नारकियोंको देखकर आपसमे लड़ाते है, अनेक प्रकारसे दु.खी करते है । नारकियोका २ शरीर ही पापके उदयसे स्वयमेव अनेक रोगों सहित, बुरा, घिनावना, दु खमयी होता है । उनका ३ चित्त भी महाक्रूर दु खरूप ही होता है । नरकका ४ क्षेत्र महाशीत, उष्ण, दुर्गन्ध और अनेक उपद्रव सहित होता है । नारकी जीव ५ आपसमें बैरके

---

१ तकता है = कामयुक्त दृष्टिसे देखता है ।

❋ [सयोगका दु ख नही है किन्तु देहादिमे जितना ममत्व है उतना ही दु.ख समझना चाहिये ।]

संस्कारसे छेदन, भेदन, मारन, ताडन, और कुम्भीपाक आदि करते है। वहांका दुःख उपमा रहित है।

आगे इसी दुःखको विशेष रूपसे कहते है—

छिज्जइ तिलतिलमित्तं, भिंदिज्जइ तिल तिलंतरं सयलं।
वज्जग्गिए कढिज्जइ, णिहिप्पए पूयकुंडम्हि ॥३६॥

अन्वयार्थः—(नरकमे) [तिलतिलमित्तं छिज्जइ] तिलतिलमात्र छेद देते हैं [सयलं तिलतिलं भिंदिज्जइ] शकल कहिये खण्डको भी तिलतिलमात्र भेद देते है [वज्जग्गिए कढिज्जइ] वज्राग्निमे पकाते है [पूयकुण्डम्हि णिहिप्पए] राधके कुण्डमे फेंक देते है।

इच्चेवमाइ-दुक्खं, जं णरए सहदि एयसमयम्हि।
तं सयलं वण्णेदुं, ण सक्कदे सहज-जीहो वि ॥३७॥

अन्वयार्थः—[इच्चेवमाइ जं दुक्खं] इति कहिये ऐसे एवमादि कहिये पूर्व गाथामें कहे गए उनको आदि लेकर जो दुःख उनको [णरए एयसमयम्हि सहदि] नरकमे एकसमयमे जीव सहता है [तं सयलं वण्णेदुं] उन सबका वर्णन करनेके लिये [सहसजीहो वि ण सक्कदे] हजार जीभवाला भी समर्थ नही होता है।

भावार्थः—इस गाथामे नरकके दुःख वचन द्वारा अवर्णनीय है ऐसा कहा है।

अब कहते है कि नरकका क्षेत्र तथा नारकियोके परिणाम दुःखमयी ही है—

सव्वं पि होदि णरये, खित्तसहावेण दुक्खदं असुहं।
कुविदा वि सव्वकालं अण्णोण्णं होंति णेरइया ॥३८॥

अन्वयार्थः—[णरये खित्तसहावेण सव्वं पि दुक्खद असुहं होदि] नरकमे क्षेत्रस्वभावसे सब ही कारण दुःखदायक तथा अशुभ है। [णेरइया सव्वकालं अण्णोण्णं कुविदा होंति] नारकी जीव सदा काल परस्परमे क्रोधित होते रहते है।

भावार्थ.—क्षेत्र तो [उपचारके] स्वभावसे दुःखरूप है [किन्तु तीव्र क्रोधादिवश नारकी जीव ही] आपसमे क्रोधित होते हुए वह उसको मारता है, वह उसको मारता है इस तरह निरन्तर दुखी ही रहते है।

अण्ण-भवे जो सुयणो, सो वि य णरये हणेइ अइ-कुविदो ।
एवं तिव्व-विवागं, बहु-कालं विसहदे दुःखं ॥३९॥

अन्वयार्थः—[अण्णभवे जो सुयणो] पूर्वभवमे जो सज्जन कुटुम्बका था [सो वि य णरये अइकुविदो हणेइ] वह भी नरकमें क्रोधित होकर घात करता है [एवं तिव्वविवागं दुःखं बहुकालं विसहदे] इसप्रकार तीव्र है विपाक जिसका ऐसा दु ख बहुत काल तक नारकी सहता है ।

भावार्थः—*ऐसे दुःख कई सागरों तक सहता है, आयु पूरी हुए बिना वहांसे निकलना नही होता है ।

अब तिर्यंचगति सम्बन्धी दुःखोंको साढे चार गाथाओमें कहते है—

तत्तो णीसरिदूणं, जायदि तिरएसु बहुवियप्पेसु ।
तत्थ वि पावदि दुःखं, गब्भे वि य छेयणादीयं ॥४०॥

अन्वयार्थः—[तत्तो णीसरिदूणं] उस नरकसे निकल कर [बहुवियप्पेसु तिरएसु जायदि] अनेक भेदवाले तिर्यचोमे उत्पन्न होता है [तत्थ वि गब्भे दुःखं पावदि] वहा भी गर्भमे दु ख पाता है [वि य छेयणादीयं] अपि शब्दसे सम्मूर्च्छन होकर छेदनादिकका दु.ख पाता है ।

तिरिएहिंखज्जमाणो, दुट्ठमणुस्सेहिं हण्णमाणो वि ।
सव्वत्थ वि संतट्ठो, भय-दुक्खं विसहदे भीमं ॥४१॥

अन्वयार्थः—(उस तिर्यचगतिमे यह जीव) [तिरिएहिं खज्जमाणो] सिहव्याघ्रादिकसे खाये जानेका [वि दुट्ठमणुस्सेहिं हण्णमाणो] तथा दुष्ट मनुष्य, म्लेच्छ व्याध धीवरादिकसे मारे जानेका [सव्वत्थ वि संतट्ठो] सब जगह दु खी होता हुआ [भीमं भयदुक्खं विसहदे] रौद्र भयानक दुःखको विशेषरूपसे सहता है ।

अण्णोण्णं खज्जंता, तिरिया पावंति दारुणं दुक्खं ।
माया वि जत्थ भक्खदि, अण्णो को तत्थ रक्खेदि ॥४२॥

अन्वयार्थः—(जिस तिर्यंचगतिमें) [तिरिया अण्णोण्णं खज्जंता] यह तिर्यंच (जीव) परस्परमें खाये जानेका [दारुणं दुक्खं पावंति] उत्कृष्ट दुःख पाता है

* [यहाँ एक समयकी भूलके फलरूप महान दु.ख दण्डको]

[जत्थ माया वि भक्खदि] जहां जिसके गर्भमे उत्पन्न हुआ ऐसी माता भी भक्षण कर जाती है [तत्थ अण्णो को रक्खेदि] वहा दूसरा कौन रक्षा करे ?

तिव्व-तिसाए तिसिदो, तिव्व-विभुक्खाइ भुक्खिदो संतो ।
तिव्वं पावदि दुक्खं, उयर-हुयासेण डज्झंतो ॥४३॥

अन्वयार्थः—(उस तिर्यचगतिमे यह जीव) [तिव्वतिसाए तिसिदो] तीव्र प्याससे प्यासा [तिव्वविभुक्खाइ भुक्खिदो संतो] तीव्र भूखसे भूखा होता हुआ [उयरहुयासेण डज्झंतो] उदराग्निसे जलता हुआ [तिव्वं दुक्खं पावदि] तीव्र दु ख पाता है ।

अब इसका सकोच करते है—

एवं बहुप्पयारं, दुक्खं विसहेदि तिरियजोणीसु ।
तत्तो णीसरदूणं, लद्धि-अपुण्णो णरो होदि ॥४४॥

अन्वयार्थः—[एवं] ऐसे (पूर्वोक्तप्रकार) [तिरियजोणीसु] तिर्यचयोनिमे (जीव) [बहुप्पयारं दुक्खं विसहेदि] अनेक प्रकारके दु ख सहता है [तत्तो णीसरदूणं] उस तिर्यचगतिसे निकल कर [लद्धिअपुण्णो णरो होदि] लब्धि–अपर्याप्त (जहा पर्याप्ति पूरी ही नही होती) मनुष्य होता है ।

अब मनुष्यगतिके दुःख बारह गाथाओमे कहते है सो प्रथम ही गर्भमे उत्पन्न होनेकी अवस्था बतलाते है ।

अह गब्भे वि य जायदि, तत्थ वि णिवड़ीकयंगपच्चंगो ।
विसहदि तिव्वं दुक्खं, णिग्गममाणो वि जोणीदो ॥४५॥

अन्वयार्थः—[अह गब्भे वि य जायदि] अथवा गर्भमे भी उत्पन्न होता है तो [तत्थ वि णिवड़ीकयंगपच्चंगो] वहा भी सिकुड रहे है हाथ, पैर आदि अग तथा उ ंगली आदि प्रत्यग जिसके, ऐसा होता हुआ तथा [जोणीदो णिग्गममाणो वि] योनिसे निकलते समय भी [तिव्वं दुक्खं विसहदि] तीव्र दु.खको सहता है ।

फिर कैसा होता है सो कहते है—

बालोपि पियरचत्तो, परउच्छिट्ठेण बड्ढदे दुहिदो ।
एवं जायण-सीलो, गमेदि कालं महादुक्खं ॥४६॥

अन्वयार्थः—[बालोपि पियरचत्तो परउच्छिट्ठेण बड्ढदे दुहिदो] (गर्भसे निकलनेके बादमे) बाल अवस्थामें ही माता पिता मर जांय तब दूसरोकी झूठनसे बडा हुआ [एवं जायणसीलो महादुक्खं कालं गमेदि] इस तरह भीख मांग मांग कर उदरपूर्ति करके महादु.खी होता हुआ काल बिताता है ।

अब कहते है कि यह पापका फल है—

पावेण जणो एसो, दुक्कम्म-वसेन जायदे सव्वो ।
पुणरवि करेदि पावं, ण य पुण्णं को वि अज्जेदि ॥४७॥

अन्वयार्थः—[एसो सव्वो जणो पावेण दुकम्मवसेन जायदे] ये लौकिक जन सबही पापके उदयसे असाता वेदनीय, नीच गोत्र, अशुभनाम आयु आदि दुष्कर्मके वशसे ऐसे दुःख सहता है [पुणरवि पावं करेदि] तो भी फिर पाप ही करता है [ण य पुण्णं को वि अज्जेदि] पूजा, दान, व्रत, तप ध्यानादि लक्षण पुण्यको पैदा नही करता है, यह बड़ा अज्ञान है ।

विरलो अज्जदि पुण्णं, सम्मादिट्ठी वएहिं संजुत्तो ।
उवसमभावे सहियो, णिंदणगरहाहि संजुत्तो ॥४८॥

अन्वयार्थः—[सम्मादिट्ठी वएहिं संजुत्तो] सम्यग्दृष्टि कहिये यथार्थश्रद्धावान् और मुनि श्रावकके व्रतोसे सयुक्त [उवसमभावे सहियो] उपशम भाव कहिये मन्द कषायरूप परिणाम सहित [णिंदणगरहाहि संजुत्तो] निदन कहिये अपने दोष याद कर पश्चात्ताप करना, गर्हण कहिये अपने दोष गुरुके पास जाकर प्रकट करना इन दोनोसे युक्त [विरलो पुण्णं अज्जदि] विरला ही ऐसा जोव है जो पुण्य प्रकृतियोंका बन्ध करता है ।

अब कहते है कि पुण्यवान्के भी इष्ट वियोगादि देखे जाते है—

पुण्णजुदस्स वि दीसइ, इट्ठविओयं अणिट्ठसंजोयं ।
भरहो वि साहिमाणो, परिज्जिओ लहुय-भायेण ॥४९॥

अन्वयार्थः—[पुण्णजुदस्स वि इट्ठविओयं अणिट्ठसंजोयं दीसइ] पुण्य उदय सहित पुरुषके भी इष्टवियोग, अनिष्टसयोग देखा जाता है [साहिमाणो भरहो वि लहुय परिज्जिओ] अभिमान सहित भरत चक्रवर्ती भी छोटे भाई बहु

भावार्थः—कोई समझता होगा कि जिनके बडा पुण्यका उदय है उनके तो सुख है सो संसारमे तो सुख किसीके भी नही है। भरत चक्रवर्ती जैसे भी अपमानादिसे दुःखी ही हुए तो औरोकी क्या बात ?

आगे इसी अर्थको दृढ करते है—

सयलट्ठ विसह-जोओ, बहुपुराणस्स वि ण सव्वहा होदि ।
तं पुराणं पि ण कस्स वि, सव्वं जेणिच्छिदं लहदि ॥५०॥

अन्वयार्थः—(इस ससारमें) [सयलट्ठविसहजोओ] समस्त जो पदार्थ, वे ही हुए विषय कहिये भोग्य वस्तु, उनका योग [बहुपुण्णस्स वि ण सव्वहा होदि] बड़े पुण्यवानोंको भी पूर्णरूपसे नही मिलता है [तं पुण्णं पि ण कस्स वि] ऐसा पुण्य किसीके भी नही है [जे सव्वं णिच्छिदं लहदि] जिससे सब ही मनवाछित मिल जाय ।

भावार्थः—बड़े पुण्यवान्के भी वाछित वस्तुमें कुछ कमी रह ही जाती है, सब मनोरथ तो किसीके भी पूरे नही होते है तब सर्वसुखी कैसे होवे ?

कस्स वि णत्थि कलत्तं, अहव कलत्तं ण पुत्त-संपत्ती ।
अह तेसिं संपत्ती, तह वि सरोओ हवे देहो ॥५१॥

अन्वयार्थः—[कस्स वि कलत्तं णत्थि] किसी मनुष्यके तो स्त्री नही है [अहव कलत्तं पुत्तसंपत्ती ण] किसीके यदि स्त्री है तो पुत्रकी प्राप्ति नही है [अह तेसिं संपत्ती] किसीके पुत्रकी प्राप्ति है [तह वि सरोओ हवे देहो] तो शरीर रोग सहित है ।

अह णीरोओ देहो, तो धण-धरणाण णेय सम्पत्ति ।
अह धण-धरणं होदि हु, तो मदणं झत्ति ढुक्केइ ॥५२॥

अन्वयार्थः—[अह णीरोओ देहो] यदि किसीके नीरोग शरीर भी हो [तो धणधण्णाण णेय सम्पत्ति] तो धनधान्यकी प्राप्ति नही है [अह धणधण्णं होदि हु] यदि धन धान्यकी भी प्राप्ति हो जाय [तो मरणं झत्ति ढुक्केइ] तो शीघ्र मरण हो जाता है ।

कस्स वि दुट्ठ-कलत्तं, कस्स वि दुव्वसण-वसणिओ पुत्तो ।
कस्स वि अरिसमबंधू, कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया ॥५३॥

अन्वयार्थः—(इस मनुष्यभवमें) [कस्स वि दुट्ठकलत्तं] किसीके तो स्त्री दुराचारिणी है [कस्स वि दुव्वसणवसणिओ पुत्तो] किसीका पुत्र जुआ आदि दुर्व्यसनोंमें रत है [कस्स वि अरिसमबंधू] किसीके शत्रुके समान कलही* भाई है [कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया] किसीके पुत्री दुराचारिणी है ।

कस्स वि मरदि सुपुत्तो, कस्स वि महिला विणस्सदे इट्ठा ।
कस्स वि अग्गिपलित्तं, गिहं कुडंबं च डज्झेइ ॥५४॥

अन्वयार्थः—[कस्स वि सुपुत्तो मरदि] किसीका सुपुत्र मर जाता है [कस्स वि इट्ठा महिला विणस्सदे] किसीके इष्ट (प्यारी) स्त्री मर जाती है [कस्स वि अग्गिपलित्तं गिहं च कुडंबं डज्झेइ] किसीके घर और कुटुम्ब सब ही अग्निसे जल जाते हैं ।

एवं मणुयगदीए णाणा दुक्खाइं विसहमाणो वि ।
ण वि धम्मे कुणदि मइं, आरम्भं णेय परिचयइ ॥५५॥

अन्वयार्थः—[एवं मणुयगदीए] इस तरह मनुष्यगतिमे [णाणा दुक्खाइं] अनेक प्रकारके दु.खोको [विसहमाणो वि] सहता हुआ भी (यह जीव) [धम्मे मइं ण वि कुणदि] धर्माचरणमे बुद्धि नही करता है [आरंभं णेय परिचयइ] (और) पापारभको नही छोड़ता है ।

सधणो वि होदि णिधणो, धण-हीणो तह य ईसरो होदि ।
राया वि होदि भिच्चो, भिच्चो वि य होदि णर णाहो ॥५६॥

अन्वयार्थः—[सधणो वि होदि णिधणो] धन सहित तो निर्धन हो जाता है [तह य धणहीणो ईसरो होदि] वैसे ही जो धन रहित होता है सो ईश्वर (धनी) हो जाता है [राया वि भिच्चो होदि] राजा भी किंकर (नौकर) हो जाता है [य भिच्चो वि णरणाहो होदि] और जो किंकर होता है सो राजा हो जाता है ।

सत्तू वि होदि मित्तो, मित्तो वि य जायदे तहा सत्तू ।
कम्म-विवाय-वसादो, एसो संसार-सब्भावो ॥५७॥

---

* कलही = कलह (लड़ाई) करनेवाला ।

अन्वयार्थः—[कम्मविवायवसादो] कर्म विपाकके वशसे [सत्तू वि मित्तो होदि] शत्रु भी मित्र हो जाता है [तहा मित्तो वि य सत्तू जायदे] और मित्र भी शत्रु हो जाता है [एसो संसारसब्भावो] ऐसा ससारका स्वभाव है।

भावार्थः—पुण्यकर्मके उदयसे शत्रु भी मित्र हो जाता है और पाप कर्मके उदयसे मित्र भी शत्रु हो जाता है।

अब देवगतिका स्वरूप कहते हैं—

अह कहवि हवदि देवो, तस्स य जायेदि माणसं दुक्खं।
दट्ठूण महड्ढीणं, देवाणं रिद्धिसंपत्ती ॥५८॥

अन्वयार्थः—[अह कहवि देवो हवदि] अथवा बड़े कष्टसे देव भी होता है तो [तस्स] उसके [महड्ढीणं देवाणं] बड़े ऋद्धिधारक देवोकी [रिद्धिसंपत्तीदट्ठूण] ऋद्धि सम्पत्तिको देखकर [माणसं दुक्खं जायेदि] मानसिक दुःख उत्पन्न होता है।

इट्ठविओगं दुक्खं, होदि महड्ढीण विसय-तण्हादो।
विसयवसादो सुक्खं, जेसिं तेसिं कुतो तित्ती ॥५९॥

अन्वयार्थः—[विसयतण्हादो] विषयोकी तृष्णासे [महड्ढीण] महर्द्धिक देवोको भी [इट्ठविओगं दुक्खं होदि] इष्ट (ऋद्धि, देवागना आदि) वियोगका दु ख होता है [जेसिं विसयवसादो सुक्खं] जिनके विषयोके आधीन सुख है [तेसिं कुतो तित्ती] उनके कैसे तृप्ति होवे ? तृष्णा बधती ही रहे।

अब शारीरिक दुःखसे मानसिक दुःख बड़ा है ऐसा कहते है—

सारीरियदुक्खादो, माणसदुक्खं हवेइ अइपउरं।
माणसदुक्खजुदस्स हि, विसया वि दुहावहा हुंति ॥६०॥

अन्वयार्थः—(कोई समझता होगा कि शरीरसम्बन्धी दु ख बड़ा है, मानसिक दु ख तुच्छ है, उसको समझाते है) [सारीरियदुक्खादो] शारीरिक दु खसे [माणमदुक्खं] मानसिक दु ख [अइपउरं हवेइ] अतिप्रचुर (बहुत ज्यादा) है (कई गुना बढकर होता है) [माणसदुक्खजुदस्स हि] (देखो !) मानसिक दु ख सहित

पुरुषके [विसया वि दुहावहा हुँति] अन्य विषय बहुत भी होवें तो भी वे उसको दुःखदाई ही दिखते हैं।

भावार्थः—मानसिक चिन्ता होती है तब सब ही सामग्री दु.खरूप दिखाई देती है।

देवाणं पि य सुक्खं, मणहरविसएहिं कीरदे जदि ही।
विषयवसं जं सुक्खं, दुक्खस्स वि कारणं तं पि ॥६१॥

अन्वयार्थः—[जदि ही देवाणं पिय मणहरविसएहिं सुक्खं कीरदे] यदि देवोके मनोहर विषयोसे सुख समझा जावे तो सुख नही है [जं विषयवसं सुक्खं] जो विषयोके आधीन सुख है [तं पि दुक्खस्स वि कारणं] वह दु.खहीका कारण है।

भावार्थः—अन्य निमित्तसे सुख मानते है सो भ्रम है, जिस वस्तुको सुखका कारण मानते है वह ही वस्तु कालान्तरमे (कुछ समय बाद) दुःखका कारण हो जाती है।

अब कहते है कि इस तरह विचार करने पर कही भी सुख नही है—

एवं सुट्ठु–असारे, संसारे दुक्खसायरे घोरे।
किं कत्थ वि अत्थि सुहं, वियारमाणं सुणिच्चयदो ॥६२॥

अन्वयार्थः—[एवं सुट्ठु-असारे] इस तरह सब प्रकारसे असार [दुक्खसायरे घोरे संसारे] दुःखके सागर भयानक संसारमें [सुणिच्चयदो वियारमाणं] निश्चयसे विचार किया जाय तो [किं कत्थ वि सुहं अत्थि] क्या कही भी कुछ सुख है ? अर्थात् नही है।

भावार्थः—चारगतिरूप ससार है और चारो ही गतियां दुःखरूप हैं तब सुख कहां ?

अब कहते हे कि यह जीव पर्यायबुद्धि है जिस योनिमें उत्पन्न होता है वही सुख मान लेता है—

दुक्कियकम्मवसादो, राया वि य असुइकीडओ होदि।
तत्थेव य कुणइ रइं, पेक्खह मोहस्स माहप्पं ॥६३॥

अन्वयार्थः—[मोहस्स माहप्पं पेक्खह] (हे प्राणियों ! तुम) मोहके माहात्म्यको देखो कि [दुक्कियकम्मवसादो] पापकर्मके वशसे [राया वि य असुइकीडओ होदि] राजा भी (मरकर) विष्ठाका कीडा हो जाता है [य तत्थेव रइं कुणइ] और वही पर रति (प्रेम) मानता है, क्रीडा करता है ।

अब कहते है कि इस प्राणीके एक ही भवमे अनेक सम्बन्ध हो जाते है—

पुत्तो वि भाओ जाओ, सो वि य भाओ वि देवरो होदि ।
माया होइ सवत्ती, जणणो वि य होइ भत्तारो ॥६४॥
एयम्मि भवे एदे, सम्बन्धा होंति एय जीवस्स ।
अण्णभवे किं भण्णइ, जीवाणं धम्मरहिदाणं ॥६५॥

अन्वयार्थः—[एयजीवस्स] एक जीवके [एयम्मि भवे] एक भवमे [एदे सम्बन्धा होंति] इतने सम्बन्धी होते है तो [धम्मरहिदाणं जीवाणं] धर्मरहित जीवोके [अण्णभवे किं भण्णइ] अन्यभवमे क्या कहना ? (वे सम्बन्धी कौन कौन ? सो कहते है) [पुत्तो वि भाओ जाओ] पुत्र तो भाई हुआ [य सो वि भाओ देवरो होदि] और जो भाई था वह ही देवर हुआ । [माया होइ सवत्ती] माता थी वह सौत हुई [य जणणो वि भत्तारो होइ] और पिता था सो पति हुआ ।

ये सब सम्बन्ध वसन्ततिलका वेश्या, धनदेव, कमला और वरुणके हुए । इनकी कथा दूसरे ग्रन्थसे लिखी जाती है:—

एक भवमें अठारह नातेकी कथा

मालवदेशकी उज्जयिनी नगरीमे राजा विश्वसेन राज्य करता था । वहा सुदत्त नामका सेठ रहता था । वह सोलह करोड द्रव्यका स्वामी था । वह सेठ वसन्ततिलका नामकी वेश्यामे आसक्त हो गया और उसने उसको अपने घरमे रख ली । जब वह गर्भवती हुई तब उसका शरीर रोगसहित हो गया इसलिये सेठने उस वेश्याको अपने घरमे से निकाल दिया । वसन्ततिलका ने अपने घरमे ही पुत्र पुत्रीके युगलको जन्म दिया । उसने खेद खिन्न होकर उन दोनो बालकोको अलग अलग रत्न कम्बलमे लपेट कर पुत्रीको तो दक्षिण दरवाजे पर छोड दी । वहासे उस कन्याको प्रयाग निवासी बिणजारेने लेकर अपनी स्त्रीको सौप दी और उसका नाम कमला रखा ।

पुत्रको उत्तर दिशाके दरवाजे पर छोड़ दिया। वहांसे उसको साकेतपुरके एक सुभद्र नामके विणजारेने उठाकर अपनी सुव्रताको सौंप दिया और उसका नाम धनदेव रक्खा। पूर्वोपार्जित कर्मके वशसे धनदेवका कमलाके साथ विवाह हुआ। पति पत्नि हुए। बादमें धनदेव व्यापारके लिये उज्जयनी नगरीमें गया। वह वहां वसन्ततिलका वेश्या पर मोहित हो गया। उसके संयोगसे वसन्ततिलकाके पुत्र हुआ, जिसका नाम 'वरुण' रक्खा गया। फिर एक दिन कमलाने सम्बन्ध पूछे। मुनिराजने इनके सब सम्बन्ध बतलाये।

इनके पूर्वभवका वर्णन

इसी उज्जयनी नगरीमे सोमशर्मा नामका ब्राह्मण रहता था। उसके काश्यपी नामकी स्त्री थी। उनके अग्निभूत सोमभूत नामके दो पुत्र हुए। वे दोनो कहीसे पढ़कर आते थे। उन्होंने मार्गमें जिनदत्तमुनिसे उनकी माताको जो जिनमती नामकी आर्यिका थी, उनका शरीर समाधान (कुशलता) पूछते हुए देखो और जिनभद्र नामक मुनिको सुभद्रा नामक आर्यिका जो उनकी पुत्रवधू थी सो शरीर समाधान पूछती देखी। वहां उन दोनो भाइयोंने हंसी की कि तरुणके तो वृद्धा स्त्री और वृद्धके तरुणी स्त्री है परमेश्वरने विपरीत योग मिलाया। इसप्रकारकी हंसीके पापसे सोमशर्मा तो वसन्ततिलका हुई और अग्निभूत सोमभूत दोनों भाई मरकर वसन्ततिलकाके पुत्र पुत्री युगल हुए। उनके कमला और धनदेव नाम रक्खे गये। काश्यपी ब्राह्मणी, वसन्ततिलकाके धनदेवके संयोगसे वरुण नामका पुत्र हुआ। इस तरह सब सम्बन्धोंको सुननेसे कमलाको जातिस्मरण हो गया। तब वह उज्जयिनी नगरीमें वसन्ततिलकाके घर गई। वहां वरुण पालने (झूले) मे झूल रहा था। उसे देखकर कमला कहने लगी कि हे बालक! तेरे साथ मेरे छह नाते हैं सो सुन—

१—मेरा पति धनदेव, उसके संयोगसे तू हुआ इसलिये मेरा भी तू (सौतेला) पुत्र है।

२—धनदेव मेरा सगा भाई है, उसका तू पुत्र है इसलिये मेरा भतीजा भी है।

३—तेरी माता वसंततिलका, वह ही मेरी माता है इसलिये तू मेरा भाई भी है।

४—तू मेरे पति धनदेवका छोटा भाई है इसलिये मेरा देवर भी है।

५––धनदेव, मेरी माता वसततिलकाका पति है इसलिये धनदेव मेरा पिता हुआ, उसका तू छोटा भाई है इसलिये तू मेरा काका (चाचा) भी है।

६––मैं वसन्ततिलकाकी सौत इसलिये धनदेव मेरा (सोतेला) पुत्र हुआ उसका तू पुत्र इसलिये मेरा पोता भी है।

इसप्रकार वह वरुणके साथ छह नाते कह रही थी कि वहां वसन्ततिलका आ गई और कमलासे बोली कि तू कौन है जो मेरे पुत्रको इस तरह छह नाते सुनाती है ? तब कमला बोली कि तेरे साथ भी मेरे छह नाते है सो सुन––

१––पहिले तो तू मेरी माता है क्योंकि धनदेवके साथ तेरे ही उदरसे (पेटसे) उत्पन्न हुई हूँ।

२––धनदेव मेरा भाई है। तू उसकी स्त्री है इसलिये मेरी भावज (भोजाई) है।

३––तू मेरी माता है। तेरा पति धनदेव मेरा पिता हुआ। उसकी तू माता है। इसलिये मेरी दादी है।

४––मेरा पति धनदेव है। तू उसकी स्त्री है। इसलिये मेरी सौत भी है।

५––धनदेव तेरा पुत्र सो मेरा भी (सोतेला) पुत्र हुआ। तू उसकी स्त्री है इसलिये तू मेरी पुत्रवधू भी है।

६––मै धनदेवकी स्त्री हूँ। तू धनदेवकी माता है। इसलिये तू मेरी सास भी है।

इस प्रकार वेश्या छह नाते सुनकर चिन्तामे विचार कर रही थी कि वहां धनदेव आ गया। उसको देखकर कमला बोली कि तुम्हारे साथ भी हमारे छह नाते है सो सुनिये––

१––पहिले तो तू और मैं इसी वेश्याके उदरसे साथ साथ उत्पन्न हुए सो तू मेरा भाई है।

२––बादमे तेरा मेरा विवाह हो गया सो तू मेरा पति है।

३––वसन्ततिलका मेरी माता है, उसका तू पति है इसलिये मेरा पिता भी है।

४––वरुण तेरा छोटा भाई सो मेरा काका हुआ। उसका तू पिता है इसलिये काका का पिता होनेसे मेरा तू दादा भी हुआ।

५—मैं वसंततिलकाकी सौत और तू मेरी सौतका पुत्र इसलिये मेरा भी तू पुत्र है ।

६—तू मेरा पति है इसलिये तेरी माता वेश्या मेरी सास हुई । तुम सासके पति हो इसलिये मेरे ससुर भी हुए ।

❋ इस तरह एक ही भवमे एक ही प्राणीके अठारह नाते हुए । उसका उदाहरण कहा गया है । यह ससारकी विचित्र विडम्बना है । इसमे कुछ भी आश्चर्य नही है ।

अब पाच प्रकारके ससारके नाम कहते है—

संसारो पंचविहो, दव्वे खत्ते तहेव काले य ।
भवभमणो य चउत्थो, पंचमओ भावसंसारो ॥६६॥

अन्वयार्थः—[संसारो पंचविहो] ससार (परिभ्रमण) पांच प्रकारका है [दव्वे] १ द्रव्य (पुद्गल द्रव्यमे ग्रहणत्यजनरूप परिभ्रमण) [खत्ते] २ क्षेत्र (आकाशके प्रदेशोमे स्पर्श करने रूप परिभ्रमण) [य तहेव काले] ३ काल (कालके समयोमे उत्पन्न होने नष्ट होने रूप परिभ्रमण) [भवभमणो य चउत्थो] ४ भव (नारकादि भवका ग्रहण त्यजनरूप परिभ्रमण) [पंचमओ भावसंसारो] ५ भाव (अपने कषाययोगोके स्थानकरूप जे भेद उनका पलटनेरूप परिभ्रमण) इस तरह पांच प्रकारका ससार जानना चाहिये ।

अब इनका स्वप्न कहते है, पहिले द्रव्यपरिवर्त्तनको बतलाते है—

बंधदि मुंचदि जीवो, पडिसमयं कम्मपुग्गला विविहा ।
णोकम्मपुग्गला वि य, मिच्छत्तकषायसंजुत्तो ॥६७॥

❋ यह अठारह नातेकी कथा ग्रन्थान्तरसे लिखी गई है यथा—

बालय हि सुणि सुवयण, तुज्झ सरिसा हि अट्ठ दहणत्ता ।
पुत्तु भतिज्जउ भायउ, देवरु पत्तिय हु पौतज्ज ॥१॥
तुहु पियरो मुहुपियरो, पियामहो तहय हवइ भत्तारो ।
भायउ तहावि पुत्तो, ससुरो हवइ बालयो मज्झ ॥२॥
तुहु जणणी हुइ भज्जा, पियामही तह य मायरी सवई ।
हवइ बहू तह सासू, ए कहिया अट्ठदहणत्ता ॥३॥

अन्वयार्थः—[जीवो] यह जीव [विविहा कम्मपुग्गला णोकम्मपुग्गला वि य] (इस लोकमे भरे हुए) अनेक प्रकारके पुद्गल जो ज्ञानावरणादि कर्मरूप तथा औदारिकादि शरीर नोकर्मरूप है उनको [पडिसमयं] समय समय प्रति [मिच्छत्त-कषायसंजुत्तो] मिथ्यात्व कषाय सहित होता हुआ [बंधदि मुंचदि] बाधता है और छोडता है ।

भावार्थः—मिथ्यात्व कषायके वशसे, ज्ञानावरणादि कर्मोका समयप्रबद्ध–अभव्यराशिसे अनन्तगुणा सिद्धराशिके अनन्तवें भाग पुद्गलपरमाणुओका स्कन्धरूप कार्माणवर्गणाको समयसमयप्रति ग्रहण करता है । जो पहिले ग्रहण किये थे वे सत्तामें है, उनमेसे इतने ही समयसमय नष्ट होते है । वैसे ही औदारिकादि शरीरोका समयप्रबद्ध[1], शरीरग्रहणके समयसे लगाकर आयुकी स्थितिपर्यंत ग्रहण करता है वा छोडता है । इस तरह अनादि कालसे लेकर अनन्तबार ग्रहण करना और छोड़ना होता है । वहा एक परिवर्तनके प्रारम्भमे प्रथमसमयके समयप्रबद्धमे जितने जितने पुद्गल परमाणु जैसे स्निग्ध रूक्ष वर्ण गन्ध रूप रस तीव्र मन्द मध्यम भावसे ग्रहण किये हों उतने ही वैसे ही कोई समयमे फिरसे ग्रहण करनेमे आवे तब एक कर्म परावर्त्तन तथा नोकर्मपरावर्त्तन होता है । मध्यमे अनन्तबार और भांतिके परमाणु ग्रहण होते है वे नही गिने जाते है । वैसेके वैसे फिरसे ग्रहण करनेको अनन्तकाल बीत जाय उसको एक द्रव्य परावर्त्तन कहते है । इस तरहके इस जीवने इस लोकमे अनन्त परावर्त्तन किये है ।

अब क्षेत्रपरिवर्त्तनको कहते है—

सो को वि णत्थि देसो, लोयायासस्स णिरवसेसस्स ।
जत्थ ण सव्वो जीवो, जादो मरिदो य बहुवारं ॥६८॥

अन्वयार्थः—[णिरवसेसस्स लोयायासस्स] समस्त लोकाकाशके प्रदेशोमे [सो को वि देसो णत्थि] ऐसा कोई भी प्रदेश नही है [जत्थ सव्वो जीवो] जिसमे ये सब ही ससारी जीव [बहुवार जादो य मरिदो ण] कई बार उत्पन्न न हुए हो तथा मरे न हो ।

---

१ समयप्रबद्ध=एक समयमे जितने कर्मपरमाणु और नोकर्म परमाणु बधे, उन सवको समयप्रबद्ध कहते है ।

भावार्थः—समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंमें यह जीव अनन्तबार तो उत्पन्न हुआ और अनन्तबार ही मरणको प्राप्त हुआ। ऐसा प्रदेश रहा ही नही जिसमे उत्पन्न नही हुआ हो और मरा भी न हो।

लोकाकाशके असख्यात प्रदेश है। उसके मध्यके आठ प्रदेशोंको बीचमें देकर, सूक्ष्मनिगोदलब्धिअपर्याप्तक जघन्य अवगाहनका धारी वहा उत्पन्न होता है। उसकी अवगाहना भी असख्यात प्रदेश है इस तरह जितने प्रदेश उतनी बार तो वह ही अवगाहना वहां ही पाता है। मध्यमे और जगह अन्य अवगाहनासे उत्पन्न होता है उसकी तो गिनती ही नही है। बादमे एक एक प्रदेश क्रमसे बढ़ती हुई अवगाहना पाता है सो गिनतीमे है, इस तरह महामच्छ तकको उत्कृष्ट अवगाहनाको पूरी करता है। वैसे ही क्रमसे लोकाकाशके प्रदेशोका स्पर्श करता है तब एक क्षेत्र परावर्त्तन होता है।

अब काल परिवर्त्तनको कहते है—

उवसप्पिणिअवसप्पिणि, पढमसमयादिचरमसमयंतं।
जीवो कमेण जम्मदि, मरदि य सव्वेसु कालेसु ॥६९॥

अन्वयार्थः—[**उवसप्पिणिअवसप्पिणि**] उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके [**पढमसमयादिचरमसमयंतं**] पहिले समयसे लगाकार अन्तके समय तक [**जीवो कमेण**] यह जीव अनुक्रमसे [**सव्वेसु कालेसु**] सबही कालोमे [**जम्मदि य मरदि**] उत्पन्न होता है तथा मरता है।

भावार्थः—कोई जीव दस कोडाकोड़ी सागरके उत्सर्पिणी कालके पहिले समयमें जन्म पावे, बादमे दूसरे उत्सर्पिणोके दूसरे समयमे जन्म पावे, इसी तरह तीसरेके तीसरे समयमे जन्म पावे, ऐसे ही अनुक्रमसे अन्तके समयतक जन्म पाता रहे, बीचबीचमे अन्यसमयोमे बिना अनुक्रमके जन्म पावे सो गिनतीमे नही है। इसी तरह अवसर्पिणीके दस कोड़ाकोड़ी सागरके समय पूरे करे तथा ऐसे ही मरे। इस तरह यह अनन्तकाल होता है उसको एक कालपरावर्त्तन कहते है—

अब भव परिवर्त्तनको कहते है—

णेरइयादिगदीणं, अवर-ट्ठिदो वरट्ठिदी जाव।
सव्वट्ठिदिसु वि जम्मदि, जीवो गेवेज्जपज्जंतं ॥७०॥

अन्वयार्थः—[जीवो] ससारी जीव [णेरइयादिगदीणं] नरकादि चार गतियोकी [अवरट्ठिदो] जघन्य स्थितिसे लगाकर [वरट्ठिदी जाव] उत्कृष्ट स्थिति पर्यंत (तक) [सव्वट्ठिदिसु] सब अवस्थाओमे [गेवेज्जपज्जंतं] ग्रैवेयक पर्यन्त [जम्मदि] जन्म पाता है।

भावार्थः—नरकगतिकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्षकी है इसके जितने समय है उतनी बार तो जघन्यस्थितिकी आयु लेकर जन्म पावे, बादमे एक समय अधिक आयु लेकर जन्म पावे। बादमे दो समय अधिक आयु लेकर जन्म पावे। ऐसे ही अनुक्रमसे तेतीस सागर पर्यन्त आयु पूर्ण करे, बीचबीचमे घट बढकर आयु लेकर जन्म पावे वह गिनतीमे नही है। इस तरह तिर्यच गतिकी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त्त, उसके जितने समय है उतनी बार जघन्य आयुका धारक होवे बादमे एक समय अधिक क्रमसे तीन पल्य पूर्ण करे, बीचमे घट बढकर आयु लेकर जन्म पावे वह गिनतीमे नही है। इसी तरह मनुष्यकी जघन्यसे लगाकर उत्कृष्ट तीन पल्य पूर्ण करे। इसी तरह देवगतिकी जघन्य दस हजार वर्षसे लगाकर ग्रैवेयकके उत्कृष्ट इकतीस सागर तक समय–अधिक–क्रमसे पूर्ण करे। ग्रैवेयकके आगे उत्पन्न होनेवाला एक दो भव लेकर मोक्ष ही जावे इसलिये उसको गिनतीमे नही लाये। इस तरह इस भवपरावर्त्तनका अनन्त काल है।

अब भावपरिवर्त्तनको कहते है—

परिणमदि सण्णिजीवो, विविहकसाएहि ट्ठिदिणिमित्तेहिं।
अणुभागणिमित्तेहिं य, वट्टंतो भावसंसारे ॥७१॥

अन्वयार्थः—[भावसंसारे वट्टन्तो] भावससारमे वर्तता हुआ जीव [ट्ठिदिणिमित्तेहिं] अनेक प्रकार कर्मकी स्थितिबन्धको कारण [य अणुभागणिमित्तेहिं] और अनुभागबन्धको कारण [विविहकसाएहिं] अनेक प्रकारके कषायोसे [सण्णिजीवो] सैनी पचेन्द्रिय जीव [परिणमदि] परिणमता है।

भावार्थः—कर्मकी एक स्थितिबन्धको कारण कषायोके स्थान असख्यात लोकप्रमाण है, उसमे एक स्थितिबन्धस्थानमे अनुभागबन्धको कारण कषायोके स्थान असख्यात लोकप्रमाण है। जो योग्य स्थान है वे जगत्श्रेणीके असख्यातवे भाग है। यह जीव उनका परिवर्त्तन करता है। सो किसतरह ? कोई सैनी मिथ्यादृष्टि

पर्याप्तकजीव स्वयोग्य सर्व जघन्य ज्ञानावरण प्रकृतिकी स्थिति अन्त:कोटाकोटीसागर प्रमाण बांधता है । उसके कषायोके स्थान असंख्यात लोकमात्र है । उसमे सब जघन्य-स्थान एकरूप परिणमते है, उसमे उस एक स्थानमे अनुभागबन्धके कारण स्थान ऐसे असख्यातलोकप्रमाण है । उनमें से एक सर्वजघन्यरूप परिणमता है, वहा उस योग्य सर्वजघन्य ही योगस्थानरूप परिणमते है, तब जगत्श्रेणीके असंख्यातवे भाग योगस्थान अनुक्रमसे पूर्ण करता है । बीचमे अन्य योगस्थानरूप परिणमता है वह गिनतीमे नही है । इस तरह योगस्थान पूर्ण होने पर अनुभागका स्थान दूसरारूप परिणमता है, वहां भी वैसे ही योगस्थान सब पूर्ण करता है ।

तीसरा अनुभागस्थान होता है वहा भी उतने ही योगस्थान भोगे । इस तरह असख्यातलोकप्रमाण अनुभागस्थान अनुक्रमसे पूर्ण करे तब दूसरा कषायस्थान लेना चाहिए । वहा भी वैसे ही क्रमसे असख्यातलोकप्रमाण अनुभागस्थान तथा जगत्श्रेणीके असख्यातवे भाग योगस्थान पूर्वोक्त क्रमसे भोगे तब तीसरा कषायस्थान लेना चाहिये । इस तरहसे ही चतुर्थादि असख्यात लोकप्रमाण कषायस्थान पूर्वोक्त क्रमसे पूर्ण करे, तब एकसमय अधिक जघन्यस्थिति स्थान लेना चाहिये, उसमें भी कषायस्थान अनुभागस्थान योगस्थान पूर्वोक्त क्रमसे भोगे । इस तरह दो समय अधिक जघन्यस्थितिसे लगाकर तीस कोडाकोडीसागर पर्यत ज्ञानावरणकर्मकी स्थिति पूर्ण करे । इस तरहसे ही सब मूलकर्मप्रकृति तथा उत्तरकर्मप्रकृतियोका क्रम जानना चाहिये । इस तरह परिणमन करते हुए अनन्तकाल व्यतीत हो जाता है, उस सबको इकट्ठा करने पर एक भावपरिवर्त्तन होता है । इस तरहके अनन्त परावर्तन यह जीव※ भोगता आया है ।

अब पचपरावर्त्तनके कथनका सकोच करते है—

एवं अणाइकाले, पंचपयारे भमेइ संसारे ।
णाणादुक्खणिहाणो, जीवो मिच्छत्त-दोसेण ।।७२।।

अन्वयार्थः—[एवं] इस तरह [णाणादुक्खणिहाणो] अनेक प्रकारके दु खोके

※ [अपनी मूर्खताको] ।

निधान [पंचपयारे] पाच प्रकार [संसारे] संसारमे [जीवो] यह जोव [अणाइकालं] अनादिकालसे [मिच्छत्तदोसेण] मिथ्यात्वके दोषसे [भमेइ] भ्रमण करता है ।

अब ससारसे छूटनेका उपदेश करते है—

इय संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊण ।
तं झायह स-सरूवं, संसरणं जेण णासेइ ॥७३॥

अन्वयार्थः—[इय संसारं जाणिय] इस तरह (पहिले कहे अनुसार) ससारको जानकर [सव्वायरेण] सब तरहके प्रयत्नपूर्वक [मोहं] मोहको [चइऊण] छोड़कर (हे भव्यो !) [तं ससरूवं झायह] उस आत्मस्वरूपका ध्यान करो [जेण] जिससे [संसरण] ससार परिभ्रमण [णासेइ] नष्ट हो जावे ।

दोहा

पंचपरावर्त्तनमयी, दुःखरूप संसार ।
मिथ्याकर्म उदै वशे, भरमै जीव अपार ॥३॥

इति ससारानुप्रेक्षा समाप्ता ॥३॥



एकत्वानुप्रेक्षा

इक्को जीवो जायदि, इक्को गब्भम्मि गिह्लदे देहं ।
इक्को बाल जुवाणो, इक्को वुड्ढो जरागहिओ ॥७४॥

अन्वयार्थः—[जीवो] जीव [इक्को] एक ही [जायदि] उत्पन्न होता है [इक्को] वह ही एक [गब्भम्मि] गर्भमे [देहं] देहको [गिह्लदे] ग्रहण करता

है [इक्को बाल जुवाणो] वह ही एक बालक होता है, वह ही एक जवान होता है [इक्को जरागहिओ वुड्ढो] वह ही एक जरासे—बुढ़ापेसे गृहीत वृद्ध होता है ।

भावार्थः—* एक ही जीव इस नाना पर्यायोको धारण करता है ।

इक्को रोई सोई, इक्को तप्पेइ माणसे दुक्खे ।
इक्को मरदि वराओ, णरयदुहं सहदि इक्को वि ॥७५॥

अन्वयार्थः—[इक्को रोई सोई] एक ही जीव रोगी होता है, वह ही एक जीव शोक सहित होता है [इक्को] वह ही एक जीव [माणसे दुक्खे] मानसिक दु.खसे [तप्पेइ] तप्तायमान होता है [इक्को मरदि] वह ही एक जीव मरता है [इक्को वि] वह ही एक जीव [वराओ णरयदुहं सहदि] दीन होकर नरकके दु.ख सहता है ।

भावार्थः—+जीव अकेला ही अनेक अनेक (खोटी) अवस्थाओको धारण करता है ।

इक्को संचदि पुण्णं, इक्को भुञ्जेदि विविहसुरसोक्खं ।
इक्को खवेदि कम्मं, इक्को वि य पावए मोक्खं ॥७६॥

अन्वयार्थः—[इक्को] एक ही जीव [पुण्णं] पुण्यको [संचदि] सञ्चित करता है [इक्को] वह ही एक जीव [विविहसुरसोक्खं] नाना प्रकारके देवगतिके सुख [भुञ्जेदि] भोगता है [इक्को] वह ही एक जीव [कम्मं] कर्मको [खवेदि] नष्ट करता है [इक्को वि य] वह ही एक जीव [मोक्खं] मोक्षको [पावए] पाता है ।

भावार्थः—वह ही जीव पुण्य करके स्वर्ग जाता है, वह ही जीव कर्मोका नाश करके मोक्ष जाता है ।

सुयणो पिच्छंतो वि हु, ण दुक्खलेसंपि सक्कदे गहिदुं ।
एवं जाणंतो वि हु, तो वि ममत्तं ण छंडेइ ॥७७॥

---

* [निज एकत्व निश्चयस्वपदको भूलकर ही]।

+ [निर्मल विज्ञानघनस्वरूपको भूलकर]।

अन्वयार्थः—[सुयणो] स्वजन (कुटुम्बी) भी (जब यह जीव दुःखमें फंस जाता है तब उसको) [पिच्छंतो वि हु] देखता हुआ भी [दुक्खलेसंपि] दु खका लेश भी [गहिदुं] ग्रहण करनेको [ण सक्कदे] समर्थ नही होता है [एवं जाणंतो वि हु] इस तरह प्रत्यक्षरूपसे जानता हुआ भी [ममत्तं ण छंडेइ] कुटुम्बसे ममत्व नही छोडता है ।

भावार्थः—अपना दु ख आप ही भोगता है, कोई बटा नहीं सकता है, यह जीव ऐसा अज्ञानी है कि दु ख सहता हुआ भी※ परके ममत्वको नही छोडता है ।

अब कहते है कि इस जीवके निश्चयसे धर्म ही स्वजन है—

जीवस्स णिच्चयादो, धम्मो दहलक्खणो हवे सुयणो ।
सो णेइ देवलोए, सो चिय दुक्खक्खयं कुणइ ॥७८॥

अन्वयार्थः—[जीवस्स] इस जीवके [सुयणो] अपना हितू [णिचयादो] निश्चयसे [दहलक्खणो] एक उत्ताम क्षमादि दशलक्षण [धम्मो] धर्म ही [हवे] है [सो] क्योकि वह धर्म ही [देवलोए] देवलोक (स्वर्ग) मे [णेई] ले जाता है [सो चिय] वह धर्म ही [दुक्खक्खयं कुणइ] दु खोका क्षय (मोक्ष) करता है ।

भावार्थः—धर्मके सिवाय और कोई भी हितू नही है ।

अब कहते है कि इस तरहसे अकेले जीवको शरीरसे भिन्न जानना चाहिये—

सव्वायरेण जाणह, इक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं ।
जम्हि दु मुणिदे जीवो, होदि असेसं खणे हेयं ॥७९॥

अन्वयार्थः—हे भव्यजीवो ! [इक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं] अकेले जीवको शरीरसे भिन्न (अलग) [सव्वायरेण जाणह] सब प्रकारके प्रयत्न करके जानो [जम्हि दु जीवो मुणिदे] जिस जीवके जान लेने पर [असेसं खणे हेयं होदि] अवशेष (बाकी बचे) सब परद्रव्य क्षणमात्रमे त्यागने योग्य होते है ।

भावार्थः—जब जीव अपने + स्वरूपको जानता है तब ही परद्रव्य हेय ही भासते है, इसलिये अपने स्वरूपहीके जाननेका महान् उपदेश है ।

※ [स्व को समझता नही और] । + [नित्यज्ञायक] ।

❋ दोहा ❋

एक जीव परजाय बहु, धारै स्वपर निदान।
पर तजि आपा जानिकै, करौ भव्य कल्यान ॥४॥

—:: इति एकत्वानुप्रेक्षा :- समाप्ता ..—



अन्यत्वानुप्रेक्षा

अण्णं देहं गिह्लदि, जणणी अण्णा य होदि कम्मादो।
अण्णं होदि कलत्तं, अण्णो वि य जायदे पुत्तो ॥८०॥

अन्वयार्थः—यह जीव ससारमे [**देहं गिह्लदि**] देहको ग्रहण करता है [**अण्णं**] सो अपनेसे अन्य (भिन्न) है [**य**] और [**जणणी अण्णा**] माता भी अन्य है [**कलत्तं अण्णं होदि**] स्त्री भी अन्य होती है [**पुत्तो वि य अण्णो जायदे**] पुत्र भी अन्य ही उत्पन्न होता है [**कम्मादो होदि**] ये सब कर्म संयोग से होते है।

— [सभी तीर्थकर अपने दीक्षा कल्याणकके समय यह पावन–बारह भावना भाते है वह कैसी होगी ? श्री समयसारजी शास्त्रमे गा० ३ द्वारा "एकत्व निश्चय गत समय, सर्वत्र सुन्दर लोकमे" पश्चात् गाथा ४ मे उस एकत्वकी असुलभता दिखाकर गाथा ५ मे कहते है कि उससे ही जीवोको यह भिन्न आत्माका एकत्व हम दिखाते है। उनमे आगमका सेवन, युक्तिका अवलम्वन, परापरगुरुका उपदेश और स्वसवेदन–यह चार प्रमाणके द्वारा उत्पन्न अपने ज्ञानका विभवसे—स्वसे एकत्व और परसे विभक्त शुद्ध आत्माका स्वरूप दिखाते है। (वहासे मनन कर लेना) वारह सम्यक्भावना द्वारा अपनी निश्चय आत्मामे ही एकत्व–निश्चयकी भावना–एकाग्रता–कर्तव्य है। (जैसा आलम्बन वैसा अनुभव) ज्ञानीआत्मकल्याणेच्छुकको तो वाह्यमे रस नही है, यदि वाह्यमे भूमिकानुसार उपयोग लग जाय तो भारी लज्जा–शर्म होती है। अतः अन्तरङ्गमे भी कोई विकल्प–गुण भेदके व्यवहार या निश्चयनयके विकल्प आदि सभी–किसी भी विकल्प जालमे रहना नही चाहते, निरन्तर स्वाश्रयके बल द्वारा नि शक दृढताके अस्तित्वमे सभी विषमताओका नकार–निषेध ही है और अपना नित्य एकत्व भूतार्थ स्वभाव सन्मुख रहना ही उत्तम समझते है–यदि यह बात है तो अन्यको गौण–सहचर हेतु व्यवहार–साधन आदि कहा जाता है।]

एवं वाहिरदव्वं, जाणदि रूवादु❀ अप्पणो भिण्णं।
जाणंतो वि हु जीवो, तत्थेव य रच्चदे मूढो ॥८१॥

अन्वयार्थः—[एवं] इस तरह पहिले कहे अनुसार [वाहिरदव्वं] सब वाह्य वस्तुओको [अप्पणो] अपने (आत्म) [रूवादु] स्वरूपसे [भिण्णं] भिन्न [जाणदि] जानता है [जाणंतो वि हु] तो भी प्रत्यक्षरूपसे जानता हुआ भी [मूढो] यह मूढ (मोही) [जीवो] जीव [तत्थेव य रच्चदे] उन परद्रव्योमे ही राग करता है। सो यह बडी मूर्खता है।

जो जाणिऊण देहं, जीवसरूवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि, कज्जकरं तस्स अण्णत्तं ॥८२॥

अन्वयार्थः—[जो] जो जीव [जीवसरूवादु] अपने स्वरूपसे [देहं] देहको [तच्चदो भिण्णं] परमार्थसे भिन्न [जाणिऊण] जानकर [अप्पाणं पि य सेवदि] आत्मस्वरूपको सेता है (ध्यान करता है) [तस्स अण्णत्तं कज्जकरं] उसके अन्यत्वभावना कार्यकारिणी है।

भावार्थः—जो देहादिक परद्रव्योको भिन्न जानकर अपने नित्यज्ञानानन्द स्वरूपका सेवन करता है उसके अन्यत्वभावना कार्यकारिणी है।

❀ दोहा ❀

निज आतमतैं भिन्न पर, जानै जे नर दक्ष।
निजमें रमैं वमै अपर, ते शिव लखैं प्रत्यक्ष ॥५॥

इति अन्यत्वानुप्रेक्षा समाप्ता ॥५॥



❀ रूवादु इत्यादि पाठ.।

अशुचित्वानुप्रेक्षा

सयलकुहियाण पिंडं, किमिकुलकलियं अउव्वदुग्गंधं ।
मलमुत्ताणं य गेहं, देहं जाणेहि असुइमयं ॥८३॥

अन्वयार्थः—हे भव्य ! तू [देहं] इस देहको [असुइमयं] अपवित्रमयी [जाणेहि] जान । कैसा है देह ? [सयलकुहियाण पिंडं] १ सकल (सब) कुत्सित (निदनीय) पदार्थोका पिड (समूह) है [किमिकुलकलियं] २ कृमि (पेटमे रहनेवाले लट आदि) तथा अनेकप्रकारके निगोदादिक जीवोसे भरा है [अउव्वदुग्गंधं] ३ अत्यन्त दुर्गन्धमय है [मलमुत्ताणं य गेहं] ४ जो मलमूत्रका घर है ।

भावार्थः—इस शरीरको सब अपवित्र वस्तुओका समूह जानना चाहिये । ❋

अब कहते है कि यह देह अन्य सुगन्धित वस्तुओको भी अपने संयोगसे दुर्गंधित करता है—

सुट्ठु पवित्तं दव्वं, सरस-सुगंधं मणोहरं जं पि ।
देह-णिहित्तं जायदि, घिणावणं सुट्ठु-दुग्गंधं ॥८४॥

अन्वयार्थः—[देहणिहित्तं] इस शरीरमें लगाये गये [सुट्ठुपवित्तं] अत्यन्त पवित्र [सरससुगंधं] सरस और सुगन्धित [मणोहरं जं पि] मनको हरनेवाले [दव्वं] द्रव्य भी [घिणावणं] घिनावने [सुट्ठुदुग्गंधं] तथा अत्यन्त दुर्गन्धित [जायदि] हो जाते है ।

भावार्थः—इस शरीरके चन्दन, कपूर आदि (सुगन्धित पदार्थ) लगानेसे दुर्गंधित हो जाते है । रससहित उत्तम मिष्ठान्नादि खिलानेसे मलादिकरूप परिणम जाते है । अन्य भी वस्तुए इस शरीरके स्पर्शसे अस्पृश्य हो जाती हैं ।

❋ [मिथ्यात्वादि तथा शुभाशुभ भाव भी अचेतन—अनात्मा होनेसे अपवित्र और चेतनस्वरूपसे सदा भिन्न ही जानो ।

और भी इस शरीरको अशुचि दिखाते है—

मणुयाणं असुइमयं, विहिणा देहं विणिम्मियं जाण ।
तेसिं विरमण-कज्जे, ते पुण तत्थेव अणुरत्ता ।।८५।।

अन्वयार्थः—हे भव्य ! [मणुयाण] यह मनुष्योका [देहं] देह [विहिणा] कर्मके द्वारा [असुइमयं] अशुचि [विणिम्मियं जाण] रचा गया जान । यहाँ ऐसी उत्प्रेक्षा (सम्भावना) करते है कि [तेसिं विरमणकज्जे] यह देह इन मनुष्योको वैराग्य उत्पन्न होनेके लिये ही ऐसा बनाया है [ते पुण तत्थेव अणुरत्ता] परन्तु ये मनुष्य उसमे भी अनुरागी होते है सो यह अज्ञान है ।

और भी इसी अर्थको दृढ करते है—

एवं विहं पि देहं, पिच्छंता वि य कुणंति अणुरायं ।
सेवंति आयरेण य, अलद्धपुव्वं त्ति मण्णंता ।।८६।।

अन्वयार्थः—[एवं विहं पि देहं] इस तरह पहिले कहे अनुसार अशुचि शरीरको [पिच्छंता वि य] प्रत्यक्ष देखता हुआ भी यह मनुष्य उसमे [अणुरायं] अनुराग [कुणंति] करता है [अलद्धपुव्वं त्ति मण्णंता] जैसे ऐसा शरीर कभी पहिले न पाया हो ऐसा मानता हुआ [आयरेण य सेवंति] आदरपूवक इसकी सेवा करता है सो यह बड़ा अज्ञान है ।

अब कहते है कि इस शरीरसे विरक्त होनेवालेके अशुचिभावना सफल है—

जो परदेहविरत्तो, णियदेहे ण य करेदि अणुरायं ।
अप्पसरूव सुरत्तो, असुइत्ते भावणा तस्स ।।८७।।

अन्वयार्थः—[जो] जो भव्य [परदेहविरत्तो] परदेह (स्त्री आदिककी देह) से विरक्त होकर [णियदेहे] अपने शरीरमे [अणुरायं] अनुराग [ण य करेदि] नही करता है [अप्पसरूव सुरत्तो] अपने आत्मस्वरूपसे अनुरक्त रहता है [तस्स] उसके [असुइत्ते भावणा] अशुचि भावना सफल है ।

भावार्थः—* (देहादिके) केवल विचारहीसे जिसको वैराग्य प्रगट होता हो तो उसके यह भावना सत्यार्थ कहलाती है।

❀ दोहा ❀

स्वपर देहकूं अशुचि लखि, तजै तास अनुराग।
ताकै सांची भावना, सो कहिये बड़भाग ॥६॥

—:: इति अशुचित्वानुप्रेक्षा समाप्ता ::—



आस्रवानुप्रेक्षा

मणवयणकायजोया, जीवपयेसाणफंदणविसेसा।
मोहोदएण जुत्ता, विजुदा वि य आसवा होंति ॥८८॥

अन्वयार्थः—[मणवयणकायजोया] मन वचन काय योग है [आसवा होंति] वे ही आस्रव है। कैसे है ? [जीवपयेसाणफंदणविसेसा] १ जीवके प्रदेशोका स्पदन (चलायमान होना, कापना) विशेष है वह ही योग है [मोहोदएण जुत्ता विजुदा वि य] २ मोहके उदय (मिथ्यात्व कषाय) सहित है और ३ मोहके उदय रहित भी है। —

भावार्थः—मन वचन कायका निमित्त पाकर जीवके प्रदेशोंका चलाचल होना सो योग है उसीको आस्रव कहते है। वे गुणस्थानकी परिपाटीमे सूक्ष्मसापराय दसवे गुणस्थान तक तो मोहके उदयरूप यथासंभव मिथ्यात्व कषाय सहित होते है उसको सापरायिक आस्रव कहते है और ऊपर तेरहवे गुणस्थान तक मोह उदयसे रहित होते

---

* [भेदविज्ञान सहित अक्षय अविनाशी निजात्माके आश्रय करने द्वारा]। — [प्रथम तो मिथ्यात्व ही आस्रव है]।

है उसको ईर्यापथ आस्रव कहते है। जो पुद्गल वर्गणा कर्मरूप परिणमती है उसको द्रव्यास्रव कहते है और जीवके प्रदेश चचल होते है उसको भावास्रव कहते है।

अब मोहके उदयसहित आस्रव है ऐसा विशेषरूपसे कहते है--

मोहविवागवसादो, जे परिणामा हवंति जीवस्स।
ते आसवा मुणिज्जसु मिच्छत्ताई अणेय-विहा ॥८९॥

अन्वयार्थः—[मोहविवागवसादो] मोहके उदयसे [जे परिणामा] जो परिणाम [जीवस्स] इस जीवके [हवति] होते है [ते आसवा] वे ही आस्रव है [मुणिज्जसु] हे भव्य ! तू प्रत्यक्षरूपसे ऐसे जान। [मिच्छत्ताई अणेयविहा] वे परिणाम मिथ्यात्वको आदि लेकर अनेक प्रकारके है।

भावार्थः—कर्मबन्धके कारण आस्रव है। वे मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योगके भेदसे पाच प्रकारके है। उनमे स्थिति अनुभागरूप बन्धके कारण मिथ्यात्वादिक चार ही है सो ये मोहके उदयसे होते है और जो योग है वे समयमात्र बन्धको करते है, कुछ भी स्थिति अनुभागको नही करते है इसलिये बन्धके कारणमें प्रधान नही है।

अब पुण्यपापके भेदसे आस्रवको दो प्रकारका कहते है--

कम्मं पुण्णं पावं, हेउं तेसिं च होंति सच्छिदरा।
मंदकसाया सच्छा, तिव्वकसाया असच्छा हु ॥९०॥

अन्वयार्थः—[कम्मं पुण्णं पावं] कर्म पुण्य, पापके भेदसे दो प्रकारका है [च तेसिं हेउं सच्छिदरा होंति] और उनके कारण भी सत् (प्रशस्त) इतर (अप्रशस्त) दो ही होते है [मंदकसाया सच्छा] उनमे मन्दकषाय परिणाम तो प्रशस्त (शुभ) है [तिव्वकसाया असच्छाहु] और तीव्र कषाय परिणाम अप्रशस्त (अशुभ) है।

भावार्थः—सातावेदनीय, शुभ आयु, उच्च गोत्र और शुभ नाम ये चार प्रकृतिये तो पुण्यरूप है बाकी चार घातियाकर्म असातावेदनीय, नरकायु, नीचगोत्र और

अशुभनाम ये चार प्रकृतिये पापरूप है। उनके कारण आस्रव भी दो प्रकारके है। मदकषायरूप परिणाम तो पुण्यास्रव है और तीव्र कषायरूप परिणाम पापास्रव है।

अब मन्द तीव्रकषायको प्रगट दृष्टान्तपूर्वक कहते है—

सव्वत्थ वि पियवयणं, दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं।
सव्वेसिं गुणगहणं, मंदकसायाण दिट्ठंता ॥६१॥

अन्वयार्थः—[सव्वत्थ वि पियवयणं] १ सब जगह शत्रु तथा मित्र आदिमे तो प्रिय हितरूप वचन [दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं] २ दुर्वचन सुनकर दुर्जनमे भी क्षमा करना [सव्वेसिं गुणगहणं] ३ सब जीवोके गुण ही ग्रहण करना [मंदकसायाण दिट्ठंता] ये मन्दकषायके दृष्टान्त हैं।

अप्पपसंसणकरणं पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्तं।
वेरधरणं च सुइरं, तिव्वकसायाण लिंगाणि ॥६२॥

अन्वयार्थः—[अप्पपसंसण करणं] १ अपनी प्रशंसा करना [पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्तं] २ पूज्य पुरुषोमे भी दोष ग्रहण करनेका स्वभाव [च सुइरं वेरधरणं] ३ और बहुत समय तक बैर धारण करना [तिव्वकसायाण लिंगाणि] ये तीव्रकषायके चिह्न है।

अब कहते है कि ऐसे जीवके आस्रवका चितवन निष्फल है—

एवं जाणंतो वि हु, परिचयणीये वि जो ण परिहरइ।
तस्सासवाणुवेक्खा, सव्वा वि णिरत्थया होदि ॥६३॥

अन्वयार्थः—[एवं जाणंतो वि हु] इस प्रकारसे प्रत्यक्षरूपसे जानता हुआ भी [परिचयणीये वि जो ण परिहरइ] जो त्यागने योग्य परिणामोको नही छोडता है [तस्स] उसके [सव्वा वि] सब ही [आसवाणुवेक्खा] आस्रवका चितवन [णिरत्थया होदि] निरर्थक है। कार्यकारी नही होता।

भावार्थः—आस्रवानुप्रेक्षाको चिन्तवन करके पहिले तो (१) *तीव्रकषाय छोडना चाहिये फिर (२) —शुद्ध आत्मस्वरूपका ध्यान करना चाहिये, (३) सब कषाय छोड़ने चाहिये तब तो यह चितवन सफल है केवल वार्ता करना मात्र ही सफल नही है।

---

* [त्रैकालिक अकषाय ज्ञायकके आश्रय द्वारा ही]। — [स्वरूपके उग्र आलम्बन द्वारा]।

एदे मोहय-भावा, जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो ।
हेयं ति मरणमाणो, आसव अणुपेहणं तस्स ॥६४॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [उवसमे लीणो] उपशम परिणामोमें (वीतराग भावोमे) लीन होकर [एदे] पे पहिले कहे अनुसार [मोहयभावा] मोहसे उत्पन्न हुए मिथ्यात्वादिक परिणामोको [हेयं ति मण्णमाणो] हेय (त्यागने योग्य) मानता हुआ [परिवज्जेइ] छोडता है [तस्स] उसके [आसव अणुपेहणं] आस्रवानुप्रेक्षा होती है ।

❀ दोहा ❀

आस्रव पंचप्रकारकूं, चिंतवै तजैं विकार ।
ते पावैं निजरूपकूं, यहै भावना सार ॥७॥

—:. इति आस्रवानुप्रेक्षा समाप्ता ॥७॥ . —

संवरानुप्रेक्षा

सम्मत्तं देसवयं, महव्वयं तह जओ कसायाणां ।
एदे संवरणामा, जोगाभावो तहा चेव ॥६५॥

अन्वयार्थः—[सम्मत्तं] सम्यक्त्व [देशवयं] देशव्रत [महव्वयं] महाव्रत [तह] तथा [कसायाणं] कषायोका [जओ] जीतना [जोगाभावो तहा चेव] तथा योगोका अभाव [एदे संवरणामा] ये सवरके नाम है ।

भावार्थः—पहिले मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योगरूप पाच प्रकारका आस्रव कहा था, उनका ❀ अनुक्रमसे रोकना ही सवर है । सो कैसे ? मिथ्यात्वका अभाव तो चतुर्थगुणस्थानमे हुआ वहा अविरतका सवर हुआ । अविरतका अभाव एक देश तो देशविरतमे हुआ और सर्वदेश प्रमत्तगुणस्थानमे हुआ वहा अविरतका संवर हुआ । अप्रमत्त गुणस्थानमे प्रमादका अभाव हुआ वहा

❀ [स्वबल द्वारा] ।

उसका संवर हुआ । अयोगिजिनमें योगोंका अभाव हुआ, वहां उनका संवर हुआ । इस तरह संवरका क्रम है ।

अब इसीको विशेषरूपसे कहते हैं—

गुत्ती समिदी धम्मो, अणुवेक्खा तह परीसहजओ वि ।
उक्किट्ठं चारित्तं, संवरहेदू विसेसेण ॥९६॥

अन्वयार्थः—[गुत्ती] मन वचन कायकी गुप्ति [समिदी] ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना इस तरह पांच समिति [धम्मो] उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म [अणुवेक्खा] अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षा [तह परीसहजओ वि] तथा क्षुधा आदि बाईस परीषहका जीतना [उक्किट्ठं चारित्तं] सामायिक आदि उत्कृष्ट पाँच प्रकारका चारित्र ये [विसेसेण] विशेषरूपसे [संवरहेदू] संवरके कारण है ।

अब इनको स्पष्टरूपसे कहते है—

गुत्ती जोगणिरोहो, समिदी य पमाद-वज्जणं चेव ।
धम्मो दयापहाणो, सुतत्त-चिंता अणुप्पेहा ॥९७॥

अन्वयार्थः—[जोगणिरोहो] योगोंका निरोध [गुत्ती] गुप्ति है [समिदी य पमादवज्जणं चेव] प्रमादका वर्जन, यत्नपूर्वक प्रवृत्ति समिति है [दयापहाणो] दयाप्रधान [धम्मो] धर्म है [सुतत्त-चिंता अणुप्पेहा] जीवादिक तत्त्व तथा निजस्वरूपका चिंतवन अनुप्रेक्षा है ।

सोवि परीसहविजओ, छुहादि-पीडाण अइरउद्दाणं ।
सवणाणं च मुणीणं, उवसमभावेण जं सहणं ॥९८॥

अन्वयार्थः—[जं] जो [अइरउद्दाणं] अति रौद्र (भयानक) [छुहादि-पीडाण] क्षुधा आदि पीड़ाओको [उवसमभावेण सहणं] उपशमभावो (वीतरागभावो) से सहना [सो] सो [सवणाणं च मुणीणं] ज्ञानी महामुनियोके [परीसहविजओ] परीषहोका जीतना कहलाता है ।

अप्पसरूवं वत्थुं, चत्तं रायादिएहिं दोसेहिं ।
सज्झाणम्मि णिलीणं, तं जाणसु उत्तमं चरणं ॥९९॥

अन्वयार्थः—हे भव्य ! जो [अप्पसरूवं वत्थु] आत्मस्वरूप वस्तु है उसका [चत्तं रायादिएहिं दोसेहिं] रागादि दोषोसे रहित [सज्झाणम्मि णिलीणं] धर्म शुक्ल ध्यानमे लीन होना है [तं] उसको [उत्तम चरणं] तू उत्तम चारित्र [जाणसु] जान ।

अब कहते है कि जो ऐसे सवरका आचरण नही करता है वह ससारमे भटकता है—

एदे संवरहेदुं, वियारमाणो वि जो ण आयरइ ।
सो भमइ चिरं कालं, संसारे दुक्खसंतत्तो ॥१००॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [एदे] इन (पहिले कहे अनुसार) [संवरहेदुं] सवरके कारणोको [वियारमाणो वि] विचारता हुआ भी [ण आयरइ] आचरण नही करता है [सो] वह [दुक्खसंतत्तो] दु खोसे तप्तायमान होकर [चिरं कालं] बहुत समय तक [संसारे] ससारमे [भमइ] भ्रमण करता है ।

अब कहते है कि सवर कैसे पुरुषके होता है--

जो पुण विसयविरत्तो, अप्पाणं सव्वदा वि संवरइ ।
मणहरविसएहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि ॥१०१॥

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [विसयविरत्तो] इन्द्रियोके विषयोसे विरक्त होता हुआ [मणहरविसएहिंतो] मनको प्रिय लगनेवाले विषयोसे [अप्पाणं] आत्माको [सव्वदा] सदाकाल (हमेशा) [संवरइ] सवररूप करता है [तस्स फुड सवरो होदि] उसके प्रगटरूपसे सवर होता है ।

भावार्थः—* इन्द्रिय तथा मनको विषयोसे रोके और अपने शुद्ध स्वरूपमे रमण करावे उसके सवर होता है ।

---

* [स्वाश्रयके वल द्वारा सम्यग्दर्शनादिकी प्राप्ति ही सवर है ।]

❀ दोहा ❀

गुप्ति समिति वृष भावना, जयन परीसहकार ।
चारित धारै संग तजि, सो मुनि संवरधार ॥८॥

इति संवरानुप्रेक्षा समाप्ता ॥८॥



निर्जरानुप्रेक्षा

बारसविहेण तवसा, णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि ।
वेरग्गभावणादो, णिरहंकारस्स णाणिस्स ॥१०२॥

अन्वयार्थः—[णियाणरहियस्स] निदान (इन्द्रियविषयोकी इच्छा) रहित [णिरहंकारस्स] अहंकार (अभिमान) रहित [णाणिस्स] ज्ञानीके [बारसविहेण तवसा] बारह प्रकारके तपसे तथा [वेरग्गभावणादो] वैराग्यभावना (संसार देहभोगसे विरक्त परिणाम) से [णिज्जरा होदि] निर्जरा होती है ।

भावार्थः—जो ज्ञानसहित तप करता है उसके तपसे निर्जरा होती है । अज्ञानी विपर्यय तप करता है उसमे हिंसादिक दोष होते है, ऐसे तपसे तो उलटे कर्मका बन्ध ही होता है । तप करके मद करता है, दूसरेको न्यून (हीन) गिनता है, कोई पूजादिक (सत्कार विशेष) नहीं करता है तो उससे क्रोध करता है ऐसे तपसे बन्ध ही होता है । गर्वरहित तपसे निर्जरा होती है । जो तप करके इस लोक या परलोकमे ख्याति, लाभ, पूजा और इन्द्रियोके विषयभोग चाहता है उसके बन्ध ही होता है । निदान रहित तपसे निर्जरा होती है । जो संसार देहभोगमे आसक्त होकर तप करता है उसका आशय (हृदय) शुद्ध नही होता है उसके निर्जरा नही होती है । वैराग्यभावनासे ही निर्जरा होती है ऐसा जानना चाहिये ।

अब निर्जराका स्वरूप कहते है—

सव्वेसिं कम्माणं, सत्तिविवाओ हवेइ अणुभाओ ।
तदणंतरं तु सडणं, कम्माणं णिज्जरा ...

अन्वयार्थः—[**सव्वेसिं कम्माणं**] समस्त ज्ञानावरणादिक अष्टकर्मोकी [**सत्तिविवाओ**] शक्ति (फल देनेकी सामर्थ्य) विपाक (पकना-उदय होना) [**अणुभाओ**] अनुभाग [**हवेइ**] कहलाता है [**तदणंतरं तु सडणं**] उदय आनेके अनन्तर ही झड जानेको [**कम्माणं णिज्जरा जाण**] कर्मोकी निर्जरा जानना चाहिये ।

भावार्थः—* कर्मोके उदयमे आकर झड जानेको निर्जरा कहते हैं ।

अब कहते है कि यह निर्जरा दो प्रकारकी है—

सा पुण दुविहा णेया, सकालपत्ता तवेण कयमाणा ।
चादुगदीणं पढमा, वयजुत्ताणं हवे बिदिया ॥१०४॥

अन्वयार्थः—[**सा पुण दुविहा णेया**] वह पहिले कही हुई निर्जरा दो प्रकारकी है [**सकालपत्ता**] एक तो स्वकाल प्राप्त [**तवेण कयमाणा**] दूसरी तप द्वारा की गई [**चादुगदीणं पढमा**] उनमे पहिली स्वकालप्राप्त निर्जरा तो चारो ही गतिके जीवोके होती है [**वयजुत्ताणं हवे बिदिया**] व्रतसहित जीवोके दूसरी तप द्वारा की गई होती है ।

भावार्थः—निर्जरा दो प्रकार है । कर्म अपनी स्थितिको पूर्ण कर उदय होकर रस देकर खिर जाते है सो सविपाक निर्जरा कहलाती है, यह निर्जरा तो सब ही जीवोके होती है और तपके कारण कर्म स्थिति पूर्ण हुए बिना ही खिर जाते है वह अविपाक निर्जरा कहलाती है, यह व्रतधारियोके होती है ।

अब निर्जरा किससे बढती हुई होती है सो कहते है—

उवसमभावतवाणं, जह जह वड्ढी हवेइ साहूणं ।
तह तह णिज्जरवड्ढी, विसेसदो धम्मसुक्कादो ॥१०५॥

अन्वयार्थः—[**साहूणं**] मुनियोके [**जह जह**] जैसे जैसे [**उवसमभावतवाणं**] उपशमभाव तथा तपकी [**वड्ढी हवेइ**] बढ़वारी होती है [**तह तह णिज्जर वड्ढी**] वैसे वैसे ही निजराकी बढवारी होती है [**धम्मसुक्कादो**] धर्मध्यान और शुक्लध्यानसे [**विसेसदो**] विशेषतासे बढवारी होती है ।

---

* [निश्चयसे स्वाश्रयके द्वारा आंशिक शुद्धिकी वृद्धि और अशुद्धिकी हानिको निर्जरा कही है] ।

अब इस वृद्धिके स्थानोंको बतलाते है—

मिच्छादो सद्दिट्ठी, असंखगुणकम्मणिज्जरा होदि ।
तत्तो अणुवयधारी, तत्तो य महव्वई णाणी ॥१०६॥
पढमकसायचउण्हं, विजोजओ तह य खवयसीलो य ।
दंसणमोहतियस्स य, तत्तो उवसमग-चत्तारि ॥१०७॥
खवगो य खीणमोहो, सजोइणाहो तहा अजोईया ।
एदे उवरिं उवरिं, असंखगुणकम्मणिज्जरया ॥१०८॥

अन्वयार्थः—[मिच्छादो] प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमे करणत्रयवर्ती विशुद्ध परिणामयुक्त मिथ्यादृष्टिसे [सद्दिट्ठी] असंयत सम्यग्दृष्टिके [असंखगुणकम्मणिज्जरा होदि] असख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती है [तत्तो अणुवयधारी] उससे देशव्रती श्रावकके असख्यात गुणी होती है [तत्तो य महव्वई णाणी] उससे महाव्रती मुनियोके असंख्यात गुणी होती है [पढमकसायचउण्हं विजोजओ] उससे अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन (अप्रत्याख्यानादिकरूप परिणमाना) करनेवालेके असख्यात गुणी होती है [य दंसणमोहतियस्स य खवयसीलो] उससे दर्शनमोहके क्षय करनेवालेके असख्यात गुणी होती है [तत्तो उवसमगचत्तारि] उससे उपशम श्रेणीवाले तीन गुणस्थानोमे असख्यातगुणी होती है [खवगो य] उससे उपशान्तमोह ग्यारहवे गुणस्थानवालेके असख्यातगुणी होती है, उससे क्षपकश्रेणीवाले तीन गुणस्थानोमे असख्यात गुणी होती है [खीणमोहो] उससे क्षीणमोह बारहवे गुणस्थानमें असख्यातगुणी होती है [सजोइणाहो] उससे सयोगकेवलीके असख्यात गुणी होती है [तहा अजोईया] उससे अयोगकेवलीके असख्यात गुणी होती है [एदे उवरिं उवरिं असंखगुणकम्मणिज्जरया] ये ऊपर ऊपर असख्यात गुणाकार है इसलिये इनको गुणश्रेणी निर्जरा कहते है ।

अब गुणाकाररहित अधिकरूप निर्जरा जिससे होय सो कहते है—

जो विसहदि दुव्वयणं, साहम्मिय-हीलणं च उवसग्गं ।
जिणऊण कसायरिउं, तस्स हवे णिज्जरा विउला ॥१०९॥

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [दुव्वयणं] दुर्वचन [सहदि] सहता है [साहम्मियहीलणं] साधर्मी जो अन्य मुनि आदिक उनसे किये गए अनादरको सहता है [च उवसग्गं] तथा देवादिकोसे किये गये उपसर्गको सहता है [कसायरिउं] कषायरूप बैरीको [जिणऊण] जीतकर जो ऐसे करता है [तस्स] उसके [विउला] विपुल (बड़ी) [णिज्जरा] निर्जरा [हवे] होती है ।

भावार्थः—कोई कुवचन कहे तो उससे कषाय न करे तथा अपनेको अतीचारादिक (दोष) लगे तब आचार्यादि कठोर वचन कह कर प्रायश्चित्त देवे, निरादर करे तो उसको कषायरहित होकर सहे तथा कोई उपसर्ग करे तो उससे कषाय न करे उसके बड़ी निर्जरा होती है ।

रिणमोयणं व मण्णइ, जो उवसग्गं परीसहं तिव्वं ।
पावफलं मे एदं, मया वि जं संचिदं पुव्वं ॥११०॥

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [उवसग्गं] उपसर्गको तथा [तिव्वं] तीव्र [परीसहं] परिषहको [रिणमोयणं व मण्णइ] ऋण (कर्ज) की तरह मानता है कि [एदे] ये (उपसर्ग और परिषह) [मया वि जं पुव्वं संचिदं] मेरे द्वारा पूर्वजन्ममे संचित किये गये [पावफलं] पापकर्मोका फल है सो भोगना चाहिए इस समय व्याकुल नही होना चाहिए ।

भावार्थः—जैसे किसीको ऋणके रुपये देने होवे तो जब वह मागे तब देना पड़े उसमें व्याकुलता कैसी ? ऐसा विचार कर जो उपसर्ग और परिषहको शान्त परिणामोसे सह लेता है उसके बहुत निर्जरा होती है ।

जो चिंतेइ सरीरं, ममत्तजणयं विणस्सरं असुइं ।
दंसणणाणचरित्तं, सुहजणयं णिम्मलं णिच्चं ॥१११॥

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [सरीरं] शरीरको [ममत्तजणयं] ममत्व (मोह) को उत्पन्न करानेवाला [विणस्सर] विनाशीक [असुइ] तथा अपवित्र [चिंतेइ] मानता है और [सुहजणयं] सुखको उत्पन्न करनेवाले [णिम्मलं] निर्मल [णिच्चं] तथा नित्य [दसणणाणचरित्तं] दर्शनज्ञान-चारित्ररूपी आत्माका [चिंतेइ] चिंतवन (ध्यान) करता है उसके बहुत निर्जरा होती है ।

भावार्थः—शरीरको मोहका कारण, अस्थिर तथा अशुचि माने तब इसकी चिन्ता नही रहती। अपने स्वरूपमे लगे तब निर्जरा होवे ही होवे।

अप्पाणं जो णिंदइ, गुणवंताणं करेदि बहुमाणं।
मणइंदियाण विजई, स सरूवपरायणो होउ ॥११२॥

अन्वयार्थः—[जो] जो साधु [अप्पाणं णिंदइ] अपने किए हुए दुष्कृतकी निंदा करता है [गुणवंताणं बहुमाणं करेदि] गुणवान् पुरुषोंका प्रत्यक्ष परोक्ष बड़ा आदर करता है [मणइंदियाण विजई] अपने मन व इन्द्रियोको जीतनेवाला होता है [स सरूवपरायणो होउ] वह अपने स्वरूपमे तत्पर होता है। उसीके बहुत निर्जरा होती है।

भावार्थः—❋ मिथ्यात्वादि दोषोका निरादर करे तब वे क्यो रहें ? नष्ट हो हो जावें।

तस्स य सहलो जम्मो, तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि।
तस्स वि पुण्णं वड्ढदि, तस्स वि सोक्खं परं होदि ॥११३॥

अन्वयार्थः—जो साधु ऐसे (पहिले कहे अनुसार) निर्जराके कारणोंमें प्रवृत्ति करता है [तस्स य सहलो जम्मो] उसीका जन्म सफल है [तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि] उसहीके पापकर्मकी निर्जरा होती है [तस्स वि पुण्णं वड्ढदि] उसहीके पुण्यकर्मका अनुभाग बढ़ता है [तस्स वि सोक्खं परं होदि] और उसीको उत्कृष्ट सुख (मोक्ष) प्राप्त होता है।

भावार्थः—जो निर्जराके कारणोमे प्रवृत्ति करता है उसके मिथ्यात्वादि पापोका नाश होता है, पुण्यकी वृद्धि होती है और वह ही ×स्वर्गादिकके सुखोंको भोगकर +मोक्षको प्राप्त होता है।

अब उत्कृष्ट निर्जरा कहकर उसके कथनको पूर्ण करते है—

जो समसोक्खणिलीणो, वारंवारं सरेइ अप्पाणं।
इंदियकसायविजई, तस्स हवे णिज्जरा परमा ॥११४॥

❋ [निज शुद्धात्माका ही आदर द्वारा]। × [परम्परा]। + [पूर्ण स्वाश्रय द्वारा]।

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [समसोक्खणिलीणो] वीतराग भावरूप-साम्यरूप-सुखमें लीन (तन्मय) होकर [वारंवारं अप्पाणं सरेइ] बार बार आत्माका स्मरण (ध्यान) करता है [इंदियकसायविजई] तथा इन्द्रिय और कषायोंको जीतता है [तस्स परमा णिज्जरा हवे] उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है ।

भावार्थः—* जो इन्द्रियोका और कषायोका निग्रह करके परम वीतराग भावरूप आत्मध्यानमे लीन होता है उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है ।

❀ दोहा ❀

पूरब बांधे कर्म जे, क्षरैं तपोबल पाय ।
सो निर्जरा कहाय है, धारैं ते शिव जाय ॥९॥

इति निर्जरानुप्रेक्षा समाप्ता ॥९॥



लोकानुप्रेक्षा

अब लोकानुप्रेक्षाका वर्णन करते है । पहिले लोकका आकारादिक कहेंगे । यहा कुछ गणित प्रयोजनकारी जानकर सक्षेपसे कहते हैं ।

भावार्थः—गणितको अन्य ग्रन्थोके अनुसार लिखते है । पहिले तो परिकर्माष्टक है उसमे सकलन (जोड देना) जैसे आठमे सात जोड देनेसे पन्द्रह होते है । व्यवकलन (बाकी काढना)—जैसे आठमेसे तीन घटाने पर पाँच रहते है । गुणाकार—जैसे आठको सातसे गुणा करने पर छप्पन होते है । भागाकार—जैसे आठमें दोका भाग देनेसे चार आते है । वर्ग—दो समान राशियोको गुणा करने पर जितने आते है उसको वर्ग कहते हैं जैसे आठका वर्ग चौसठ होता है । वर्गमूल—जैसे चौसठका वर्गमूल आठ होता है । घन—तीन समान राशियोके गुणा करने पर जो आवे सो घन कहलाता है जैसे आठका घन पांच सो बारह । घनमूल—जैसे पाच सो बारहका घनमूल आठ । इस तरह परिकर्माष्टक जानना चाहिये ।

---

* [अपने त्रैकालिक, भूतार्थ ज्ञायकस्वरूपके परिग्रहण द्वारा ही] ।

अब त्रैराशिक बतलाते है इसमें एक प्रमाणराशि, एक फलराशि और एक इच्छाराशि ऐसे तीन राशियां होती हैं। जैसे दो रुपयोंकी कोई वस्तु सोलह सेर आती है तो आठ रुपयोंकी कितनी आवेगी ? यहां प्रमाण राशि दो, फलराशि सोलह और इच्छाराशि आठ हुई। फलराशिको इच्छाराशिसे गुणा करने पर एकसौ अट्ठाईस होते है, उनमें प्रमाणराशि दोका भाग देने पर चौसठ सेर आते है, इस तरह जानना चाहिये।

क्षेत्रफलः—जहां बराबरके खण्ड किये जाते है, उसको क्षेत्रफल कहते हैं। जब खेत डोरीसे मापा जाता है तब कचवांसी, विसवासी और बीघा किये जाते है उसकी क्षेत्रफल संज्ञा है। जैसे अस्सो हाथकी डोरी होती है उसके बीस गट्ठे कहलाते हैं। चार हाथका एक गट्ठा होता है। ऐसे खेतमें जो एक डोरी लम्बा चौड़ा खेत होवे उसके चार हाथके लम्बे चौड़े खण्ड करो, तब बीसको बीससे गुणा करने पर चारसौ हुए ये ही कचवांसी कहलाती है, इसके बीस बिसवे होते है उनका एक बीघा होता है। ऐसे ही जहां चौखूंटा, तिखूंटा, गोल आदि खेत होवे तो उसके बराबरके खण्ड करके माप कर क्षेत्रफल ले आते है। वैसे ही लोकके क्षेत्रकी योजनादिककी संख्यासे जैसा क्षेत्र होवे वैसे ही विधानसे क्षेत्रफल लानेका विधान गणित शास्त्रसे जान लेना चाहिये।

यहां लोकके क्षेत्रमे तथा द्रव्योकी गणनामें अलौकिक गणित इक्कीस है तथा उपमा गणित आठ है। उसमें सख्यातके तीन भेद—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। असंख्यातके नौ भेद--परीतासख्यात जघन्य, मध्य, उत्कृष्ट। युक्तासख्यात जघन्य, मध्य, उत्कृष्ट। असंख्याता सख्यात जघन्य, मध्य, उत्कृष्ट इस तरह नौ भेद हुए। अनन्तके नौ भेद--परीतानन्त, युक्तानन्त, अनन्तानन्त, वे जघन्य, मध्य, उत्कृष्टके भेदसे नौ हुए। इस तरह सख्यातके तीन, असख्यातके नौ और अनन्तके नौ सब मिलाकर इक्कीस भेद हुए।

जघन्य परीत असख्यात लानेके लिये लाख लाख योजनके जम्बूद्वीपप्रमाण व्यासवाले हजार हजार योजन ऊडे (गहरे) चार कुण्ड करो। एकका नाम अनवस्था, दूसरा शलाका, तीसरा प्रतिशलाका, चौथा महाशलाका। उनमेसे अनवस्था कुण्डको सरसोसे सिघाऊं भरो, उसमे छियालीस अकप्रमाण सरसो आवेगी। उनका सकल्प मात्र लेकर चलो। एक द्वीपमें एक समुद्रमें इस क्रमसे गिराते जाओ। जहां वे सरसों समाप्त हो जाय उस द्वीप वा समुद्रकी सूची प्रमाण अनवस्था कुण्ड करो।

उसमे सरसो भरो और शलाका कुण्डमे एक दूसरी सरसो लाकर गिराओ। फिर वैसे ही उस दूसरे अनवस्था कुण्डकी एक सरसो एक द्वीपमे एक समुद्रमे गिराते जाओ। इस तरह करते हुए उस अनवस्था कुण्डको सरसों जहा समाप्त हो जाय वहा उस द्वीप वा समुद्रकी सूची प्रमाण फिर अनवस्थाकुण्ड करके वैसे ही सरसों भरो। फिर एक दूसरी सरसो शलाका कुण्डमे लाकर गिराओ, इस तरह करते हुए छियालीस अंक प्रमाण अनवस्था कुण्ड हो जांय तब एक शलाका कुण्ड भरे। तब एक सरसो प्रतिशलाका कुण्डमे गिराओ। वैसे ही (पहिले कहे अनुसार) अनवस्था होती जाय, शलाका होती जाय ऐसे करते हुए छियालीस अक प्रमाण शलाका कुण्ड भर चुके तब एक प्रतिशलाका भरे। इसी तरह अनवस्था कुण्ड होता जाय, शलाका भरते जाय, प्रतिशलाका भरते जाय जब छियालीस अंक प्रमाण प्रतिशलाका कुण्ड भर जाय तब एक महाशलाका कुण्ड भरे। इस तरह करते हुए छियालीस अकोके घन प्रमाण अनवस्था कुण्ड हुए।

उनमे अन्तका अनवस्थाका जिस द्वीप तथा समुद्रकी सूची प्रमाण बना उसमें जितनी सरसो आवे उतना प्रमाण जघन्य परीतासख्यातका है। इसमे एक सरसों घटानेसे उत्कृष्टसंख्यात कहलाता है। दो सरसो प्रमाण जघन्य सख्यात कहलाता है, बीचके सब मध्य सख्यातके भेद हैं। जघन्य परीतासख्यातकी सरसोकी राशिको एक एक बखेर (फैला) कर एक एक पर उस ही राशिको रखकर परस्परमे गुणा करनेसे अन्तमें जो राशि आती है उसको जघन्य युक्तासंख्यात कहते हैं। इसमे एक रूप घटाने पर उत्कृष्टपरीतासख्यात कहलाता है। मध्यके अनेक भेद जानने चाहिये। जघन्य युक्तासंख्यातको जघन्ययुक्तासंख्यातसे एक बार परस्परमे गुणा करनेसे जो परिमाण आता है वह जघन्य असंख्यातासख्यात जानना चाहिये। इसमेसे एक घटाने पर उत्कृष्ट युक्तासंख्यात हो जाता है। मध्य युक्त असख्यात बीचके अनेक भेद जानने चाहिये।

※ अब इस जघन्य असख्यातासख्यातप्रमाण तीन राशि करनो। एक शलाका एक विरलन एक देय। तहां विरलन राशिकूं बखेरि एक एक जुदा जुदा करना, एक एककै ऊपरि एक एक देय राशि धरना तिनकूं परस्पर गुणिये जब सर्व गुणकार होय चुकै तब एक रूप शलाका राशिमेसूं घटावना, बहुरि जो राशि भया तिस प्रमाण

※ यह विषय स्व० प० जयचन्द्रजी सा० की भाषामे ही ज्योका त्यो रख दिया है।

विरलन देय राशि करना, तहां विरलनकूं बखेरि एक एककूं जुदा करि एक एक परि देय राशि देना, तिनकूं परस्पर गुणन करना जो राशि निपजै तब एक शलाकाराशिमेंसूं फेरि घटावना, बहुरि जो राशि निपज्या ताकै परिमाण विरलन देय राशि करना। विरलनकूं बखेरि देयकूं एक एक पर स्थापि परस्पर गुणन करना, एकरूप शलाकामेंसूं घटावना, ऐसै विरलन देय राशिकरि गुणाकार करता जाना, शलाकामेंसू घटाता जाना, जब शलाका राशि नि शेष हो जाय तब जो किछू परिमाण आया सो मध्य असख्यातासख्यातका भेद है, बहुरि तितने २ परिमाण शलाका, विरलन, देय, तीन राशि फेरि करना। तिनकूं पूर्ववत् करतै शलाका राशि नि.शेष होय जाय, तब जो महाराशि परिमाण आया सो भी मध्य असख्यातासंख्यातका भेद है, बहुरि तिस राशि परिमाणके फेरि शलाका विरलन देय राशि करना, तिनकूं पूर्वोक्त विधानकरि गुणनेतैं जो महाराशि भया सो यह भी मध्य असख्यातासख्यातका भेद भया, अर शलाकात्रय-निष्ठापन एक बार भया, बहुरि इस राशिमै असख्यातासख्यात प्रमाण छह राशि और मिलावणो। लोकप्रमाण धर्मद्रव्यके प्रदेश, अधर्मद्रव्यके प्रदेश, एक जीवके प्रदेश, लोकाकाशके प्रदेश बहुरि उस लोकतै असख्यातगुणे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीवनीका परमाण, बहुरि तिसतै असख्यातगुणे सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीवोंका परिमाण ये छह राशि मिलाय पूर्वोक्त प्रकार शलाका विरलन देयराशिके विधानकरि शलाकात्रयनिष्ठापन करना, तब जो महाराशि निपज्या सो भी मध्य असख्यातासख्यातका भेद है, तामें च्यारि राशि और मिलावने—कल्प काल बीस कोड़ाकोड़ी सागरके समय बहुरि स्थितिबधकूं कारण कषायनिके स्थान, अनुभाग बधकूं कारण कषायनिके स्थान, योगनिके अविभाग प्रतिच्छेद, ऐसी च्यारि राशि मिलाय अर पूर्वोक्त विधानकरि शलाकात्रय निष्ठापन करना ऐसें करतै जो परिमाण होय सो जघन्यपरीतान्तराशि भया, यामैसू एकरूप घटाये उत्कृष्ट असख्यातासंख्यात होय है, बीचिमें मध्यके नाना भेद है, बहुरि जघन्य परीतानन्त राशि विरलनकरि एक एक परि एक एक जघन्य परीतानन्त स्थापनकरि परस्पर गुणे जो परिमाण होय सो जघन्ययुक्तानन्त जानना। तामें एक घटाये उत्कृष्ट परीतानन्त है। मध्य परीतानन्तके बीचिमें नाना भेद है। बहुरि जघन्य युक्तानन्तकूं जघन्य युक्तानन्तकरि एकबार परस्पर गुणे जघन्य अनन्तानन्त है। यामेसूं एक घटाये उत्कृष्ट युक्तानन्त होय है। मध्य युक्तानन्तके बीचमे नाना भेद है। अब उत्कृष्ट अनन्तानन्तकूं ल्यावनेका उपाय कहै है। तहां जघन्य अनन्तानन्त परिमाण शलाका विरलन देय। इन तोन राशिकरि अनुक्रमतै पहलै कह्या तैसै शलाकात्रय-

निष्ठापन करै। तब मध्य अनन्तानन्तका भेदरूप राशिमे निपजै है, ताविषै छह राशि मिलावै सिद्धराशि, निगोदराशि, प्रत्येक वनस्पतिसहित निगोदराशि, पुद्गलराशि कालके समय, आकाशके प्रदेश ये छह राशि मध्य अनन्तानन्तके भेदरूप मिलाय शलाकात्रयनिष्ठापन पूर्ववत् विधानकरि करना तब मध्य अनन्तानन्तका भेदरूप राशि निपजै, ताविषै फेरि धर्म्मद्रव्यके अधर्मद्रव्यके अगुरुलघु गुणके अविभागप्रतिच्छेद मिलाय जो महाराशि परिमाण राशि भया, ताकूं फेरि पूर्वोक्त विधानकरि शलाकात्रयनिष्ठापन करिये तब जो कोई मध्य अनन्तानन्तका भेदरूप राशि भया, ताकूं केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदनका समूह परिमाणविषै घटाय फेरि मिलाइये तब केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदरूप उत्कृष्ट अनन्तानन्त परिमाण राशि होय है।

उपमा प्रमाण आठ प्रकारका कहा गया है—१ पल्य, २ सागर, ३ सूच्यंगुल, ४ प्रतरागुल, ५ घनागुल, ६ जगत्श्रेणी, ७ जगतप्रतर, ८ जगतघन। पल्य तीन प्रकारका है—१ व्यवहारपल्य, २ उद्धारपल्य, ३ अद्धापल्य। इनमेसे व्यवहारपल्य तो रोमोकी सख्या मात्र ही है तथा उद्धारपल्यसे द्वीपसमुद्रोकी सख्या गिनते हैं और अद्धापल्यसे कर्मोकी स्थिति देवादिककी आयु स्थिति गिनते है। अब इनका परिमाण जाननेके लिये परिभाषा कहते हैं। अनन्त पुद्गलके परमाणुओके स्कन्धको एक अवसन्नासन्न कहते है उससे आठ आठ गुणे क्रमसे १ सन्नासन्न, २ तृटरेणु, ३ त्रसरेणु, ४ रथरेणु, ५ उत्तमभोगभूमिका बाल का अग्रभाग, ६ मध्यम भोगभूमिका, ७ जघन्य भोगभूमिका, ८ कर्मभूमिका (बाल का अग्रभाग), ९ लीख, १० सरसों, ११ यव, १२ अगुल ये बारह स्थान होते है। इस तरहसे अगुल हुआ सो उत्सेध अगुल है। इससे नारकी, तिर्यच, देव और मनुष्योके शरीरके प्रमाणका वर्णन किया जाता है तथा देवोके नगर व मन्दिरोका वर्णन किया जाता है। उत्सेध अगुलसे पाचसौ गुणा प्रमाणागुल है। इससे द्वीप, समुद्र, पर्वत आदिके परिमाणका वर्णन होता है। आत्मागुल जहा जैसे मनुष्यका हो उसी परिमाणका जानना। छह अगुलका एक पाद, दो पादका एक विलस्त, दो विलस्तका एक हाथ, दो हाथका एक भीष, दो भीषका एक धनुष, दो हजार धनुषका एक कोस और चार कोसका एक योजन होता है। सो यहाँ प्रमाणागुलसे उत्पन्न एक योजन प्रमाण ऊडा (गहरा) व चौडा एक गड्ढा करना, उसको—उत्तमभोगभूमिमे उत्पन्न हुए जन्मसे लगाकर सात दिन तकके मीढेके बालोके अग्रभागसे—भूमिके समान अत्यन्त ठोस भरना, उसमे रोम पैतालीस अकप्रमाण समावें, उस एक एक रोमखण्डको सौ सौ बरस बीतने पर काढे (निकाले)। जितने वर्षोमें

पूरे हों सो व्यवहार पल्य है । उन वर्षोके असख्यात समय होते है । उन रोमोंमेंसे एक एक रोमको, असख्यात कोडि वर्षके जितने समय हो, उतने उतने खण्ड करने पर उद्धारपल्यके रोम खण्ड होते है, उतने समय उद्धारपल्यके है ।

इन उद्धारपल्यके एक एक रोम खण्डके असंख्यात वर्षके जितने समय हो उतने खण्ड करने पर अद्धापल्यके रोमखण्ड होते है उसके समय भी इतने ही है । दस कोडाकोड़ी पल्यका एक सागर होता है । एक प्रमाणांगुल प्रमाण लम्बे एकप्रदेश प्रमाण चौड़े ऊँचे क्षेत्रको सूच्यंगुल कहते है । अद्धापल्यके अर्द्ध छेदोको विरलनकर एक एक अद्धापल्य उन पर स्थापित कर परस्पर गुणा करने पर जो परिमाण आवे उतने इसके प्रदेश है इसके वर्गको प्रतरागुल कहते है । सूच्यगुलके घनको घनागुल कहते है (एक अगुल चौडा इतना ही लम्बा और ऊँचा इसको घन अगुल कहते है) । सात राजू लम्बे एक प्रदेश प्रमाण चौडे ऊँचे क्षेत्रको जगतश्रेणी कहते है । इसकी उत्पत्ति इस तरह कि अद्धापल्यके अर्द्ध छेदोके असख्यातवे भागके प्रमाणको विरलनकर एक एक पर घनागुल दे परस्पर गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो सो जगतश्रेणी है, जगतश्रेणीके वर्गको जगतप्रतर कहते है । जगतश्रेणीके घनको जगतघन कहते है । सात राजू चौड़े लम्बे ऊँचेको जगतघन कहते है । यह लोकके प्रदेशोका प्रमाण है सो भी मध्य असख्यातका भेद है । ऐसे यह गणितसक्षेपसे कही है । गणितका विशेष कथन गोम्मटसार त्रिलोकसारसे जानना चाहिये । द्रव्यमे तो सूक्ष्म पुद्गल परमाणु क्षेत्रमे आकाशके प्रदेश, कालमें समय और भावमे अविभागप्रतिच्छेद इन चारों ही को परस्पर प्रमाण सज्ञा है । कमसे कम तो ये है और अधिकसे अधिक द्रव्यमे तो महास्कन्ध, क्षेत्रमे आकाश, कालमे तीनो काल और भावमे केवलज्ञान जानना चाहिये । कालमे एक आवलीके जघन्य युक्तासंख्यात समय है । असख्यात आवलीका मुहूर्त्त, तीस मुहूर्त्तका दिनरात, तीस दिनरातका एक मास और बारह मासका एक वष होता है, इत्यादि जानना चाहिये ।

अब लोकाकाश स्वरूप कहते है—

सव्वायासमणंतं, तस्स य बहुमज्झसंठिओ लोओ ।
सो केण वि णेय कओ, ण य धरिओ हरिहरादीहिं ॥११५॥

अन्वयार्थः—[सव्वायासमणंतं] आकाश द्रव्यका क्षेत्र (प्रदेश) अनन्त है [तस्स य बहुमज्झसंठिओ लोओ] उसके बहुमध्यदेश (ठीक बीचका क्षेत्र) मे स्थित लोक है [सो केण वि णेय कओ] वह किसी के द्वारा बनाया हुआ नही है [ण य धरिओ हरिहरादीहिं] तथा किसी हरिहरादिके द्वारा धारण (रक्षा) किया हुआ नही है ।

भावार्थः—केई अन्यमतमें कहते हैं कि लोककी रचना ब्रह्मा करता है, नारायण (विष्णु) रक्षा करता है, शिव संहार (नाश) करता है तथा कछुआ और शेषनाग इसको धारण किये हुए है, जब प्रलय होती है तब सब शून्य हो जाता है, ब्रह्मकी सत्ता मात्र रह जाती है । फिर ब्रह्मकी सत्तामेसे सृष्टिकी रचना होत इत्यादि अनेक कल्पित कहते है उस सबका निषेध इस गाथासे जान लेना चाहिये । लोक किसीके द्वारा बनाया हुआ नही है, धारण किया हुआ नही है, किसीके द्वारा इसका नाश भी नही होता है जैसा है वैसा ही सर्वज्ञने देखा है वह ही वस्तुस्वरूप है ।

अण्णोण्णपवेसेण य, दव्वाणं अच्छणं भवे लोओ ।
दव्वाणं णिच्चत्तो, लोयस्स वि मुणह णिच्चत्तं ॥११६

अन्वयार्थः—[दव्वाणं अच्छणं] जीवादिक द्रव्योका [अण्णोणपवेसेण य] परस्पर एक क्षेत्रावगाह प्रवेश (मिलापरूप अवस्थान) [लोओ] लोक [भवे] है [दव्वाणं णिच्चत्तो] द्रव्य है वे नित्य है [लोयस्स वि णिच्चत्त मुणह] इसलिये लोक भी नित्य है ऐसा जानना ।

भावार्थः—* छह द्रव्योके समुदायको लोक कहते हैं । हरेक द्रव्य+ नित्य है इसलिये लोक भी नित्य ही है ।

अब यदि कोई तर्क करे कि जो नित्य है तो फिर उत्पत्ति व नाश किसका होता है ? उसका समाधान करनेके लिये गाथा कहते है—

परिणामसहावादो, पडिसमयं परिणमंति दव्वाणि ।
तेसिं परिणामादो, लोयस्स वि मुणह परिणामं ॥११७॥

---

*[छह जातिके] ।
+[सामान्यविशेषरूप] ।

अन्वयार्थः—[दव्वाणि] द्रव्य [परिणामसहावादो] परिणामस्वभावी है इसलिये [पडिसमयं] प्रतिसमय [परिणमंति] परिणमते है [तेसिं परिणामादो] उनके परिणमनके कारण [लोयस्स वि परिणामं मुणह] लोकको भी परिणामी जानो ।

भावार्थः—द्रव्य है, वे परिणामी है । लोक है, सो—द्रव्योका समुदाय है इसलिये द्रव्योके परिणामी होनेके कारण लोक भी परिणामी हुआ । कोई पूछे परिणाम क्या ? उसका उत्तर—परिणाम नाम पर्यायका है । एक अवस्थारूप द्रव्यका पलट (बदल) कर दूसरी अवस्थारूप होना उसको पर्याय कहते है, जैसे—मिट्टी पिड अवस्थारूप थी सो पलटकर घडा बनी । इस तरह परिणामका स्वरूप जानना चाहिये । लोकका आकार तो नित्य है और द्रव्योंकी पर्यायें पलटती है इस अपेक्षासे इसको परिणामी कहते है ।

अब लोकका विस्तार कहते है—

सत्तेक्क पंच इक्का, मूले मज्झे तहेव बंभंते ।
लोयन्ते रज्जूओ, पुव्वावरदो य वित्थारो ॥११८॥

अन्वयार्थः—[पुव्वावरदो य] लोकका पूर्व पश्चिम दिशामें [मूले मज्झे] मूल (नीचे) और मध्य (बीच) मे क्रमसे [सत्तेक्क] सात राजू और एक राजूका विस्तार है [तहेव बंभंते पच इक्का लोयन्ते रज्जूओ वित्थारो] ऊपर ब्रह्मस्वर्गके अन्तमें पाँच राजूका विस्तार है और लोकके अन्तमे एक राजूका विस्तार है ।

भावार्थः—लोक, पूर्व पश्चिम दिशामें नीचेके भागमें सात राजू चौडा है । वहांसे अनुक्रमसे घटता घटता मध्यलोकमे एक राजू रह जाता है । फिर ऊपर अनुक्रमसे बढता २ ब्रह्मस्वर्गतक पाँच राजू चौड़ा हो जाता है । बादमें घटते घटते अन्तमे एक राजू रह जाता है इस तरह होते हुए खड़े किये गये डेढ़ मृदंग की तरह लोकका आकार हुआ ।

अब दक्षिण उत्तरके विस्तार व ऊँचाईको कहते हैं—

दक्खिणउत्तरदो पुण, सत्त वि रज्जू हवेदि सव्वत्थ ।
उड्ढं चउदहरज्जू सत्त वि रज्जूघणो लोओ ॥११९॥

अन्वयार्थः—[दक्खिणउत्तरदो पुण सव्वत्थ सत्त वि रज्जू हवेदि] लोकका दक्षिण उत्तर दिशामे सब ऊँचाई पर्यन्त सात राजूका विस्तार है। [उड्ढं चउदहरज्जू] ऊँचा चौदह राजू है [सत्त वि रज्जूघणो लोओ] और सात राजूका घनप्रमाण है।

भावार्थः—दक्षिण उत्तरमे सब जगह सात राजू चौडा है। ऊँचा चौदह राजू है। इस तरह लोकका घनफल करने पर तीनसौ तियालीस (३४३) राजू होता है। समान क्षेत्र खण्ड कर एक राजू चौड़ा, लम्बा, ऊँचा खण्ड करनेको घनफल कहते है।

अब ऊँचाईके भेद कहते है—

मेरुस्स हिट्ठभाये, सत्त वि रज्जू हवेइ अहलोओ।
उड्ढम्हि, उड्ढलोओ, मेरुसमो मज्झिमो लोओ ॥१२०॥

अन्वयार्थः—[मेरुस्स हिट्ठभाये] मेरुके नीचेके भागमे [सत्त वि रज्जू] सात राजू [अहलोओ] अधोलोक [हवेइ] है [उड्ढम्हि उड्ढलोओ] ऊपर सात राजू ऊर्ध्वलोक है। [मेरुसमो मज्झिमो लोओ] मेरु समान मध्य लोक है।

भावार्थः—मेरुके नीचे सात राजू अधोलोक है। ऊपर सात राजू ऊर्ध्वलोक है। बीचमे मेरु समान लाख योजनका मध्य लोक है। इस तरह तीन लोकका विभाग जानना चाहिये।

अब लोक शब्दका अर्थ कहते हैं—

दंसंति जत्थ अत्था, जीवादीया स भण्णदे लोओ।
तस्स सिहरम्मि सिद्धा, अंतविहीणा विरायंते ॥१२१॥

अन्वयार्थः—[जत्थ] जहाँ [जीवादीया] जीवादिक [अत्था] पदार्थ [दंसंति] देखे जाते है [स लोओ भण्णदे] वह लोक कहलाता है [तस्स सिहरम्हि] उसके शिखर पर [अंतविहीणा] अन्तरहित (अनन्त) [सिद्धा] सिद्ध [विरायंते] विराजमान है।

भावार्थः—'लोक—दर्शने' व्याकरणमें धातु है उसके आश्रयार्थमें अकार प्रत्ययसे लोक शब्द बनता है। इसलिये जिसमे जीवादिक द्रव्य देखे जाते है उसको लोक कहते है। उसके ऊपर अन्तमे कर्मरहित*शुद्धजीव अपने अनन्त गुण सहित अविनाशी अनन्त सुखमय सदा विराजमान हैं।

---

* [सख्या अपेक्षा अनन्त]।

अब लोकके जीवादिक छह द्रव्योंका वर्णन करेंगे। पहिले जीवद्रव्यको कहते है—

एइंदियेहिं भरिदो, पंचपयारेहिं सव्वदो लोओ।
तसनाडीए वि तसा, ण बाहिरा होंति सव्वत्थ ॥१२२॥

अन्वयार्थः—[लोओ] यह लोक [पंचपयारेहिं] पृथ्वी, अप् तेज, वायु, वनस्पति पचप्रकार कायके धारक [एइंदियेहिं] एकेन्द्रिय जीवोसे [सव्वदो] सब जगह [भरिदो] भरा हुआ है [तसनाडीए वि तसा] त्रसजीव त्रसनाड़ीमे हो है [सव्वत्थ बाहिरा ण होंति] बाहर नही है। ❋

भावार्थः—जीव द्रव्य उपयोग लक्षणवाला समान परिणामकी अपेक्षा सामान्य रूपसे एक है। तथापि वस्तु भिन्नप्रदेशसे अपने अपने स्वरूपको लिये भिन्न भिन्न अनन्त है। उनमे जो एकेन्द्रिय है वे तो सब लोकमे है और दोइन्द्रिय, तेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय त्रस है वे त्रसनाडीमे ही है।

अब बादर सूक्ष्मादि भेद कहते है।

पुण्णा वि अपुण्णा वि य, थूला जीवा हवंति साहारा।
छविहा सुहमा जीवा, लोयायासे वि सव्वत्थ ॥१२३॥

अन्वयार्थः—[साहारा] आधारसहित [जीवा] जीव [थूला] स्थूल (बादर) [हवंति] होते है [पुण्णा वि अपुण्णा वि य] वे पर्याप्त है और अपर्याप्त भी है [लोयायासे वि सव्वत्थ सुहमा जीवा छविहा] लोकाकाशमे सब जगह अन्य आधाररहित है वे सूक्ष्म जीव है और छह प्रकारके है।

अब बादरसूक्ष्म कौन कौन है सो कहते है—

पुढवीजलग्गिवाऊ, चत्तारि वि होंति बायरा सुहमा।
साहारणपत्तेया, वणप्फदी पंचमा दुविहा ॥१२४॥

अन्वयार्थः—[पुढवीजलग्गिवाऊ चत्तारि वि बायरा सुहमा होंति] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, ये चार तो बादर भी होते है तथा सूक्ष्म भी होते है [पंचमा वणप्फदी साहारणपत्तेया दुविहा] पांचवी वनस्पति साधारण और प्रत्येकके भेदसे दो प्रकारकी है।

❋ [सब लोकमे पृथ्वीकायादिक स्थूल तथा त्रसकायिक नही है]।

अब साधारण प्रत्येकके सूक्ष्मता कहते है—

साहारणा वि दुविहा, अणाइकाला य साइकाला य ।
ते वि य बादरसुहमा, सेसा पुण बायरा सव्वे ॥१२५॥

अन्वयार्थः—[साहारणा वि दुविहा] साधारण जीव दो प्रकार के है [अणाइ-काला य साइकाला य] १ अनादिकाला (नित्यनिगोद) २ सादिकाला (इतर निगोद) [ते वि य बादरसुहमा] वे दोनो ही बादर भी है और सूक्ष्म भी है [पुण सेसा सव्वे बायरा] और शेष सब (प्रत्येक वनस्पति वा त्रस) बादर ही है ।

भावार्थः—पहिले कहे जो सूक्ष्मजीव छह प्रकारके है उनमे से पृथ्वी, जल, तेज, वायु तो पहिली गाथामे कह चुके है इन ही चारोमे नित्यनिगोद और इतरनिगोद इन दोनोको मिलानेसे छह प्रकारके सूक्ष्मजीव होते है और बाकी सब बादर होते है ।

अब साधारणका स्वरूप कहते है—

साहारणाणि जेसिं, आहारुस्सासकायआऊणि ।
ते साहारणजीवा, णंताणंतप्पमाणाणं ॥१२६॥

अन्वयार्थः—[जेसिं] जिन [णंताणंतप्पमाणाणं] अनन्तानन्त प्रमाण जीवोके [आहारुस्सासकायआऊणि] आहार, उच्छ्वास, काय, आयु [साहारणाणि] साधारण (समान) है [ते साहारणजीवा] वे साधारण जीव है ।

उक्तं च गोम्मटसारे.—

"जत्थेक्कु मरइ जीवो, तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं ।
चंकमइ जत्थ एक्को, चंकमणं तत्थ णताणं ॥"

अन्वयार्थः—[जत्थ एक्को चकमइ] जहा एक साधारण निगोदिया जीव उत्पन्न होता है [तत्थ णताण चकमणं] वहां उसके साथ ही अनन्तानन्त जीव उत्पन्न होते है [जत्थेक्कु जीवो मरइ] और जहा एक निगोदिया जीव मरता है [तत्थ दु मरणं हवे अणंताण] वहा उसके साथ ही अनन्तानन्त समान आयुवाले मरते है ।

भावार्थः—एक जीव आहार करे वह ही अनन्तानन्त जीवोका आहार, एक जीव स्वासोस्वास ले वह ही अनन्तानन्त जीवोका स्वासोस्वास, एक जीवका शरीर वह

हो अनन्तानन्त जीवोंका शरीर, एक जीवकी आयु वह ही अनन्तानन्त जीवोंकी आयु, इस तरहसे समानता है इसीलिये साधारण नाम जानना चाहिये ।

अब सूक्ष्म और बादरका स्वरूप कहते है—

ण य जेसिं पडिखलणं, पुढवीतोएहिं अग्गिवाएहिं ।
ते जाण सुहुमकाया, इयरा पुण थूलकाया य ॥१२७॥

अन्वयार्थः—[जेसिं] जिन जीवोंका [पुढवीतोएहिं अग्गिवाएहिं] पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन इनसे [पडिखलणं ण य] रुकना नही होता है [ते सुहुमकाया जाण] उनको सूक्ष्म जीव जानो [इयरा पुण थूलकाया य] और जो इनसे रुक जाते है उनको बादर जानो ।

अब प्रत्येक और त्रसको कहते है—

***पत्तेया वि य दुविहा, णिगोदसहिदा तहेव रहिया य ।**
दुविहा होंति तसा वि य, वि-तिचउरक्खा तहेव पंचक्खा ॥१२८॥

अन्वयार्थः—[पत्तेया वि य दुविहा] प्रत्येक वनस्पति भी दो प्रकार की है [णिगोदसहिदा तहेव रहिया य] १ निगोदसहित और २ निगोदरहित [तसा वि य

---

*मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंदबीज बीजरुहा ।
सम्मुच्छिमा य भणिया, पत्तेयाणंतकाया य ॥१॥

अन्वयार्थः—[**मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंदबीज बीजरुहा**] जो वनस्पतियाँ मूल, अग्र, पर्व, कद, स्कन्ध तथा बीजसे पैदा होती है [**सम्मुच्छिमा य**] तथा जो सम्मूर्च्छन है [**पत्तेयाणंतकाया स**] वे वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित है तथा अप्रतिष्ठित भी है ।

भावार्थः—बहुत सी वनस्पतियाँ मूलसे पैदा होती है जैसे अदरक, हल्दी आदि । कोई वनस्पति अग्र भागसे उत्पन्न होती है जैसे गुलाब । किसी वनस्पतिकी उत्पत्ति पर्व (पगोली) से होती है जैसे ईख, बेत आदि । कोई वनस्पति कन्दसे पैदा होती है जैसे सूरण आदि । कोई वनस्पति स्कन्धसे पैदा होती है जैसे ढाक । बहुत सी वनस्पतिया बीजोसे पैदा होती है जैसे चना, गेहूँ आदि । कई वनस्पतियाँ पृथ्वी, जल आदिके सम्बन्धसे पैदा हो जाती है वे सम्मूर्च्छन है जैसे घास आदि । ये सभी वनस्पतिया सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दोनो प्रकारकी है ॥१॥

दुविहा होंति] त्रस भी दो प्रकारके है [वितिचउरक्खा तहेव पंचक्खा] १ विकलत्रय (दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय,) तथा २ पंचेन्द्रिय ।

भावार्थः—जिस वनस्पतिके आश्रित निगोद पाई जाती है वह साधारण है इसको सप्रतिष्ठित भी कहते है और जिसके आश्रित निगोद नही पाई जाती है वह प्रत्येक है इसको अप्रतिष्ठित भी कहते है । दोइन्द्रिय आदिको त्रस कहते है ।

अब पचेन्द्रियोके भेद कहते है—

पंचक्खा वि य तिविहा, जलथलआयासगामिणो तिरिया।
पत्तेयं ते दुविहा मणेण जुत्ता अजुत्ता य ॥१२६॥

गूढसिरसंधिपव्वं समभगमहीरुहं च छिण्णरुहं ।
साहारणं सरीर, तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—[**गूढसिरसधिपव्वं समभगमहीरुहं च छिण्णरुहं**] जिन वनस्पतियोके शिरा (तोरई आदिमे) सधि (खापोके चिह्न खरवूजे आदिमे) पर्व (पगोली गन्ने आदिमे) प्रगट न हो और जिनमे तन्तु पैदा न हुआ हो (भिडी आदिमे) तथा जो काटने पर फिर वढ जाय [**साहारण सरीरं**] वे सप्रतिष्ठित वनस्पति है [**तव्विवरीयं च पत्तेयं**] इनसे उलटी अप्रतिष्ठित समझनी चाहिये ॥२॥

मूले कंदे छल्ली, पवालसालदलकुसुमफलबीजे ।
समभगे सदि णंता, असमे सदि होति पत्तेया ॥३॥

अन्वयार्थः—[**मूले कदे छल्ली पवालसालदलकुसुमफलबीजे**] जिन वनस्पतियोके मूल (हल्दी, अदरक आदि) कन्द (सूरण आदि) छाल, नई कोपल, टहनी, फूल, फल तथा, वीज [**समभगे सदि णता**] तोडने पर बराबर टूट जाँय वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक है । [**असमे सदि होति पत्तेया**] तथा जो बरावर न टूटे वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक है ॥३॥

कंदस्स व मूलस्स व, सालाखंधस्स वा वि बहुलतरी ।
छल्ली सा णतजिया, पत्तेयजिया तु तणुकदरी ॥४॥

अन्वयार्थः—[**कंदस्स व मूलस्स व सालाखंधस्स वा वि बहुलतरी छल्ली सा णतजिया**] जिन वनस्पतियोके कन्द, मूल, टहनी, स्कन्धकी छाल मोटी होती है वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक (अनन्त जीवोका स्थान) जानना [**तु तणुकदरी पत्तेयजिया**] और जिनकी छाल पतली होती है वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक मानना चाहिये ।

अन्वयार्थः—[पंचक्खा तिरिया विय] पचेन्द्रिय तिर्यञ्च भी [जलथलआयासगामिणो] जलचर, थलचर, नभचरके भेदसे [तिविहा] तीन प्रकारके है [ते पत्तेयं दुविहा] वे प्रत्येक (तीनो ही) दो दो प्रकारके है [मणेण जुत्ता अजुत्ता य] १ मनसहित (सैनी) और २ मनरहित (असैनी) ।

अब इनके भेद कहते है—

ते वि पुणो वि य दुविहा, गब्भजजम्मा तहेव संमुच्छा ।
भोगभुवा गब्भभुवा, थलयर णहगामिणो सण्णी ॥१३०॥

अन्वयार्थः—[ते वि पुणो वि य दुविहा, गब्भजजम्मा तहव सम्मुच्छा] वे छह प्रकारके तिर्यंच गर्भज और सम्मूर्च्छनके भेदसे दो दो प्रकारके है [भोगभुवा गब्भभुवा थलयरणहगामिणो मण्णी] इनमे जो भोगभूमिके तिर्यच है वे थलचर नभचर ही है, जलचर नही है और सैनी ही हैं, असैनी नही है ।

अब अठचाणवे जीवसमासोको तथा तिर्यचोके पिच्चासी भेदोंको कहते है—

अट्ठ वि गब्भज दुविहा, तिविहा सम्मुच्छिणो वि तेवीसा ।
इदि पणसीदी भेया, सव्वेसिं होंति तिरियाणं ॥१३१॥

अन्वयार्थः—[अट्ठ वि गब्भज दुविहा] गर्भजके आठ भेद, ये पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे सोलह हुए [तेवीसा सम्मुच्छिणो वि तिविहा] सम्मूर्च्छनके तेईस भेद, ये पर्याप्त, अपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्तके भेदसे उनहत्तर हुए [इदि सव्वेसिं तिरियाणं पणसीदी भेया होंति] इसप्रकारसे सब तिर्यचोके पिच्यासी भेद होते है ।

भावार्थः—पहिले कर्मभूमिके गर्भज जीवोके जलचर, थलचर, नभचर, तीन भेद कहे है वे सैनी, असैनीके भेदसे छह हुए । इनमें भोगभूमिके सैनी थलचर और नभचर इन दोनोको मिलानेसे आठ हुए । ये आठो ही पर्याप्त, अपर्याप्तके भेदसे सोलह हो गये । सम्मूर्च्छनके पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, नित्यनिगोद सूक्ष्म और नित्यनिगोद वादरके भेदसे बारह हुए । इनमें वनस्पतिके दो भेद सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित मिलानेसे एकेन्द्रियके चौदह भेद हुए । इनमे विकलत्रयके तीन भेद मिलानेसे सतरह हुए । पचेन्द्रिय कर्मभूमिके जलचर, थलचर और नभचर ये सैनी असैनीके भेदसे

छह हुए । सत्रह और छह मिलाने से तेईस हुए । ये पर्याप्त, अपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्तके भेदसे उनहत्तर हुए । इस तरह सोलह और उनहत्तर मिलानेसे कुल पिच्यासी भेद होते है ।

अब मनुष्योंके भेद कहते है—

अज्जव मिलेच्छखंडे, भोगभूमीसु वि कुभोगभूमीसु ।
मणुआ हवंति दुविहा, णिव्वित्ति अपुण्णगा पुण्णा ॥१३२॥

अन्वयार्थः—[मणुआ] मनुष्य [अज्जव मिलेच्छखडे] आर्यखडमे, म्लेच्छखडमें [भोगभूमीसु वि कुभोगभूमीसु] भोगभूमिमे तथा कुभोगभूमिमे [हवंति] है ये चारो ही [पुण्णा] पर्याप्त [णिव्वित्ति अपुण्णगा] और निवृत्ति अपर्याप्तके भेदसे [दुविहा] दो दो प्रकारके होकर सब आठ भेद होते है ।

सम्मुच्छणा मणुस्सा, अज्जवखंडेसु होंति णियमेण ।
ते पुण लद्धि अपुण्णा, णारय देवा वि ते दुविहा ॥१३३॥

अन्वयार्थः—[सम्मुच्छणा मणुस्सा] सम्मूर्च्छन मनुष्य [अज्जवखंडेसु] आर्यखडमे ही [णियमेण] नियमसे [होंति] होते है [ते पुण लद्धिअपुण्णा] वे लब्ध्यपर्याप्तक ही है [णारय देवा वि ते दुविहा] नारकी तथा देव, पर्याप्त और निर्वृ त्यपर्याप्तके भेदसे चार प्रकारके है ।

भावार्थः—इस तरह तिर्यंचोके पिच्यासी भेद, मनुष्योके नौ और नारकी तथा देवोके चार, सब मिलाकर अठ्याणवे भेद हुए । बहुतोको समानतासे एकत्रित करके कहने (सग्रह करके सक्षेपसे कहने) को समास कहते है । यहा पर बहुतसे जीवोको सक्षेपसे कहनेको जीव समास जानना चाहिये ।

इस तरह जीवसमासका वर्णन किया ।

अब पर्याप्तिका वर्णन करते है—

आहारसरीरिंदियणिस्सासुस्सासभास-मणसाणं ।
परिणइ वावारेसु य, जाओ छच्चेव सत्तीओ ॥१३४॥

अन्वयार्थः—[आहारसरीरिंदियणिस्सासुस्सासभासमणसाणं] आहार, शरीर, इन्द्रिय, स्वासोस्वास, भाषा और मन [परिणइ वावारेसु य जाओ छच्चेव सत्तीओ] इनकी परिणमनकी प्रवृत्तिमे सामर्थ्य सो छह प्रकारकी पर्याप्ति है ।

भावार्थः—आत्माके यथायोग्य कर्मका उदय होनेपर आहारादिक ग्रहणकी शक्तिका होना सो शक्तिरूप पर्याप्ति है वह छह प्रकारकी है ।

अब शक्तिका कार्य कहते है—

तस्सेव कारणाणं, पुग्गलखंधाण जा हु णिप्पत्ति ।
सा पज्जत्ती भण्णदि, छब्भेया जिणवरिंदेहिं ॥१३५॥

अन्वयार्थः—[तस्सेव कारणाणं] उस शक्ति प्रवृत्तिकी पूर्णताको कारण जो [पुग्गलखंधाण जा हु णिप्पत्ति] पुद्गल स्कन्धोकी निष्पत्ति (पूर्णता होना) [सा] वह [जिणवरिंदेहिं] जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा [छब्भेया] छह भेद वाली [पज्जत्ती] पर्याप्ति [भण्णदि] कही गई है ।

अब पर्याप्त निर्वृ त्यपर्याप्तके काल को कहते है—

***पज्जत्तिं गिह्ण्ंतो, मणुपज्जत्तिं ण जाव समणोदि ।**
ता णिव्वत्ति अपुण्णो, मणपुण्णो भण्णदे पुण्णो ॥१३६॥

---

*पज्जत्तस्स य उदये, णिय णिय पज्जत्ति णिट्ठिदो होदि ।
जाव सरीरमपुण्णं, णिव्वत्तियपुण्णगो ताव ॥१॥

अन्वयार्थः—[पज्जत्तस्स य उदये] पर्याप्ति नामक नामकर्मके उदयसे [णिय णिय पज्जत्ति णिट्ठिदो होदि] अपनी अपनी पर्याप्ति वनाता है [जाव सरीरमपुण्ण] जबतक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नही होती है [ताव णिव्वत्तियपुण्णगो] तवतक निर्वृ त्यपर्याप्तक कहलाता है ।

भावार्थः—जो पर्याप्ति कर्मके उदय होनेसे लब्धि (शक्ति) की अपेक्षासे पर्याप्त है किन्तु निर्वृ त्ति (शरीरपर्याप्ति वनने) की अपेक्षा पूर्ण नही है वह निर्वृ त्यपर्याप्तक कहलाता है ।

तिण्णसया छत्तीसा, छावट्ठीसहस्सगाणि मरणानि ।
अन्तोमुहुत्तकाले, तावदिया चेव खुद्दभवा ॥२॥

अन्वयार्थः—[**पज्जत्ति गिह्णंतो**] यह जीव पर्याप्तिको ग्रहण करता हुआ [**जाव**] जबतक [**मणुपज्जत्ति**] मनपर्याप्तिको [**समणोदि ण**] पूर्ण नही करता है [**ता णिव्वत्ति अपुण्णो**] तबतक निर्वृत्यपर्याप्तक कहलाता है [**मणपुण्णो पुण्णो भण्णदे**] जब मनपर्याप्ति पूर्ण हो जाती है तब पर्याप्तक कहलाता है ।

भावार्थः—यहा सैनी पचेन्द्रिय जीवकी अपेक्षा मनमे रख कर ऐसा कथन किया है । अन्य ग्रन्थोमे जबतक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नही होती है तबतक निर्वृत्यपर्याप्तक है, ऐसा कथन सब जीवोका कहा है ।

अन्वयार्थः—[**अंतोमुहुत्तकाले**] लब्ध्यपर्याप्तक जीवके एक अतर्मुहूर्तमे [**तिण्णसया छत्तीसा छावट्ठीसहस्सगाणि मरणानि**] ६६३३६ क्षुद्रमरण होते है [**तावदिया चेव खुद्दभवा**] और उतने ही क्षुद्र जन्म होते है ।

सीदीसट्ठातालं, वियले चउवास होंति पंचक्खे ।
छावट्ठि च सहस्सा, सयं च बत्तीसमेयक्खे ।। ३ ।।

अन्वयार्थः—[**वियले सीदीसट्ठाताल**] अन्तर्मुहूर्तकालमे द्वीद्रिय लब्ध्यपर्याप्तक ८०, त्रीद्रिय लब्ध्यपर्याप्तक ६० चतुरिंद्रिय लब्ध्यपर्याप्तक ४०, [**पंचक्खे चउवास**] पचेद्रिय लब्ध्यपर्याप्तक २४ [**एयक्खे छावट्ठि च सहस्सा सय च बत्तीसं**] और एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक ६६१३२ [**होंति**] जन्म मरण करते है ।

भावार्थः—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रियके समस्त भवोंको मिलानेसे ६६३३६ क्षुद्रभव होते है।

पुढविदगागणिमारुदसाहारणथूलसुहुमपत्तेया ।
एदेसु अपुण्णेसु य, एक्केक्के वारखं छक्कं ।। ४ ।।

अन्वयार्थः—[**पुढविदगागणिमारुवसाहारणथूलसुहुमपत्तेया**] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चारो ही वादर और सूक्ष्म इसप्रकार आठ भेद हुए तथा वादरसाधारण, सूक्ष्मसाधारण और प्रत्येक इसप्रकार तीन भेद वनस्पतिके हुए [**एदेसु अपुण्णेसु य एक्केक्के वारख छक्क**] इन ग्यारह प्रकारके एकेन्द्रिय जीवोमें हर एक जीवके एक अन्तर्मुहूर्तमें ६०१२ जन्म मरण होते है। इसप्रकार सबका योग करनेसे एकेन्द्रिय जीवोके ६६१३२ भव होते है।

अब लब्ध्यपर्याप्तका स्वरूप कहते है—

उस्सासट्ठारसमे, भागे जो मरदि ण य समाणेदि ।
एक्का वि य पज्जत्ती, लद्धि-अपुण्णो हवे सो दु ॥१३७॥

अन्वयार्थः—[जो उस्सासट्ठारसमे भागे मरदि] जो जीव स्वासके अठारहवें भागमें मरता है [एक्का वि य पज्जत्ती ण य समाणेदि] एक भी पर्याप्तिको पूर्ण नही करता है [सो दु लद्धिअपुण्णो हवे] वह जीव लब्ध्यपर्याप्तक कहलाता है ।

अब एकेन्द्रियादि जीवोके पर्याप्तियोकी सख्या कहते है—

लद्धियपुण्णे पुण्णं, पज्जत्ती एयक्खवियलसण्णीणं ।
चदु पण छक्कं कमसो, पज्जत्तीए वियाणेह ॥१३८॥

अन्वयार्थः—[एयक्खवियलसण्णीणं] एकेन्द्रिय, विकलत्रय तथा संज्ञी जीवके [कमसो] क्रमसे [चदु पण छक्कं] चार, पाच, छह [पज्जत्तीए वियाणेह] पर्याप्तियां जानो [लद्धियपुण्णे पुण्णं] लब्ध्यपर्याप्तक अपर्याप्तक है इसके पर्याप्तिया नही होती ।

भावार्थः—एकेन्द्रियादिके क्रमसे पर्याप्तिया कही है । यहा असैनीका नाम लिया नही सो सैनीके छह, तो असैनीके पांच जानना चाहिये । निर्वृ त्यपर्याप्तक ग्रहण किये ही है पूर्ण होगे ही, इसलिये जो सख्या कही है सो ही है । लब्ध्यपर्याप्तक यद्यपि ग्रहण किया है तथापि पूर्ण हो सका नही इसलिये उसको अपूर्ण ही कहा ऐसा सूचित होता है । इस तरह पर्याप्तिका वर्णन किया ।

अब प्राणोका वर्णन करते है । पहिले प्राणोका स्वरूप वा सख्या कहते है—

मणवयणकायइंदियणिस्सासुस्सासआउ उदयाणं ।
जेसिं जोए जम्मदि, मरदि विओगम्मि ते वि दह पाणा ॥१३९॥

अन्वयार्थः—[मणवयणकायइंदियणिस्सासुस्सासआउ उदयाणं] जो मन, वचन काय, इन्द्रिय, स्वासोस्वास और आयु [जेसिं जोए जम्मदि] इनके सयोगसे उत्पन्न हो जीवे [विओगम्मि मरदि] वियोगसे मरे [ते पाणा दह] वे प्राण है और वे दस होते है ।

भावार्थः—जीवका अर्थ प्राण धारण करना है । व्यवहारनयसे दस प्राण होते है । उनमें यथायोग्य प्राणसहित जीवे उसकी जीवसंज्ञा है ।

अब एकेन्द्रियादि जोवोके प्राणोकी सख्या कहते हैं—

एयक्खे चदुपाणा, बितिचउरिंदिय असण्णिसण्णीणं ।
छह सत्त अट्ठ णवयं, दह पुण्णाणं कमे पाणा ॥१४०॥

अन्वयार्थः—[एयक्खेचदुपाणा] एकेन्द्रियके चार प्राण है [बितिचउरिंदिय असण्णिसण्णीणं पुण्णाणं कमे छह सत्त अट्ठ णवय दह पाणा] दोइन्द्रिय, तेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असैनी पचेन्द्रिय, सैनी पचेन्द्रियके, पर्याप्तोके अनुक्रमसे छह, सात, आठ, नो, दस प्राण है । ये प्राण पर्याप्त अवस्थामे कहे गये है ।

अब इन ही जीवोके अपर्याप्त अवस्थामे कहते है—

दुविहाणमपुण्णाणं, इगिबितिचउरक्ख अंतिमदुगाणं ।
तिय चउ पण छह सत्त य, कमेण पाणा मुणेयव्वा ॥१४१॥

अन्वयार्थः—[दुविहाणमपुण्णाण इगिबितिचउरक्ख अतिमदुगाणं] दो प्रकारके अपर्याप्त जो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय असैनी तथा सैनी पचेन्द्रियोके [तिय चउ पण छह सत्त य कमेण पाणा मुणेयव्वा] तीन, चार, पाँच, छह, सात ऐसे अनुक्रमसे प्राण जानना चाहिये ।

भावार्थः—निर्वृत्त्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त एकेन्द्रियके तीन, द्वीन्द्रियके चार, तेइन्द्रियके पाँच, चतुरिन्द्रियके छह, असैनी सैनी पचेन्द्रियके सात प्राण जानना चाहिये ।

अब विकलत्रय जीवोका ठिकाना (स्थान) कहते है—

बितिचउरक्खा जीवा, हवंति णियमेण कम्मभूमीसु ।
चरमे दीवे अद्धे, चरमसमुद्दे वि सव्वेसु ॥१४२॥

अन्वयार्थः—[बितिचउरक्खा जीवा] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय (विकलत्रय) जीव [णियमेण कम्मभूमीसु हवति] नियमसे कर्मभूमिमे ही होते है [चरमे दीवे अद्धे] तथा अन्तके आधे द्वीपमे [चरमसमुद्दे वि सव्वेसु] और अन्तके सम्पूर्ण समुद्रमे होते है ।

भावार्थः—पाँच भरत, पाँच ऐरावत, पाँच विदेह ये कर्मभूमिके क्षेत्र है तथा अन्तके स्वयंप्रभ द्वीपके मध्य स्वयंप्रभ पर्वत है उससे आगे आधा द्वीप तथा अन्तका स्वयंभूरमण पूरा समुद्र इन स्थानोमे विकलत्रय हैं और स्थानोंमें नही है।

अब अढाई द्वीपके बाहर तिर्यंच है उनकी व्यवस्था हैमवत क्षेत्रके समान है ऐसा कहते है—

माणुसखित्तस्स बहिं, चरमे दीवस्स अद्धयं जाव।
सव्वत्थे वि तिरिच्छा, हिमवदतिरिएहिं सारिच्छा ॥१४३॥

अन्वयार्थः—[माणुसखित्तस्स बहिं] मनुष्यक्षेत्रसे बाहर मानुषोत्तर पर्वतसे आगे [चरमे दीवस्स अद्धय जाव] अन्तके स्वयप्रभ द्वीपके आधे भाग तक [सव्वत्थे वि तिरिच्छा] बीचके सब द्वीप समुद्रोके तिर्यच [हिमवदतिरिएहिं सारिच्छा] हैमवत क्षेत्रके तिर्यचोके समान है।

भावार्थः—हैमवतक्षेत्रमें जघन्य भोगभूमि है। मानुषोत्तर पर्वतसे आगे असख्यात द्वीप समुद्र अर्थात् आधे स्वयप्रभ नामक अन्तिम द्वीप तक सब स्थानोमें जघन्य भोगभूमिकी रचना है वहाँके तिर्यचोकी आयु काय हैमवत क्षेत्रके तिर्यचोके समान है।

अब जलचर जीवोके स्थान कहते है—

लवणोए कालोए, अंतिमजलहिम्मि जलयरा संति।
सेससमुद्दे सु पुणो, ण जलयरा संति णियमेण ॥१४४॥

अन्वयार्थः—[लवणोए कालोए] लवणोदधि समुद्रमें, कालोदधि समुद्रमें [अंतिमजलहिम्मि जलयरा संति] अन्तके स्वयभूरमण समुद्रमे जलचर जीव है [सेससमुद्देसु पुणो] और अवशेष बीचके समुद्रोमे [णियमेण जलयरा ण संति] नियमसे जलचर जीव नही है।

अब देवोके स्थान कहेगे। पहिले भवनवासी व्यन्तरोंके कहते है—

खरभायपंकभाए, भावणदेवाण होंति भवणाणि।
वितरदेवाण तहा, दुण्हं पि य तिरिय-लोयम्मि ॥१४५॥

अन्वयार्थः—[खरभायपंकभाए] खरभाग पंकभागमे [भावणदेवाण] भवन-वासियोके [भवणाणि] भवन [तहा] तथा [वितरदेवाण] व्यन्तर देवोके निवास [होंति] है [दुह्णं पि य तिरियलोयम्मि] और इन दोनोके तिर्यग्लोकमे भी निवास है।

भावार्थः—पहिली पृथ्वी रत्नप्रभा एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। उसके तीन भाग है, उनमे खरभाग सोलह हजार योजनका है। उसमे असुरकुमार बिना नौ कुमार भवनवासियोंके भवन है तथा राक्षसकुल बिना सात कुल व्यन्तरोके निवास हैं। दूसरा पकभाग चौरासी हजार योजनका है उसमे असुरकुमार भवनवासी तथा राक्षसकुल व्यन्तर रहते है। तिर्यग्लोक (मध्यलोक) के असख्याते द्वीप समुद्रोमे भवनवासियोके भी भवन है और व्यन्तरोके भी निवास है।

अब ज्योतिषी, कल्पवासी तथा नारकियोके स्थान कहते है—

जोइसियाण विमाणा, रज्जूमित्ते वि तिरियलोए वि।
कप्पसुरा उड्ढम्हि य, अहलोए होंति णेरइया ॥१४६॥

अन्वयार्थः—[जोइसियाण विमाणा] ज्योतिषो देवोके विमान [रज्जूमित्ते वि तिरियलोए वि] एक राजू प्रमाण तिर्यग्लोक के असख्यात द्वीप समुद्रोके ऊपर है [कप्पसुरा उड्ढम्हि य] कल्पवासी ऊर्ध्वलोकमे है [णेरइया अहलोए होंति] नारकी अधोलोकमें है।

अब जीवोकी सख्या कहेंगे। पहिले तेजवातकायके जीवोकी संख्या कहते है—

वादरपज्जत्तिजुदा, घणआवलिया असंख-भागा दु।
किंचूणलोयमित्ता, तेऊ वाऊ जहाकमसो ॥१४७॥

अन्वयार्थः—[तेऊ वाऊ] अग्निकाय, वातकायके [वादरपज्जत्तिजुदा] वादर-पर्याप्तसहित जीव [घणआवलिया असंखभागा दु] घन आवलीके असख्यातवे भाग [किंचूणलोयमित्ता] तथा कुछ कम लोकके प्रदेशप्रमाण [जहाकमसो] यथा अनुक्रम जानना चाहिये।

भावार्थः—अग्निकायके जीव घनआवलीके असख्यातवे भाग, वातकायके कुछ कम लोकप्रदेशप्रमाण है।

अब पृथ्वी आदिकी संख्या कहते है—

पुढवीतोयसरीरा, पत्तेया वि य पइट्ठिया इयरा।
होंति असंखा सेढी, पुण्णापुण्णा यत ह य तसा ॥१४८॥

अन्वयार्थः—[पुढवीतोयमरीरा] पृथ्वीकायिक, अप्कायिक [पत्तेया वि य पइट्ठिया इयरा] प्रत्येक वनस्पतिकायिक सप्रतिष्ठित वा अप्रतिष्ठित [तह य तसा] तथा त्रस ये सब [पुण्णापुण्णा] पर्याप्त अपर्याप्त जीव है [असंखा सेढी होंति] वे जुदे जुदे असख्यात जगत्श्रेणीप्रमाण है।

वादरलद्धि अपुण्णा, असंखलोया हवंति पत्तेया।
तह य अपुण्णा सुहुमा, पुण्णा वि य संखगुणगणिया ॥१४९॥

अन्वयार्थः—[पत्तेया] प्रत्येक वनस्पति तथा [वादरलद्धिअपुण्णा] वादर लब्ध्यपर्याप्तक जीव [असंखलोया हवंति] असंख्यात लोकप्रमाण है [तह य अपुण्णा सुहुमा] इसी तहर सूक्ष्मअपर्याप्त असंख्यात लोकप्रमाण है [पुण्णा वि य संखगुणगणिया] और सूक्ष्मपर्याप्तक जीव संख्यातगुणे है।

सिद्धा संति अणंता, सिद्धाहिंतो अणंतगुणगणिया।
होंति णिगोदा जीवा, भाग अणंता अभव्वा य ॥१५०॥

अन्वयार्थः—[सिद्धा अणंता सति] सिद्ध जीव अनन्त है [सिद्धाहिंतो अणंतगुणगणिया णिगोदा जीवा होंति] सिद्धोसे अनन्तगुणे निगोदिया जीव है [भाग अणता अभव्वा य] और सिद्धोके अनन्तवे भाग अभव्य जीव है।

सम्मुच्छिमा हु मणुया, सेढियसंखिज्ज भागमित्ता हु।
गब्भजमणुया सव्वे, संखिज्जा होंति णियमेण ॥१५१॥

अन्वयार्थः—[सम्मुच्छिा हु मणुया] सम्मूर्छन मनुष्य [सेढियसंखिज्ज भागामिचा हु] जगतश्रेणीके असख्यातवे भागमात्र है [गब्भजमणुया सव्वे] और सब गर्भज मनुष्य [णियमेण सखिज्जा होंति] नियमसे संख्यात ही है।

अब सान्तर निरन्तरको कहते है—

देवा वि णारया वि य, लद्धियपुण्णा हु संतरा होंति।
सम्मुच्छिया वि मणुया, सेसा सव्वे णिरंतरया ॥१५२॥

अन्वयार्थः—[देवा वि णारया वि य लद्धियपुण्णा हु] देव, नारकी, लब्ध्यपर्याप्तक [सम्मुच्छिया वि मणुया] और सम्मूर्छन मनुष्य [संतरा होंति] ये तो सान्तर (अन्तर सहित) है [सेसा सव्वे णिरंतरया] अवशेष सब जीव निरन्तर है ।

भावार्थः—पर्यायसे अन्य पर्याय पावे, फिर उसी पर्यायको पावे, जबतक बीचमें अन्तर रहे उसको सान्तर कहते है । यहाँ नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर कहा है । जो देव, नारकी मनुष्य तथा लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी उत्पत्ति किसी कालमे न होय सो अन्तर कहलाता है और अन्तर न पड़े सो निरन्तर कहलाता है । वह वैक्रियकमिश्रकाययोगी जो देव नारकी उनका तो बारह मुहूर्त्तका कहा है । कोई ही उत्पन्न न हो तो बारह मुहूर्त्त तक उत्पन्न नही होता है और सम्मूर्च्छन मनुष्य कोई ही न होय तो पल्यके असख्यातवे भाग काल तक न होय । ऐसा अन्य ग्रन्थोमे कहा है । अवशेष सब जीव निरन्तर उत्पन्न होते है ।

अब जीवोकी संख्या कर अल्प बहुत्व कहते है—

मणुयादो णेरइया, णेरइयादो असंखगुणगणिया ।
सव्वे हवंति देवा, परोयवणप्फदी तत्तो ॥१५३॥

अन्वयार्थः—[मणुयादो णेरइया] मनुष्योसे नारकी [असंखगुणगणिया हवंति] असख्यात गुणे है [णेरइयादो सव्वे देवा] नारकियोसे सब देव असख्यात गुणे है [तत्तो परोयवणप्फदी] देवोसे प्रत्येक वनस्पति जीव असख्यात गुणे है ।

पंचक्खा चउरक्खा, लद्धिपुयएणा तहेव तेयक्खा ।
वेयक्खा वि य कमसो, विसेससहिदा हु सव्व संखाए ॥१५४॥

अन्वयार्थः—[पंचक्खा चउरक्खा] पचेन्द्रिय, चौइन्द्रिय [तहेव तेयक्खा] तेइन्द्रिय [वेयक्खा वि य] द्वीन्द्रिय [सव्व लद्धियपुण्णा] ये सब लब्ध्यपर्याप्तक जीव [संखाए विसेससहिदा] सख्यामे विशेषाधिक है । कुछ अधिकको विशेषाधिक कहते है सो ये अनुक्रमसे बढते बढ़ते हैं ।

चउरक्खा पंचक्खा, वेयक्खा, तह य जाण तेयक्खा ।
एदे पज्जत्तिजुदा, अहिया अहिया कमेणेव ॥१५५॥

अन्वयार्थः—[चउरक्खा पंचक्खा] चौइन्द्रिय, पचेन्द्रिय [वेयक्खा तह य जाण तेयक्खा] द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, [एदे पज्जत्तिजुदा] ये पर्याप्तिसहित जीव [कमेणेव] अनुक्रमसे [अहिया अहिया] अधिक अधिक जानो ।

परिवज्जिय सुहुमाणं, सेसतिरिक्खाण पुण्णदेहाणं ।
इक्को भागो होदि हु, संखातीदा अपुण्णाणं ॥१५६॥

अन्वार्थः—[सुहुमाणं परिवज्जिय] सूक्ष्म जीवोको छोड़कर [सेसतिरिक्खाण पुण्णदेहाण] अवशेष पर्याप्तितिर्यंच है [इक्को भागो होदि हु] उनका एक भाग तो पर्याप्त है [सखातीदा अपुण्णाणं] और बहुभाग असख्याते अपर्याप्त है ।

भावार्थः—वादर जीवोमे पर्याप्त थोड़े है, अपर्याप्त बहुत है ।

सुहुमापज्जत्ताणं, इक्को भागो हवेइ णियमेण ।
संखिज्जा खलु भागा, तेसिं पज्जत्तिदेहाणं ॥१५७॥

अन्वयार्थः—[सुहुमापज्जत्ताणं] सूक्ष्म पर्याप्तक जीव [संखिज्जा खलु भागा] सख्यात भाग है [तेसिं पज्जत्तिदेहाणं] उनमे अपर्याप्तक जीव [णियमेण] नियमसे [इक्को भागो हवेइ] एक भाग है ।

भावार्थः— सूक्ष्म जीवोमें पर्याप्त बहुत है अपर्याप्त थोड़े है ।

संखिज्जगुणा देवा, अंतिमपटलादु आणदं जाव ।
तत्तो असंखगुणिदा, सोहम्मं जाव पडि-पडलं ॥१५८॥

अन्वयार्थः—[देवा अंतिमपटलादु आणदं जाव] देव अन्तिमपटल (अनुत्तर विमान) से लेकर नीचे आनत स्वर्गके पटलपर्यंत [संखिज्जगुणा] सख्यातगुणे है [तत्तो] उसके बाद नीचे [सोहम्मं जाव] सौधर्मपर्यंत [असंखगुणिदा] असख्यात-गुणे [पडिपडल] पटलपटलप्रति है ।

सत्तमणारयहिंतो, असंखगुणिदा हवंति णेरइया ।
जावय पढमं णरयं, बहुदुक्खा होंति हेट्ठिट्ठा ॥१५९॥

अन्वयार्थः—[सत्तमणारयहिंतो] सातवे नरकसे लेकर ऊपर [जावय पढमं णरयं] पहिले नरक तक जीव [असंखगुणिदा हवंति] असख्यात २ गुणे है [णेरइया] पहिले नरकसे लेकर [हेट्ठिट्ठा] नीचे २ [बहुदुक्खा होंति] बहुत दु ख है ।

कप्पसुरा भावणया, विंतरदेवा तहेव जोइसिया ।
बे होंति असंखगुणा, संखगुणा होंति जोइसिया ॥१६०॥

अन्वयार्थः—[कप्पसुरा भावणया विंतरदेवा] कल्पवासी देवोसे भवनवासी देव व्यन्तरदेव [वे असखगुणा होंति] ये दो राशि तो असंख्यातगुणी है [जोइसिया संखगुणा होंति] और ज्योतिषी देव व्यन्तरोसे सख्यातगुणे है ।

अब एकेन्द्रियादिक जीवोकी आयु कहते है—

पत्तेयाणं आऊ, वाससहस्साणि दह हवे परमं ।
अन्तोमुहुत्तमाऊ, साहारणसव्वसुहुमाणं ॥१६१॥

अन्वयार्थः—[पत्तेयाणं] प्रत्येक वनस्पतिकी [परमं] उत्कृष्ट [आऊ] आयु [दह] दस [वाससहस्साणि] हजार वर्षकी [हवे] है [साहारणसव्वसुहुमाणं] साधारणनित्य, इतरनिगोद सूक्ष्म वादर तथा सब ही सूक्ष्म पृथ्वी, अप्, तेज, वातकायिक जीवोकी उत्कृष्ट [आऊ] आयु [अंतोमुहुत्तं] अतर्मुहूर्तकी है ।

अब बादर जीवोकी आयु कहते है—

बावीस सत्तसहसा, पुढवीतोयाण आउसं होदि ।
अग्गीणं तिण्णि दिणा, तिण्णि सहस्साणि वाऊणं ॥१६२॥

अन्वयार्थः— [पुढवीतोयाण आउसं] पृथ्वीकायिक और अप्कायिक जीवोकी उत्कृष्ट आयु क्रमसे [बावीस सत्तसहसा] बाईस हजार वर्ष और सात हजार वर्षकी [होदि] है [अग्गीणं तिण्णि दिणा] अग्निकायिक जीवोकी उत्कृष्ट आयु तीन दिनकी है [तिण्णि सहस्साणि वाऊणं] वायुकायिक जीवोको उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्य की है ।

अब द्वीन्द्रिय आदिककी उत्कृष्ट आयु कहते हैं—

वारसवास वियक्खे एगुणवण्णा दिणाणि तेयक्खे ।
चउरक्खे छम्मासा, पंचक्खे तिण्णि पल्लाणि ॥१६३॥

अन्वयार्थः—[बारसवास वियक्खे] द्वीन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष की है [एगुणवण्णा दिणाणि तेयक्खे] त्रीन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु उनचास (४९) दिनकी है [चउरक्खे छम्मासा] चतुरिन्द्रिय जीवो की उत्कृष्ट आयु छह मासकी है [पचक्खे तिण्णि पल्लाणि] पचेन्द्रिय जीवोकी उत्कृष्ट आयु भोगभूमिकी अपेक्षा तीन पल्यकी है ।

अब सब ही तिर्यंच और मनुष्योंकी जघन्य आयु कहते है—

सव्वजहरणं आऊ, लद्धिअपुरणाण सव्वजीवाणं ।
मज्झिमहीणमुहुत्तं, पज्जत्तिजुदाण णिक्किट्ठं ॥१६४॥

अन्वयार्थः—[लद्धिअपुण्णाण सव्वजीवाणं] लब्ध्यपर्याप्तक सब जीवोंकी [सव्वजहण्णं आऊ] जघन्य आयु [मज्झिमहीणमुहुत्तं] मध्यमहीन मुहूर्त्त है (यह क्षुद्रभवमात्र जानना चाहिये एक उस्वासके अठारहवे भाग मात्र है) [पज्जत्तिजुदाण णिक्किट्ठं] लब्ध्यपर्याप्तक (कर्मभूमि के तिर्यंच मनुष्य सबही पर्याप्त) जीवोकी जघन्य आयु भी मध्यमहीनमुहूर्त है (यह पहिलेसे बडा मध्यअन्तर्मुहूर्त है) ।

अब देवनारकियोकी आयु कहते है—

देवाण णारयाणं, सायरसंखा हवंति तेत्तीसा ।
उक्किट्ठं च जहरणं, वासाणं दस सहस्साणि ॥१६५॥

अन्वयार्थः—[देवाण णारयाण] देवोकी तथा नारकी जीवों की [उक्किट्ठं] उत्कृष्ट आयु [तेत्तीसा] तेतीस [सायरसखा हवति] सागरकी है [जहण्णं वासाणं दस सहस्साणि] और जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है ।

भावार्थः—यह सामान्य देवोकी अपेक्षा कथन है विशेष त्रिलोकसार आदि ग्रन्थोसे जानना चाहिये ।

अब एकेन्द्रिय आदि जीवोंकी शरीरकी अवगाहना उत्कृष्ट व जघन्य दस गाथाओमें कहते है—

अंगुलअसंखभागो, एयक्खचउक्कदेहपरिमाणं ।
जोयणसहस्समहियं, पउमं उक्कस्सयं जाण ॥१६६॥

अन्वयार्थः—[एयक्खचउक्कदेहपरिमाणं] एकेन्द्रिय चतुष्क (पृथ्वी, अप, तेज, वायुकायके) जीवोकी अवगाहना [उक्कसय] जघन्य तथा उत्कृष्ट [अंगुल-असंखभागो] घन अंगुलके असख्यातवे भाग [जाण] जानो (यहा सूक्ष्म तथा वादर पर्याप्तक अपर्याप्तकका शरीर छोटा बडा है तो भी घनागुलके असख्यातवे भाग ही सामान्यरूपसे कहा है । विशेष गोम्मटसारसे जानना चाहिये और अंगुल उत्सेधअगुल आठ यव प्रमाण लेना, प्रमाणागुल न लेना) [जोयणसहस्समहियं पउमं] प्रत्येक वनस्पति कायमे उत्कृष्ट अवगाहनायुक्त कमल है उसकी अवगाहना कुछ अधिक हजार योजन है ।

बायसजोयण संखो, कोसतियं गोब्भिया समुद्दिट्ठा ।
भमरो जोयणमेगं, सहस्स सम्मुच्छिमो मच्छो ॥१६७॥

अन्वयार्थः—[बायसजोयण सखो] द्वीन्द्रियोमे शख बडा है उसकी उत्कृष्ट अवगाहना बारह योजन लम्बी है [कोसतियं गोब्भिया समुद्दिट्ठा] त्रीन्द्रियोमे गोभिका (कानखिजूरा) बड़ा है उसकी उत्कृष्ट अवगाहना तीन कोस लम्बी है [भमरो जोयणमेगं] चतुरिन्द्रियोमे बड़ा भ्रमर है उसकी उत्कृष्ट अवगाहना एक योजन लम्बी है [सहस्स सम्मुच्छिमो मच्छो] पचेन्द्रियोमे बड़ा मच्छ है उसकी उत्कृष्ट अवगाहना हजार योजन लम्बी है (ये जीव अन्तके स्वयभूरमण द्वीप तथा समुद्रमे जानने) ।

अब नारकियोकी उत्कृष्ट अवगाहना कहते हैः—

पंचसयाधणुछेहा, सत्तमणरए हवंति णारइया ।
तत्तो उस्सेहेण य, अद्धद्धा होंति उवरुवरि ॥१६८॥

अन्वयार्थः—[सत्तमणरए] सातवे नरकमे [णारइया] नारकी जीवोका शरीर [पंचसयाधणुछेहा] पाँचसौ धनुष ऊँचा [हवति] है [तत्तो उस्सेहेण य उवरुवरिं अद्धद्धा होंति] उसके ऊपर शरीरकी ऊँचाई आधी आधी है (छठ्ठेमे दोसौ पचास धनुष, पांचवेमे एकसौ पच्चीस धनुष, चौथेमे साढे बासठ धनुष, तीसरेमे सवा इकतीस धनुष, दूसरेमे पन्द्रह धनुष दस आना, पहिलेमे सात धनुष तेरह आना इस तरह जानना चाहिये । इनमे गुणचास पटल है उनमे न्यारी न्यारी (भिन्न भिन्न) विशेष अवगाहना त्रिलोकसारसे जानना चाहिये) ।

अब देवोंकी अवगाहना कहते है—

असुराणं पणवीसं, सेसं णवभावणाय दहदंडं ।
विंतरदेवाण तहा, जोइसिया सत्तधणुदेहा ॥१६९॥

अन्वयार्थः—[असुराणं पणवीसं] भवनवासियोमे असुरकुमारोंके शरीरकी ऊँचाई पच्चीस धनुष [सेसं णवभावणा य दहदंडं] बाकी नौ भवनवासियोकी दश धनुष [विंतरदेवाण तहा] व्यन्तरोके शरीरकी ऊँचाई दस धनुष [जोइसिया सत्तधणुदेहा] और ज्योतिषी देवोके शरीरकी ऊँचाई सात धनुष है—

अब स्वर्गके देवों की कहते है—

दुगदुगचदुचदुदुगदुगकप्पसुराणं सरीरपरिमाणं ।
सत्तछहपंचहत्था, चउरो अद्धद्ध हीणा य ॥१७०॥
हिट्ठिममज्झिमउवरिमगेवज्जे तह विमाणचउदसए ।
अद्धजुदा वे हत्था, हीणं अद्धद्धयं उवरिं ॥१७१॥

अन्वयार्थः—[दुगदुगचदुचदुदुगदुगकप्पसुराणं सरीरपरिमाण] दो (सौधर्म, ईशान) दो (सानत्कुमार, माहेन्द्र) चार (ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ) चार (शुक्र, महाशुक्र, सतार, सहस्रार) दो (आनत, प्राणत) दो (आरण, अच्युत) युगलोके देवोका शरीर क्रमसे [सत्तछहपंचहत्था चउरो अद्धद्ध हीणा य] सात हाथ, छह हाथ, पाँच हाथ, चार हाथ, साढ़े तीन हाथ, तीन हाथ ऊँचा है [हिट्ठिम-मज्झिमउवरिमगेवज्जे तह विमाणचउदसए] अधोग्रैवेयकमें, मध्यमग्रैवेयकमें, ऊपरके ग्रैवेयकमें, नव (९) अनुदिश तथा पाँच अनुत्तरमे क्रमसे [अद्धजुदा वे हत्था हीणं अद्धद्धयं उवरिं] आधा आधा हाथ हीन अर्थात् ढाई हाथ, दो हाथ, डेढ हाथ और एक हाथ देवोके शरीर की ऊँचाई है ।

अब भरत ऐरावत क्षेत्रमें कालकी अपेक्षासे मनुष्योके शरीरकी ऊँचाई कहते है—

अवसप्पिणिए पढमे, काले मणुया तिकोसउच्छेहा ।
छट्ठस्स वि अवसाणे, हत्थपमाणा विवत्था य ॥१७२॥

अन्वयार्थः—[अवसप्पिणिए पढमे काले मणुया तिकोसउच्छेहा] अवसर्पिणीके प्रथम कालकी आदिमे मनुष्योका शरीर तीन कोस ऊँचा होता है [छट्ठस्स वि अवसाणे हत्थपमाणा विवत्था य] छठे कालके अन्तमे मनुष्योंका शरीर एक हाथ ऊँचा होता है और छठे कालके जीव वस्त्रादि रहित होते है ।

अब एकेन्द्रिय जीवोका जघन्य शरीर कहते है—

सव्वजहण्णो देहो, लद्धिअपुण्णाण सव्वजीवाणं ।
अंगुलअसंखभागो, अणेयभेओ हवे सो वि ॥१७३॥

अन्वयार्थः—[लद्धिअपुण्णाण सव्वजीवाण] लब्ध्यपर्याप्तक सब जीवोका [देहो] शरीर [अंगुलअसंखभागो] घनअगुलके असख्यातवे भाग है [सव्वजहण्णो] यह सब जघन्य है अणेयभेओ हवे सो वि] इसमे भी अनेक भेद है ।

भावार्थः—एकेन्द्रिय जीवोका जघन्य शरीर भी छोटा बडा है सो घनागुलके असख्यातवे भागमे भी अनेक भेद है । इन अवगाहनाके चोसठ भेदोका वर्णन गोम्मटसारमे है वहाँसे जानना चाहिये ।

अब द्वीन्द्रिय आदिकी जघन्य अवगाहना कहते है—

वि ति चउपंचक्खाणं, जहण्णदेहो हवेइ पुण्णाणं ।
अंगुलअसंखभागो, संखगुणो सो वि उवरुवरिं ॥१७४॥

अन्वयार्थः—[वि ति चउपचक्खाणं] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय [पुण्णाणं] पर्याप्त जीवोका [जहण्णदेहो] जघन्य शरीर [अगुलअसंखभागो] घन अगुलके असख्यातवे भाग है [सो वि उवरुवरिं] वह भी ऊपर ऊपर [संखगुणो] संख्यातगुणा है ।

भावार्थः—द्वीन्द्रियके, शरीरसे सख्यातगुणा त्रीन्द्रियका शरीर है । त्रीन्द्रियसे संख्यातगुणा चतुरिन्द्रियका शरीर है । उससे सख्यातगुणा पचेन्द्रियका है ।

अब जघन्य अवगाहनाके धारक द्वीन्द्रिय आदि जीव कौन कौन है सो कहते है—

अणुधरीयं कुन्थो, मच्छीकाणा य सालिसित्थो य ।
पज्जत्ताण तसाणं, जहण्णदेहो विणिद्दिट्ठो ॥१७५॥

अन्वयार्थः—[आणुधरीयं कुन्थं] द्वीन्द्रियोंमें अणुद्धरी जीव, त्रीन्द्रियोंमें कुन्थु जीव [मच्छीकाणा य सालिसित्थो य] चतुरिन्द्रियोंमें काणमक्षिका, पंचेन्द्रियोमें शालिसिक्थक नामक मच्छ इन [तसाणं] त्रस [पज्जत्ताण] पर्याप्त जीवोंके [जहण्णदेहो विणिद्दिट्ठो] जघन्य शरीर कहा गया है ।

अब जीवके लोकप्रमाण और देहप्रमाणपना कहते है—

लोयपमाणो जीवो, देहपमाणो वि अत्थिदे खेत्ते ।
ओगाहणसत्तीदो, संहरणविसप्पधम्मादो ॥१७६॥

अन्वयार्थः—[जीवो] जीव [संहारणविसप्पधम्मादो] संकोच, विस्तार, धर्म तथा [ओगाहणसत्तीदो] अवगाहनाकी शक्ति होनेसे [लोयपमाणो] लोकप्रमाण है [देहपमाणो वि अत्थिदे खेत्ते] और देह प्रमाण भी है ।

भावार्थः—लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश है इसलिये जीवके भी इतने ही प्रदेश है । केवल समूद्घात करता है उस समय लोकपूरण होता है । जीवमें संकोच-विस्तारशक्ति है इसलिये जैसा शरीर पाता है उसीके प्रमाण रहता है और समुद्घात करता है तब शरीरके बाहर भी प्रदेश निकलते हैं ।

अब कोई अन्यमती, जीवको सर्वथा सर्वगत ही कहते है उनका निषेध करते है—

सव्वगओ जदि जीवो, सव्वत्थ वि दुक्खसुक्खसंपत्ती ।
जाइज्ज ण सा दिट्ठी, णियतणुमाणो तदो जीवो ॥१७७॥

अन्वयार्थः—[जदि जीवो सव्वगओ] यदि जीव सर्वगत ही होवे तो [सव्वत्थ वि दुक्खसुक्खसंपत्ती] सब क्षेत्रसम्बन्धी सुखदुःखकी प्राप्ति इसको [जाइज्ज] होवे [सा ण दिट्ठी] परन्तु ऐसा तो दिखाई देता नही है [तदो जीवो] इसलिये जीव [णियतणु-माणो] अपने शरीर प्रमाण ही है ।

जीवो णाणसहावो, जह अग्गी उण्हओ सहावेण ।
अत्थंतरभूदेण हि, णाणेण ण सो हवे णाणी ॥१७८॥

अन्वयार्थः—[जह अग्गी] जैसे अग्नि [सहावेण] स्वभावसे [उण्हओ] उष्ण है [जीवो णाणसहावो] वैसे ही जीव ज्ञानस्वभाव है [अत्थतरभूदेण हि] इसलिये

अर्थान्तरभूत (अपनेसे प्रदेशरूप जुदा) [णाणेण ण सो हवे णाणी] ज्ञानसे ज्ञानी ही है ।

भावार्थः—नैयायिक आदि, जीव और ज्ञानको प्रदेशभेद मानकर कहते है कि आत्मासे ज्ञान भिन्न है परन्तु समवाय तथा ससर्गसे एक हो गया है इसलिये ज्ञानी कहलाता है जैसे कि धनसे धनी कहलाता है । ऐसा मानना असत्य है । जैसे अग्नि और उष्णताके अभेदभाव है वैसे ही आत्मा और ज्ञानके तादात्म्यभाव है ।

अब भिन्न माननेमे दूषण दिखाते है—

जदि जीवादो भिण्णं, सव्वपयारेण हवदि तं णाणं ।
गुणगुणिभावो य तदा, दूरेण प्पणस्सदे दुण्हं ॥१७९॥

अन्वयार्थः—[जदि जीवादो भिण्णं सव्वपयारेण हवदि तं णाणं] यदि जीवसे ज्ञान सर्वथा भिन्न ही माना जाय तो [गुणगुणिभावो य तदा दूरेण प्पणस्सदे दुण्हं] उन दोनोके गुणगुणिभाव दूरसे ही नष्ट हो जावे ।

भावार्थः—यह जीव द्रव्य है, यह इसका ज्ञान गुण है ऐसा भाव नही रहे ।

अब कोई पूछे कि गुण और गुणीके भेद बिना दो नाम कैसे कहे जाते हैं उसका समाधान करते है—

जीवस्स वि णाणस्स वि, गुणगुणिभावेण कीरए भेओ।
जं जाणदि तं णाणं, एवं भेओ कहं होदि ॥१८०॥

अन्वयार्थः—[जीवस्स वि णाणस्स वि] जीव और ज्ञानके [गुणगुणिभावेण] गुणगुणिभावसे [भेओ] कथंचित् भेद [कीरए] किया जाता है [ज जाणदि णाण] 'जो जानता है वह ही आत्माका ज्ञान है' [एव भेओ कहं होदि] ऐसा भेद कैसे होता है ।

भावार्थः—सर्वथा भेद होवे तो 'जो जानता है वह ज्ञान है' ऐसा अभेद कैसे कहा जाता है इसलिये कथचित् गुणगुणीभावसे भेद कहा जाता है, प्रदेशभेद नही है ।

इस तरह कई अन्यमती गुणगुणीमे सर्वथा भेद मानकर जीव और ज्ञानके सर्वथा अर्थान्तर भेद मानते है उनके मतका निषेध किया ।

अब चार्वाकमती ज्ञानको पृथ्वी आदिका विकार मानते है उसका निषेध करते है—

णाणं भूयवियारं, जो मण्णदि सो वि भूदगहिदव्वो ।
जीवेण विणा णाणं, किं केण वि दीसए कत्थ ॥१८१॥

अन्वयार्थः—[जो] जो चार्वाकमती [णाणं भूयवियारं मण्णदि] ज्ञानको पृथ्वी आदि पञ्च भूतोंका विकार मानता है [सो वि भूदगहिदव्वो] वह चार्वाक, भूत (पिशाच) द्वारा ग्रहण किया हुआ है [जीवेण विणा णाणं] क्योंकि बिना ज्ञानके जीव [किं केण वि कत्थ दीसए] क्या किसीसे कही देखा जाता है ? अर्थात् कही भी ऐसा दिखाई नही देता है ।

अब इसको दूषण (दोष) बताते है—

सच्चेयण पच्चक्खं, जो जीवं णेय मण्णदे मूढो ।
सो जीवं ण मुणंतो, जीवाभावं कहं कुणदि ॥१८२॥

अन्वयार्थः—[सच्चेयण पच्चक्खं] यह जीव सत्रूप और चैतन्यस्वरूप स्वसवेदन प्रत्यक्ष प्रमाणमे प्रसिद्ध है [जो जीवं णेय मण्णदे] जो चार्वाक जीवको ऐसा नही मानता है [सो मूढो] वह मूर्ख है [जो जीवं ण मुणंतो] और जो जीवको नही जानता है नही मानता है तो वह [जीवाभाव कह कुणदि] जीवका अभाव कैसे करता है ।

भावार्थः—जो जीवको जानता ही नही है वह उसका अभाव भी नही कह सकता है । अभावका कहनेवाला भी तो जीव ही है क्योकि सद्भाव बिना अभाव कहा नहीं जा सकता ।

अब इसी मतवालेको युक्तिसे जीवका सद्भाव दिखाते है—

जदि ण य हवेदि जीओ, ता को वेदेदि सुक्खदुक्खाणि ।
इन्दियविसया सव्वे, को वा जाणदि विसेसेण ॥१८३॥

अन्वयार्थः—[जदि जीओ ण य हवेदि] यदि जीव नही होवे तो [सुक्ख-दुक्खाणि] अपने सुखदु.खको [को वेदेदि] कौन जानता है और [इंदियविसया सव्वे]

इन्द्रियोंके स्पर्श आदि सब विषयोंको [विसेसेण] विशेषरूपसे [को वा जाणदि] कौन जानता है ।

भावार्थः—चार्वाक प्रत्यक्षप्रमाण मानता है वह अपने सुखदुःखको तथा इन्द्रियोके विषयोंको जानता है सो प्रत्यक्ष है । जीवके बिना प्रत्यक्षप्रमाण किसके होता है ? इसलिये जीवका सद्भाव अवश्य सिद्ध होता है ।

अब आत्माका सद्भाव जैसे बनता है वैसे कहते हैं—

संकप्पमओ जीवो, सुहदुक्खमयं हवेइ संकप्पो ।
तं चिय वेददि जीवो, देहे मिलिदो वि सव्वत्थ ॥१८४॥

अन्वयार्थः—[जीवो संकप्पमओ] जीव सकल्पमयी है [संकप्पो सुहदुक्खमयं हवेइ] संकल्प सुखदुःखमय है [त चिय वेददि जीवो] उस सुखदुःखमयी सकल्पको जानता है वह जीव है [देहे मिलिदो वि सव्वत्थ] वह देहमे सब जगह मिल रहा है तो भी जाननेवाला जीव है ।

अब जीव देहमें मिला हुआ सब कार्योंको करता है यह कहते है—

देहमिलिदो वि जीवो, सव्वकम्माणि कुव्वदे जम्हा ।
तम्हा पयट्टमाणो, एयत्तं बुज्झदे दोण्हं ॥१८५॥

अन्वयार्थः—[जम्हा] क्योकि [जीवो] जीव [देहमिलिदो वि] देहसे मिला हुआ ही [सव्वकम्माणि कुव्वदे] (कर्म नोकर्मरूप) सब कार्योको करता है [तम्हा पयट्टमाणो] इसलिए उन कार्योमे प्रवृत्ति करते हुए लोगोको [दोण्हं एयत्तं बुज्झदे] दोनो (देह और जीव) के एकत्व दिखाई देता है ।

भावार्थः—लोगोको देह और जीव न्यारे (जुदे) तो दिखाई देते नही है दोनो मिले हुए दिखाई देते है । सयोगसे ही कार्योकी प्रवृत्ति दिखाई देती है इसलिये दोनोको एक ही मानते है ।

अब जीवको देहसे भिन्न जाननेके लिये लक्षण दिखाते है—

देहमिलिद वि पिच्छदि, देहमिलिदो वि णिसुणदे सद्दं ।
देहमिलिदो वि भुञ्जदि, देहमिलिदो वि गच्छेदि ॥१८६॥

अन्वयार्थः—[देहमिलिदो वि पिच्छदि] जीव देहसे मिला हुआ ही आँखोसे पदार्थोको देखता है [देहमिलिदो वि णिसुण्णदे सद्दं] देहसे मिला हुआ ही कानोंसे शब्दोको सुनता है [देहमिलिदो वि भुंजदि] देहसे मिला हुआ ही मुखसे खाता है जीभसे स्वाद लेता है [देहमिलिदो वि गच्छेदि] देहसे मिला हुआ ही पैरोंसे गमन करता है।

भावार्थः—देहमें जीव न होय तो जड़रूप केवल देह ही के देखना, स्वाद लेना, सुनना, गमन करना ये क्रियायें नही होवे इसलिये जाना जाता है कि देहसे न्यारा जीव है और वह ही इन क्रियाओंको करता है।

अब इस तरह जीवको मिला हुवा मानने वाले लोग भेदको नही जानते है ऐसा कहते है—

राओ हं भिच्चो हं, सिट्ठी हं चेव दुव्वलो बलिओ।
इदि एयत्ताविट्ठो दोण्हं भेयं ण बुज्झेदि ॥१८७॥

अन्वयार्थः—[एयत्ताविट्ठो] देह और जीवके एकत्वकी मान्यता वाले लोग ऐसा मानते है कि [राओ हं] मैं राजा हूँ [भिच्चो हं] मै भृत्य (नौकर) हूँ [सिट्ठी हं] मै सेठ (धनी) हूँ [चेव दुव्वलो] मै दुर्बल हूँ, मै दरिद्र हूँ, मैं निर्बल हूँ [बलिओ] मै बलवान हूँ [इदि] इसप्रकारसे [दोण्ह भेय ण बुज्झेदि] देह और जीवके (दोनोके) भेदको नही जानते है।

अब जीवके कर्त्तृत्व आदिको चार गाथाओंसे कहते है—

जीवो हवेइ कत्ता, सव्वं कम्माणि कुव्वदे जम्हा।
कालाइलद्धिजुत्तो, संसारं कुणइ मोक्खं च ॥१८८॥

अन्वयार्थः—[जम्हा] क्योकि [जीवो] यह जीव [सव्वं कम्माणि कुव्वदे] सब कर्म नोकर्मोको करता हुआ अपना कर्त्तव्य मानता है इसलिये [कत्ता हवेइ] कर्त्ता

भी है [संसारं कुणइ] सो अपने ससारको करता है [कालाइलद्धिजुत्तो] और *काल आदि लब्धिसे युक्त होता हुवा [मोक्खं च] अपने मोक्षको भी आप ही करता है।

भावार्थः—कोई जानते हैं कि इस जीवके सुखदुःख आदि कार्योंको ईश्वर आदि कोई अन्य करता है परन्तु ऐसा नही है, आप ही कर्त्ता है। सब कार्योंको स्वय ही करता है, संसारको भी आप ही करता है, कालादि लब्धिसे युक्त होता हुवा मोक्षको भी आप ही करता है। सब कार्योंके प्रति द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप सामग्री निमित्त है ही।

जीवो वि हवइ भुत्ता, कम्मफलं सो वि भुञ्जदे जम्हा।
कम्मविवायं विविहं, सो वि य भुञ्जेदि संसारे ॥१८९॥

---

*जहाँ २ काललब्धि शब्द आवे वहाँ मोक्षमार्गप्रकाश अ० ९ पत्र ४६२ के अनुसार ऐसा अर्थ लगाना चाहिये—

प्रश्न—मोक्षका उपाय काललब्धि आने पर भवितव्यतानुसार बनता है या मोहादिकका उपशमादि होने पर बनता है अथवा अपने पुरुषार्थसे उद्यम करने पर बनता है? यदि पहिले दो कारण मिलने पर बनता है तो हमको उपदेश क्यो दिया जाता है? यदि पुरुषार्थसे बनता है तो उपदेश सब ही सुनते है तो उनमे कोई तो उपाय कर सकता है, कोई नही कर सकता है सो क्या कारण है? इसका समाधान—

एक कार्य होनेमे अनेक कारण मिलते है इसलिये जहाँ मोक्षका उपाय बनता है वहाँ तो पूर्वोक्त तीनो ही कारण मिलते है और नही बनता है वहाँ तीनोही कारण नही मिलते है। पूर्वोक्त तीनो कारणोमे **काललब्धि या होनहार तो कुछ वस्तु नहीं है। जिस कालमे कार्य बनता है वह ही काललब्धि और जो कार्य हुवा सो ही होनहार।** कर्मके उपशमादि पुद्गलकी शक्ति है उसका कर्त्ता हर्त्ता आत्मा नही है। पुरुषार्थसे उद्यम करते है यह आत्माका कार्य है, इसलिये आत्माको पुरुषार्थसे उद्यम करनेका उपदेश दिया जाता है। जब यह आत्मा, जिस कारणसे कार्यसिद्धि अवश्य हो उस कारणरूप उद्यम करता है तो अन्य कारण मिलते ही मिलते हैं और कार्यकी भी सिद्धि होवे ही होवे। जिस कारणसे कार्यसिद्धि हो अथवा नही भी हो, उस कारणरूप उद्यम करे, वहाँ अन्य कारण मिले तो कार्यसिद्धि हो जाती है, नही मिले तो सिद्धि नही होती है। इसलिये जिनमतमे जो मोक्षका उपाय कहा गया है उससे मोक्ष होवे ही होवे। अत जो जीव पुरुषार्थपूर्वक जिनेश्वर के उपदेश अनुसार मोक्षका उपाय करता है उसके काललब्धि या होनहार भी हुआ और कर्मका उपशमादि भी हुआ है तो यह ऐसा उपाय करता है इसलिये जो पुरुषार्थसे मोक्षका उपाय करता है उसको सब कारण मिलते है ऐसा निश्चय करना और उसको अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होती है।

अन्वयार्थः—[जम्हा] क्योकि [जीवो वि कम्मफलं भुंजदे] जीव कर्मफलको संसारमें भोगता है [सो वि भुत्ता हवइ] इसलिये भोक्ता भी यही है और [सो वि य संसारे] वह ही ससारमें [विविहं कम्मविवायं भुंजेदि] सुखदु:खरूप अनेक प्रकारके कर्मोके विपाकको भोगता है ।

जीवो वि हवइ पावं, अइतिव्वकषायपरिणदो णिच्चं ।
जीवो वि हवेइ पुण्णं, उवसमभावेण संजुत्तो ॥१९०॥

अन्वयार्थः—[जीवो वि अइतिव्वकषायपरिणदो णिच्चं पावं हवइ] जब यह जीव अति तीव्र कषाय सहित होता है तब यह ही जीव पाप होता है और [उवसम-भावेण संजुत्तो] उपशम भाव (मन्द कषाय) सहित होता है तब [जीवो वि पुण्ण हवेइ] यह ही जीव पुण्य होता है ।

भावार्थः— क्रोध मान माया लोभकी अति तीव्रतासे तो पाप परिणाम होते है और इनकी मन्दतासे पुण्य परिणाम होते है । इन परिणामो सहित पुण्यजीव पापजीव कहलाते है ।

एक ही जीव, दोनो प्रकारके परिणामो सहितको पुण्यजीव पापजीव कहते है । सो सिद्धान्तकी अपेक्षा इसप्रकार है, सम्यक्त्व सहित जीव होवे उसकेतो तीव्रकषायोंकी जड़ कट जानेसे पुण्यजीव कहलाता है और मिथ्यादृष्टि जीवके भेदज्ञान बिना कषायोंकी जड़ कटती नही है इसलिये बाह्यमे कदाचित् उपशम परिणाम भी दिखाई दे तो भी उसको पापजीव ही कहते है*ऐसा जानना चाहिये ।

---

* इस बारेमे श्री गोम्मटसारमे भी कहा है कि:—

जीवदुगं उत्तट्ठं जीवा पुण्णा हु सम्मगुणसहिदा ।
वदसहिदावि य पावा तव्विवरिया हवंतित्ति ॥६२२॥
मिच्छाइट्ठी पावा, णंताणंता य सासणगुणावि ।
पल्लासंखेज्जदिमा अणअण्णदरुदयमिच्छगुणा ॥६२३॥

अर्थ—जीव और अजीव पदार्थ तो पूर्व जीवसमास अधिकारमे अथवा यहां छह द्रव्याधिकारमें कहे हैं । फिर जो सम्यक्त्व गुण सहित होवे तथा जो व्रत सहित हो उसका पुण्यजीव कहते है, इनसे

रयणत्तयसंजुत्तो, जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं ।
संसारं तरइ जदो रयणत्तयदिव्वणावाए ॥१९१॥

अन्वयार्थः—[जदो] जब यह जीव [रयणत्तयदिव्वणावाए] रत्नत्रयरूप सुन्दर नावके द्वारा [संसारं तरइ] संसारसे तिरता है पार होता है तब [जीवो वि] यह ही जीव [रयणत्तयसंजुत्तो] रत्नत्रय सहित होता हुवा [उत्तमं तित्थं हवेइ] उत्तम तीर्थ है ।

भावार्थः—जो तैरता है तथा जिससे तैरा जाता है उसको तीर्थ कहते है । यह जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र अर्थात् रत्नत्रयरूपी नावके द्वारा तैरता है तथा दूसरोके तैरनेको निमित्त है इसलिये यह जीव ही तीर्थ है ।

अब अन्य प्रकार जीवके भेद कहते है—

जीवा हवंति तिविहा, बहिरप्पा तह य अन्तरप्पा य ।
परमप्पा वि य दुविहा, अरहंता तह य सिद्धा य ॥१९२॥

अन्वयार्थः—[जीवा बहिरप्पा तहय अन्तरप्पा य परमप्पा तिविहा हवंति] जीव बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा इस तरह तीन प्रकारके होते है [परमप्पा वि य दुविहा अरहता तह य सिद्धा य] और परमात्मा भी अरहन्त तथा सिद्ध इस तरह दो प्रकारके होते हैं ।

अब इनका स्वरूप कहेगे । पहिले बहिरात्मा कैसा है सो कहते हैं—

मिच्छत्तपरिणदप्पा, तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो ।
जीवं देहं एक्कं, मण्णंतो होदि बहिरप्पा ॥१९३॥

जो विपरीत है अर्थात् सम्यक्त्व रहित, व्रतरहित जीव नियमसे पाप जीव जानना, वे अनन्तानन्त है । सब संसार राशिमेसे अन्य गुणस्थान वालोका प्रमाण कम करने पर मिथ्यादृष्टिओका प्रमाण आता है, सासादन गुणस्थान वाले जीव भी पापजीव है कारण कि अनन्तानुबन्धी चार कषायोमेसे किसी एक कषायका इसके उदय हो रहा है अत यह भी मिथ्यात्व गुणको प्राप्त होता है । और वह पल्यके असख्यभाग प्रमाण है ।

अन्वयार्थः—[मिच्छत्तपरिणदप्पा] जो जीव मिथ्यात्वरूप परिणमा हो [तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो] और तीव्र कषाय (अनन्तानुबन्धी) से अतिशय आविष्ठ अर्थात् युक्त हो इस निमित्तसे [जीवं देहं एक्कं मण्णंतो] जोव और देहको एक मानता हो वह जीव [बहिरप्पा होदि] बहिरात्मा है।

भावार्थः—जो बाह्य परद्रव्यको आत्मा मानता है वह बहिरात्मा है। ऐसी मान्यता मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी कषायके[1] होती है इसलिये वह भेदज्ञानसे रहित होता हुआ देह आदि समस्त परद्रव्योमे अहंकार ममकार युक्त होता हुआ बहिरात्मा कहलाता है।

अब अन्तरात्माका स्वरूप तीन गाथाओमें कहते है—

जे जिणवयणे कुसलो, भेयं जाणंति जीवदेहाणं ।
णिज्जियदुट्ठट्ठमया, अन्तरअप्पा य ते तिविहा ॥१९४॥

अन्वयार्थः—[जे जिणवयणे कुसलो] जो जीव जिनवचनमे प्रवीण है [जीवदेहाणं भेयं जाणंति] जीव और देहके भेदको जानते है [णिज्जियदुट्ठट्ठमया] और जिन्होने आठमदोको जीत लिये है [अंतरअप्पा य ते तिविहा] वे अन्तरात्मा है और उत्कृष्ट (उत्तम) मध्यम जघन्यके भेदसे तीन प्रकारके है।

भावार्थः—जो जीव[2] जिनवाणीका भले प्रकारसे अभ्यास करके जीव और देहके स्वरूपका भिन्न भिन्न जानते है वे अतरात्मा है। उनके जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल, विद्या और ऐश्वर्य ये आठ मदके कारण है इनमें अहकार ममकार उत्पन्न नही होता है क्योकि ये परद्रव्यके सयोगजनित है[3] इनमें गर्व नही करते है, वे (अन्तरात्मा) तीन प्रकारके हैं।

अब इन तीनोमे उत्कृष्टको कहते है—

पंचमहव्वयजुत्ता, धम्मे सुक्के वि संठिदा णिच्चं ।
णिज्जियसयलपमाया, उक्किट्ठा अन्तरा होंति ॥१९५॥

---

१ [अनुसरण करेतो]।

२ [स्वाध्ययके बल सहित]।

३ [अतः त्रैकालिक ज्ञान हू ऐसी दृढता होनेसे]।

अन्वयार्थः—[पंचमहव्वयजुत्ता] जो जीव पांच महाव्रतोंसे युक्त हों [णिच्चं धम्मे सुक्के वि संठिदा] नित्य ही धर्मध्यान शुक्लध्यानमे स्थित रहते हों [णिज्जिय-सयलपमाया] और जिन्होने निद्रा आदि सब प्रमादोको जीत लिया हो [उक्किट्ठा अंतरा होंति] वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा होते हैं ।

अब मध्यम अन्तरात्माको कहते हैं—

सावयगुणेहिं जुत्ता, पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति ।
जिणवयणे अणुरत्ता, उवसमसीला महासत्ता ॥१९६॥

अन्वयार्थः—[जिणवयणे अणुरत्ता] जो जिनवचनोमे अनुरक्त हो [उवसम-सीला] उपशमभाव (मन्द कषाय) रूप जिनका स्वभाव हो [महासत्ता] महा पराक्रमी हो, परीषहादिकके सहन करनेमे दृढ हो, उपसर्ग आने पर प्रतिज्ञासे चलायमान नही होते हो ऐसे [सावयगुणेहिं जुत्ता] श्रावकके व्रत सहित तथा [पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति] प्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनि मध्यम अतरात्मा होते है ।

अब जघन्य अन्तरात्मको कहते है—

अविरयसम्मद्दिट्ठी, होंति जहण्णा जिणंदपयभत्ता ।
अप्पाणं णिंदंता, गुणगहणे सुट्ठुअणुरत्ता ॥१९७॥

अन्वयार्थः—[जिणंदपयभत्ता] जो जीव जिनेन्द्र भगवानके चरणोके भक्त है । (जिनेन्द्र, उनकी वाणी तथा उसके अनुसार वर्तनवाले निर्ग्रन्थ गुरु, उनकी भक्तिमे तत्पर हैं) [अप्पाणं णिंदता] अपने आत्माकी निन्दा करते रहते है (चारित्रमोहसे व्रत धारण नही किये जाते लेकिन उनकी भावना निरन्तर बनी हो रहती है इसलिये अपने विभाव परिणामोकी निन्दा करते ही रहते है) [गुणगहणे सुट्ठुअणुरत्ता] और गुणोके ग्रहण करनेमें भलेप्रकार अनुरागी है (जिनमे सम्यग्दर्शन आदि गुण देखते हैं उनसे अत्यन्त अनुरागरूप प्रवृत्ति करते है गुणोसे अपना और परका हित जाना है इसलिये गुणोसे अनुराग ही होता है) ऐसे [अविरयसम्मद्दिट्ठी] अविरतसम्यग्दृष्टिजीव (सम्यग्दर्शन तो जिनके पाया जाता है परन्तु चारित्रमोहकी युक्ततासे व्रत धारण नही कर सकते है) [जहण्णा होंति] जघन्य अन्तरात्मा है । इसप्रकार तीन प्रकारके अन्तरात्मा कहे सो गुणस्थानोकी अपेक्षासे जानना चाहिये ।

भावार्थः—चौथे गुणस्थानवर्ती तो जघन्य अन्तरात्मा, पाँचवें छठे गुणस्थानवर्ती मध्यम अन्तरात्मा और सातवें गुणस्थानसे बारहवे गुणस्थान तक उत्कृष्ट अन्तरात्मा जानना चाहिये ।

अब परमात्माका स्वरूप कहते है—

स-सरीरा अरहंता, केवलणाणेण मुणियसयलत्था ।
णाणसरीरा सिद्धा, सव्वुत्तम सुक्खसंपत्ता ॥१९८॥

अन्वयार्थः—[केवलणाणेण मुणियसयलत्था] केवलज्ञानसे जान लिये है सकल पदार्थ जिन्होने ऐसे [ससरीरा अरहंता] शरीरसहित अरहन्त परमात्मा है [सव्वुत्तम सुक्खसंपत्ता] सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति जिनको हो गई है तथा [णाणसरीरा सिद्धा] ज्ञान ही है शरीर जिनके ऐसे शरीररहित सिद्ध परमात्मा है ।

भावार्थः—तेरहवे चौदहवे गुणस्थानवर्ती अरहन्त शरीर सहित परमात्मा है और सिद्ध परमेष्ठी शरीर रहित परमात्मा है ।

अब परा शब्दके अर्थको कहते है—

णिस्सेसकम्मणासे, अप्पसहावेण जा समुप्पत्ती ।
कम्मजभावखए वि य, सा वि य पत्ती परा होदि ॥१९९॥

अन्वयार्थः—[जो णिस्सेसकम्मणासे] जो समस्त कर्मोके नाश होने पर [अप्पसहावेण समुप्पत्ती] अपने स्वभावसे उत्पन्न हो और [कम्मजभावखए वि य] जो कर्मोसे उत्पन्न हुए औदयिक आदि भावोंका नाश होने पर उत्पन्न हो [सा वि य पत्ती परा होदि] वह भी परा कहलाती है ।

भावार्थः—परा कहिये उत्कृष्ट और मा कहिये लक्ष्मी जिसके हो ऐसे आत्माको परमात्मा कहते है । समस्त कर्मोके नाशसे स्वभावरूप लक्ष्मीको प्राप्त हुए वे सिद्ध परमात्मा हैं और घातियाकर्मोके नाशसे अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीको प्राप्त हुए वे अरहंत भी परमात्मा है तथा वे ही औदयिक आदि भावोके नाशसे भी परमात्मा हुए कहलाते हैं ।

अब कोई, जीवोंको सर्वथा शुद्ध ही कहते है उनके मतका निषेध करते हैं—

जइ पुण सुद्धसहावा, सव्वेजीवा अणाइकाले वि।
तो तवचरणविहाणं, सव्वेसिं णिप्फलं होदि ॥२००॥

अन्वयार्थः—[जइ] यदि [सव्वे जीवा अणाइकाले वि] सब जीव अनादिकालसे [सुद्धसहावा] शुद्धस्वभाव है [तो सव्वेसिं] तो सबहीको [तवचरणविहाणं] तपश्चरण विधान [णिप्फलं होदि] निष्फल होता है।

ता किह गिण्हदि देहं, णाणाकम्माणि ता कहं कुणदि।
सुहिदा वि य दुहिदा वि य, णाणारूवा कहं होंति ॥२०१॥

अन्वयार्थः—जो जीव सर्वथा शुद्ध है [ता किह गिण्हदि देहं] तो देहको कैसे ग्रहण करता है ? [णाणाकम्माणि ता कह कुणदि] नाना प्रकारके कर्मोको कैसे करता है ? [सुहिदा वि य दुविहा वि य] कोई सुखी है कोई दुखी है [णाणारूवा कहं होंति] ऐसे नानारूप कैसे होते है ? इसलिये सर्वथा शुद्ध नही है।

अब अशुद्धताका कारण कहते है—

सव्वे कम्म-णिबद्धा, संसरमाणा अणाइ-कालम्हि।
पच्छा तोडिय बंधं, सुद्धा सिद्धा धुवं होंति ॥२०२॥

अन्वयार्थः—[सव्वे] सब ससारी जीव [अणाइकालम्हि] अनादिकालसे [कम्माणबद्धा] कर्मोसे बँधे हुए है [संसरमाणा] इसलिये ससारमे भ्रमण करते है [पच्छा तोडिय बध सिद्धा] फिर कर्मोके बन्धनको तोडकर सिद्ध होते है [सुद्धा धुवं होंति] तब शूद्ध और निश्चल होते है।

अब जिस बधसे जीव बँधते है उस बंधका स्वरूप कहते हैं—

जो अण्णोण्णपवेसो, जीवपएसाण कम्मखधाणं।
सव्वबंधाण वि लओ, सो बंधो होदि जीवस्स ॥२०३॥

अन्वयार्थः—[जो] जो [जीवपएमाण कम्मखधाणं] जीवके प्रदेशोका और कर्मोके स्कन्धका [अण्णोण्णपवेसो] परस्पर प्रवेश होना (एक क्षेत्ररूप सम्बन्ध होना)

और [सव्वबंधाण वि लओ] प्रकृति स्थिति अनुभाग सब बन्धोंका लय (एकरूप होना) [सो] सो [जीवस्स] जीवके [बंधो होदि] प्रदेशबध होता

अब सब द्रव्योमें जीवद्रव्य ही उत्तम परमतत्त्व है ऐसा कहते है—

उत्तमगुणाण धामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं ।
तच्चाण परमतच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदो ॥२०४॥

अन्वयार्थः—[उत्तमगुणाण धामं] जीवद्रव्य उत्तम गुणोका धाम (स्थान) है, ज्ञान आदि उत्तमगुण इसीमे है [सव्वदव्वाण उत्तमं दव्व] सब द्रव्योमें यह ही द्रव्य प्रधान है, सब द्रव्योको जीव ही प्रकाशित करता है [तच्चाण परमतच्चं जीवं] सब तत्त्वोमे परमतत्त्व जीव ही है, अनन्तज्ञान सुख आदिका भोक्ता यह ही है [णिच्छयदो जाणेह] इस तरहसे हे भव्य ! तू निश्चयसे जान ।

अब जीव ही के उत्तम तत्त्वपना कैसे है सो कहते है—

अंतरतच्चं जीवो, बाहिरतच्चं हवंति सेसाणि ।
णाणविहीणं दव्वं, हियाहियं णेय जाणेदि ॥२०५॥

अन्वयार्थः—[जीवो अंतरतच्चं] जीव अतरतत्त्व है [सेसाणि बाहिरतच्चं हवति] बाकीके सब द्रव्य बाह्यतत्त्व है [णाणविहीणं दव्व] वे द्रव्य ज्ञानरहित है [हियाहिय णेय जाणेदि] और हेय-उपादेयरूप वस्तुको नही जानते है ।

भावार्थः—जीवतत्त्वके बिना सब शून्य है इसलिये सबका जाननेवाला तथा हेय-उपादेयका जाननेवाला जीव ही परम तत्त्व है ।

अब पुद्गल द्रव्यका स्वरूप कहते है—

सव्वो लोयायासो, पुग्गलदव्वेहिं सव्वदो भरिदो ।
सुहमेहिं बायरेहिं य, णाणाविहसत्तिजुत्तेहिं ॥२०६॥

अन्वयार्थः—[सव्वो लोयायासो] सब लोकाकाश [णाणाविहसत्तिजुत्तेहिं] नाना प्रकारकी शक्तिवाले [सुहमेहिं बायरेहिं य] सूक्ष्म और बादर [पुग्गलदव्वेहिं सव्वदो भरिदो] पुद्गलद्रव्योसे सब जगह भरा हुआ है ।

भावार्थः—शरीर आदि अनेकप्रकारकी परिणमन शक्ति युक्त सूक्ष्म बादर पुद्गलो से सब लोकाकाश भरा हुआ है ।

जे इन्दिएहिं गिज्झं, रूवरसगंधफासपरिणामं ।
तं चिय पुग्गलदव्वं, अणंतगुणं जीवरासीदो ॥२०७॥

अन्वयार्थः—[जे] जो [रूवरसगंधफासपरिणाम] रूप, रस, गंध, स्पर्श परिणाम स्वरूपसे [इंदिएहिं गिज्झं] इन्द्रियोके ग्रहण करने योग्य है [तं चिय पुग्गल-दव्वं] वे सब पुद्गलद्रव्य हैं [अणतगुणं जीवरासीदो] वे सख्यामे जीवराशिसे अनन्तगुणे द्रव्य है ।

अब पुद्गलद्रव्यके जीवके उपकारीपनेको कहते है—

जीवस्स बहुपयारं, उवयारं कुणदि पुग्गलं दव्वं ।
देहं च इन्दियाणि य, वाणी उस्सासणिस्सासं ॥२०८॥

अन्वयार्थः—[पुग्गलं दव्वं] पुद्गल द्रव्य [जीवस्स] जीवके [देह च इदियाणि य] देह, इन्द्रिय [वाणी उस्सासणिस्सास] वचन उस्वास, निस्वास [बहुपयारं उवयारं कुणदि] बहुत प्रकार उपकार करता है ।

भावार्थः—ससारी जीवके देहादिक पुद्गल द्रव्यसे रचे गये है इनसे जीवका जीवितव्य है यह उपकार है ।*

अण्णं पि एवमाई, उवयारं कुणदि जाव संसारं ।
मोह अणाणमयं पि य, परिणामं कुणदि जीवस्स ॥२०९॥

अन्वयार्थः—[जीवस्स] पुद्गल द्रव्य जीवके [अण्णं पि एवमाई] पूर्वोक्तको आदि लेकर अन्य भी [उवयारं कुणदि] उपकार करता है [जाव संसारं] जब तक इस जीवको ससार है तब तक [मोह अणाणमयं पि य परिणामं कुणदि] मोह परिणाम (पर द्रव्योसे ममत्व परिणाम) अज्ञानमयी परिणाम ऐसे सुख दु ख, जीवन, मरण आदि अनेक प्रकार करता है । यहा उपकार शब्दका अर्थ जब उपादान कार्य करै तब सयोगको निमित्त कारणपनेका आरोप है ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये ।—

* [अर्थात् निमित्तमात्र है] ।

— [सयोगदृष्टि उपचरित कथनका प्रयोजन अनुपचार-उपादानका व्यजक वताने वाला ही है]

अब उसी प्रकार जीव भी जीवका उपकार करता है ऐसा कहते हैं—

जीवा वि दु जीवाणं, उवयारं कुणदि सव्वपच्चक्खं ।
तत्थ वि पहाणहेऊ, पुण्णं पावं च णियमेण ॥२१०॥

अन्वयार्थः—[जीवा वि दु जीवाणं उवयारं कुणदि] जीव भी जीवोके परस्पर उपकार करते है [सव्व पच्चक्खं] यह सबके प्रत्यक्ष ही है । स्वामी सेवकका, सेवक स्वामीका; आचार्य शिष्यका, शिष्य आचार्यका; पितामाता पुत्रका, पुत्र पितामाताका; मित्र मित्रका, स्त्री पतिका इत्यादि प्रत्यक्ष माने जाते है । [तत्थ वि] उस परस्पर उपकारमे भी [पुण्णं पावं च णियमेण] पुण्यपापकर्म नियमसे [पहाणहेऊ] प्रधान कारण है ।

अब पुद्गलके बड़ी शक्ति है ऐसा कहते है—

का वि अपुव्वा दीसदि, पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती ।
केवलणाणसहाओ, विणासिदो जाइ जीवस्स ॥२११॥

अन्वयार्थः—[पुग्गलदव्वस्स] पुद्गल द्रव्यकी [का वि] कोई [एरिसी] ऐसी [अपुव्वा] अपूर्व [सत्ती] शक्ति [दीसदि] दिखाई देती है [जाइ जीवस्स] जिससे जीवका [केवलणाणसहाओ विणासिदो] केवलज्ञान स्वभाव नष्ट हो रहा है ।∸

भावार्थः—जीवमें अनन्त शक्ति है । उसमे केवलज्ञानशक्ति ऐसी है कि जिसके प्रगट होने पर यह जीव सब पदार्थोको एक समयमे जान लेता है । ऐसे प्रकाशको पुद्गल नष्ट कर रहा है, नही होने देता है सो यह अपूर्व शक्ति है । ऐसे पुद्गल द्रव्यका वर्णन किया ।+

∸[निश्चय-उपादानकी बातको गौण करके निमित्तकी ओरका यह कथन है, आवरणका अर्थ आच्छादन है-जीवमे जो शक्ति है उसे जीव स्वय व्यक्त नही करता वहाँ तक निमित्तकी ओर झुकावका कथन है] ।

+[यदि जडकर्म जीवके ज्ञानादिकका घात निमित्तकी ओरसे करता हो, तो प्रश्न-केवलज्ञान आपके पास कब प्रगट था ? जो उसका कर्मोने घात किया ?] ।

अब धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका स्वरूप कहते हैं—

धम्ममधम्मं दव्वं, गमणट्ठाणाण कारणं कमसो ।
जीवाण पुग्गलाणं, बिण्णि वि लोगप्पमाणाणि ॥२१२॥

अन्वयार्थः—[जीवाण पुग्गलाणं] जीव और पुद्गल इन दोनो द्रव्योको [गमणट्ठाणाण कारणं कमसो] गमन और अवस्थान (ठहरना) में सहकारी अनुक्रमसे कारण [धम्ममधम्मं दव्व] धर्म और अधर्मद्रव्य है [विण्णि वि लोगप्पमाणाणि] ये दोनो ही लोकाकाश परिमाण प्रदेशोको धारण करते है ।

भावार्थः—जीव पुद्गलको गमन सहकारी कारण तो धर्मद्रव्य है और स्थिति सहकारी कारण अधर्मद्रव्य है । ये दोनो लोकाकाशप्रमाण है ।

अब आकाशद्रव्यका स्वरूप कहते है—

सयलाणं दव्वाणं, जं दादुं सक्कदे हि अवगासं ।
तं आयासं, दुविहं, लोयालोयाण भेयेण ॥२१३॥

अन्वयार्थः—[जं] जो [सयलाणं दव्वाणं] सब द्रव्योको [अवगासं] अवकाश [दादुं सक्कदे] देनेको समर्थ है [तं आयासं] उसको आकाश द्रव्य कहते है [लोयालोयाण भेयेण दुविहं] वह लोक अलोकके भेदसे दो प्रकारका है ।

भावार्थः—जिसमे सब द्रव्य रहते है ऐसे अवगाहन गुणको धारण करता है वह आकाशद्रव्य है । जिसमे पाँच द्रव्य पाये जाते है सो तो लोकाकाश है और जिसमे अन्य द्रव्य नही पाये जाते सो अलोकाकाश है ऐसे दो भेद है ।

अब आकाशमे सब द्रव्योको अवगाहन देनेकी शक्ति है वैसी अवकाश देनेकी शक्ति सब ही द्रव्योमे है ऐसा कहते है—

सव्वाणं दव्वाणं, अवगाहणसत्ति अत्थि परमत्थं ।
जह भसमपाणियाणं, जीवपएसाण जाण बहुयाणं ॥२१४॥

अन्वयार्थः—[सव्वाणं दव्वाण] सब ही द्रव्योके परस्पर [परमत्थं] परमार्थसे (निश्चयसे) [अवगाहणसत्ति अत्थि] अवगाहना देनेकी शक्ति है [जह भसमपाणियाणं] जैसे भस्म और जलके अवगाहन शक्ति है [जीवपएसाण जाण बहुआण] वैसे ही जीवके असंख्यात प्रदेशोके जानना चाहिये ।

भावार्थः—जैस जलको पात्रमें भरकर उसमें भस्म डालते हैं सो समा जाती है, उसमें मिश्री डालते हैं तो वह भी समा जाती है और उसमें सूई घुसाई जाती है तो वह भी समा जाती है वैसे अवगाहन शक्तिको जानना चाहिये।

यहां कोई प्रश्न करता है कि सब ही द्रव्योमें अवगाहनशक्ति है तो आकाशका असाधारण गुण कैसे है ? उसका उत्तर—

जो परस्पर तो अवगाह सब ही देते है तथापि आकाशद्रव्य सबसे बड़ा है। इसलिये इसमें सब ही समाते है यह असाधारणता है।

जदि ण हवदि सा सत्ती, सहावभूदा हि सव्वदव्वाणं।
एक्केकास पएसे, कह ता सव्वाणि वट्टंति ॥२१५॥

अन्वयार्थः—[जदि] यदि [सव्वदव्वाणं] सब द्रव्योंके [सहावभूदा] स्वभावभूत [सा सत्ती] वह अवगाहनशक्ति [ण हवदि] न होवे तो [एक्केकासपएसे] एक एक आकाशके प्रदेशमें [कह ता सव्वाणि वट्टति] सब द्रव्य कैसे रहते है।

भावार्थः—एक आकाशके प्रदेशमें अनन्त पुद्गलके परमाणु द्रव्य रहते है। एक जीवका प्रदेश, एक धर्मद्रव्यका प्रदेश, एक अधर्मद्रव्यका प्रदेश, एक कालाणुद्रव्य ऐसे सब रहते हैं, वह आकाशका प्रदेश एक पुद्गलके परमाणु बराबर है, यदि अवगाहनशक्ति न होवे तो कैसे रहे ?*

---

*[तीनो कालके समयोसे अलोकाकाशके प्रदेश अनन्तानन्त गुणे है, सब दिशाओमे चारो ओर अमर्यादित अनन्तप्रदेशी आकाशको सर्वज्ञ भगवान भी अनन्तप्रदेशी ही जानता है। वृद्ध विद्वानोसे सुना है कि 'सुदर्शन मेरुके बराबर एक लाख योजन लम्बा, चौडा, लोहेका गोला वह प्रत्येक समयमे एक राजूकी गति अनुसार यदि पतन करे तो भी पूर्ण भविष्य कालके अनन्तानन्त समयोमे भी अलोकाकाशके तल तक नही पहुँच पायगा। इस दृष्टान्तको सुनकर अव निर्णीत दृष्टान्तको यो समझियेकि जम्बूद्वीपके बराबर गढ लिया गया लोहेका गोला प्रतिसमय यदि अनन्त राजू भी पतन करे अथव एक समयमे अनन्त राजू चलकर दूसरे समयमे उस अनन्तसे अनन्तगुणे अनन्तानन्त राजू गमन करे, यो तीसरे आदि समयोमे पूर्व पूर्वसे अनन्तगुणा चलता जाय फिर भी भविष्यकालके अनन्तानन्त समयोमे अलोकाकाशकी सडक (एक श्रेणीको भी) पूरा नही कर सकेगा, कारणकि "तिविह जहण्णाणत पगासला दलदिवदी सगादि पद। जीवो पोग्गलकाला सेढी आगास तप्पदरम् "नि० सारकी इस गाथा अनुसार कालके समय राशिसे तो अनन्त स्थान ऊपर जाकर आकाश श्रेणिके अर्धच्छेद निकलते हैं। उनसे अनन्त स्थान ऊपर

अब कालद्रव्यका स्वरूप कहते हैं—

सव्वाणं दव्वाणं, परिणामं जो करेदि सो कालो ।
एक्केकासपएसे, सो वट्टदि एक्किको चेव ॥२१६॥

अन्वयार्थः—[जो] जो [सव्वाणं दव्वाण परिणाम] सब द्रव्योके परिणाम (परिणमन–बदलाव) [करेदि सो कालो] करता है सो कालद्रव्य है [सो] वह [एक्केकासपएसे] एक एक आकाशके प्रदेश पर [एक्किको चेव वट्टदि] एक एक कालाणुद्रव्य वर्तता है ।

भावार्थः—सब द्रव्योकी पर्याये प्रतिसमय उत्पन्न व नष्ट होती रहती है इसप्रकारके परिणमनमे निमित्त कालद्रव्य है । लोकाकाशके एक एक प्रदेश पर एक २ कालाणु रत्नोंकी राशिवत् रहता है, यह निश्चय काल है ।

अब कहते है कि परिणमनेकी शक्ति स्वभावभूत सब द्रव्योमे है, अन्यद्रव्य निमित्तमात्र है—

णियणियपरिणामाणं, णियणियदव्वं पि कारणं होदि ।
अण्णं बाहिरदव्वं, णिमित्तमित्तं वियाणेह ॥२१७॥

अन्वयार्थः—[णियणियपरिणामाणं णियणियदव्व पि कारणं होदि] सब द्रव्य अपने अपने परिणमनके उपादान कारण है [अण्णं बाहिरदव्व] अन्य वाह्य द्रव्य है वे अन्यके [णिमित्तमित्तं वियाणेह] निमित्तमात्र जानो ।

श्रेणी आकाशकी सख्या आती है (जो मध्यम अनन्तकी उत्कृष्टताके समीप है) जो श्रेणी आकाशके घनप्रमाण सम्पूर्ण आकाश प्रदेश है । तीनो कालके समयोसे भी आकाशप्रदेश अनन्तानन्त गुणे है इसप्रकार श्री केवलज्ञानी भगवान श्री महावीरने प्रतिपादन किया है । "व्यय–सद्भावे सत्यपि नवीन वृद्धेरभाववत्व चेत् । यस्य क्षयो न नियतः सोऽनतो जिनमते भणित." यह है एक समयमे-प्रत्येक समयमे अखिल विश्वका अत्यन्त स्पष्ट पूर्ण ज्ञाता सर्वज्ञकी वास्तविकता और महिमा इसलिये ही जैनधर्म मे धर्मका मूल सर्वज्ञ और (जाति अपेक्षा छह ही है) छहो द्रव्योकी सर्वदा सर्व प्रकार स्वतन्त्रता स्वयमेव प्रकाशमान है] । [तत्वार्थ श्लोकवार्तिक पु० नं० ६ पृष्ठ १४३ से उद्धृत]

भावार्थः—※ जैसे घड़े आदिमें मिट्टी उपादान कारण है और चाक दण्डादि निमित्तकारण है। वैसे ही सब द्रव्य अपनी पर्यायोंको उपादान कारण है। तब कालद्रव्य तो निमित्तमात्र कारण है।

अब कहते हैं कि सब ही द्रव्योंके परस्पर उपकार है सो सहकारी निमित्तमात्र कारणभावसे है—

सव्वाणं दव्वाणं, जो उवयारो हवेइ अण्णोण्णं।
सो चिय कारणभावो, हवदि हु सहयारिभावेण॥२१८॥

अन्वयार्थः—[सव्वाणं दव्वाणं जो] सब ही द्रव्योंके जो [अण्णोणं] परस्पर [उवयारो हवेइ] उपकार है [सो चिय] वह [सहयारिभावेण] सहकारीभावसे [कारणभावो हवदि हु] कारणभाव होता है, यह प्रगट है।

अब द्रव्योके स्वभावभूत अनेक शक्तियाँ हैं उनका निषेध कौन कर सकता है ऐसा कहते हैं—

कालाइलद्धिजुत्ता, णाणासत्तीहि संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं, ण सक्कदे को वि वारेदुं॥२१९॥

अन्वयार्थः—[अत्था] सब ही पदार्थ [कालाइलद्धिजुत्ता] काल÷ आदि लब्धि सहित [णाणासत्तीहि संजुदा] अनेक प्रकारकी शक्ति सहित है [हि सयं परिणममाणा] स्वयं परिणमन करते है [को वि वारेदुं ण सक्कदे] उनको परिणमन करते हुए कोई निवारण करनेमे समर्थ नही है।

भावार्थः—सब द्रव्य अपने अपने परिणामरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल सामग्रीको पाकर आप ही भावरूप परिणमन करते है। उनका कोई निवारण नही कर सकता है।

※ [जो स्वयं कार्य रूप परिणमन करे वह उपादान कारण है]।

÷ काल आदि लब्धि—काल लब्धिका अर्थ 'स्वकाल' की प्राप्ति होना है यही आचार्य्यश्रीने यहाँ स्पष्ट किया है।

अब व्यवहारकालका निरूपण करते है—

जीवाण पुग्गलाणं, जे सुहुमा बादरा य पज्जाया।
तीदाणागदभूदा, सो ववहारो हवे कालो ॥२२०॥

अन्वयार्थः—[जीवाण पुग्गलाणं,] जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्यके [सुहुमा वादरा य पज्जाया] सूक्ष्म तथा वादर पर्याय है [जे] वे [तीदाणागदभूदा] अतीत हो चुके है, अनागत आगामी होयेंगे, भूत वर्तमान है [सो ववहारो कालो हवे] सो ऐसा व्यवहार काल होता है।

भावार्थः—जो जीव पुद्गलके स्थूल सूक्ष्म पर्याय हैं वे जो हो चुके अतीत कहलाए, जो आगामी होयेंगे उनको अनागत कहते है, जो वर्त रहे है सो वर्तमान कहलाते है। इनको जितना काल लगता है उसही को व्यवहारकाल नामसे कहते है सो जघन्य तो पर्यायकी स्थिति एक समयमात्र है और मध्यम, उत्कृष्ट अनेक प्रकार है।

आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तक पुद्गलका परमाणु मन्दगतिसे जाता है उतने कालको समय कहते है, ऐसे जघन्ययुक्ताऽसख्यात समयकी एक आवली होती है। संख्यात आवलीके समूहको एक उस्वास कहते है सात उस्वासका एक स्तोक होता है। सात स्तोकका एक लव होता है। साढे अडतीस लवकी एक घड़ी होती है। दो घडीका एक मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्त्तका रातदिन होता है। पन्द्रह रातदिनका पक्ष होता है। दो पक्षका मास होता है। दो मासकी ऋतु होती है। तीन ऋतुका अयन होता है। दो अयनका वर्ष होता है इत्यादि पल्य, सागर, कल्प आदि व्यवहार काल अनेक प्रकार है।

अब अतीत, अनागत, वर्तमान पर्यायोंकी संख्या कहते हैं—

तेसु अतीदा णंता, अणंतगुणिदा य भाविपज्जाया।
एक्को वि वट्टमाणो, एत्तियमित्तो वि सो कालो ॥२२१॥

अन्वयार्थः—[तेसु अतीदा णंता] उन द्रव्योंकी पर्यायोमे अतीतपर्याय अनन्त है [य भाविपज्जाया अणंतगुणिदा] और अनागत पर्यायें उनसे अनन्तगुणी है [एक्को वि

वट्टमाणो] वर्त्तमान पर्याय एक ही है÷[एत्तियमित्तो वि सो कालो] सो जितनी पर्यायें है उतना ही व्यवहारकाल है । इस तरह द्रव्योंका वर्णन किया ।+

अब द्रव्योंके कार्यकारणभावका निरूपण करते है—

पुव्वपरिणामजुत्तं, कारणभावेण वट्टदे दव्वं ।
उत्तरपरिणामजुदं, तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥२२२॥

अन्वयार्थः—[पुव्वपरिणामजुत्तं] पूर्व परिणाम युक्त [दव्वं] द्रव्य [कारणभावेण वट्टदे] कारणरूप है [उत्तरपरिणामजुदं तं चिय] और उत्तरपरिणामयुक्त द्रव्य [णियमा] नियमसे [कज्जं हवे] कार्यरूप है ।

अब वस्तुके तीनों कालोंमें ही कार्यकारणभाव निश्चय करते है—

कारणकज्जविसेसा, तिस्सु वि कालेसु होंति वत्थूणं ।
एक्केक्कम्मि य समए, पुव्वुत्तरभावमासिज्ज ॥२२३॥

अन्वयार्थः—[वत्थूणं] वस्तुओके [पुव्वुत्तरभावमासिज्ज] पूर्व और उत्तर परिणामको पाकर [तिस्सु वि कालेसु] तीनों ही कालोमें [एक्केक्कम्मि य समए] एक एक समयमे [कारणकज्जविसेसा] कारण कार्यके विशेष [होंति] होते है ।

भावार्थः—वर्त्तमान समयमें जो पर्याय है सो पूर्वसमय सहित वस्तुका कार्य है । ऐसे ही सब पर्यायें जानना चाहिये । ऐसे समय २ कार्यकारणभावरूप है ।

अब वस्तु है सो अनन्त धर्मस्वरूप है ऐसा निर्णय करते हैं—

संति अणंताणंता, तीसु वि कालेसु सव्वदव्वाणि ।
सव्वं पि अणेयंतं, तत्तो भणिदं जिणेंदेहि ॥२२४॥

अन्वयार्थः—[सव्वदव्वाणि] सब द्रव्य [तीसु वि कालेसु] तीनों ही कालोंमें [अणंताणंता] अनन्तानन्त [संति] है, अनन्त पर्यायों सहित है [तत्तो] इसलिये

÷ [देखो गाथा ३०२ की टीका] ।

+ [भावार्थः—संसार पर्यायका अन्त किसी जीवको आताही है किन्तु संसार-पर्यायोसे मोक्षकी पर्यायें अनन्तगुणी है और भाविपर्यायोका काल भूतपर्यायोसे अनन्तगुना है । कभी भी भविष्यकालका अन्त नही होगा (श्वे० मतमे विरुद्ध कथन है)] ।

[जिणेंदेहिं] जिनेन्द्रदेवने [सव्वं पि अणेयत] सब ही वस्तुओंको अनेकान्त (अनन्त धर्मस्वरूप [भणिदं] कहा है ।

अब कहते है कि जो अनेकान्तात्मक वस्तु है सो अर्थक्रियाकारी है—

जं वत्थु अणेयंतं, तं चिय कज्जं करेदि णियमेण ।
बहुधम्मजुदं अत्थं, कज्जकरं दीसदे लोए ॥२२५॥

अन्वयार्थः—[जं वत्थु अणेयतं] जो वस्तु अनेकान्त है—अनेक धर्मस्वरूप है [तं चिय] सो ही [णियमेण] नियमसे [कज्जं करेदि] कार्य करती है [लोए] लोकमें [बहुधम्मजुद अत्थं] बहुत धर्मोसे युक्त पदार्थ ही [कज्जकरं दीसदे] कार्य करनेवाले देखे जाते हैं ।

भावार्थः—लोकमें नित्य, अनित्य, एक, अनेक भेद इत्यादि अनेक धर्मयुक्त वस्तुएँ है सो कार्यकारिणी दिखाई देती है जैसे मिट्टी के घड़े आदि अनेक कार्य बनते है सो सर्वथा मिट्टी एकरूप, नित्यरूप तथा अनेक अनित्य रूप ही होवे तो घड़े आदि कार्य बनते नही है, ऐसे ही सब वस्तुओको जानना चाहिये ।

अब सर्वथा एकान्त वस्तुके कार्यकारीपना नही है ऐसा कहते हैं—

एयंतं पुणु दव्वं, कज्जं ण करदि लेसमेत्तं पि ।
ज पुणु ण करदि कज्जं, तं वुच्चदि केरिसं दव्वं ॥२२६॥

अन्वयार्थः—[एयंतं पुणु दव्व] एकान्तस्वरूप द्रव्य [लेसमेत्तं पि] लेशमात्र भी [कज्जं ण करदि] कार्यको नही करता हैं [जं पुणु ण करदि कज्जं] और जो कार्य ही नही करता है [तं वुच्चदि केरिसं दव्वं] वह कैसा द्रव्य है, वह करता है तो शून्यरूपसा है ।

भावार्थः—जो अर्थक्रियास्वरूप होवे सो ही परमार्थरूप वस्तु कही है और जो अर्थक्रियारूप नही है सो आकाशके फूलके समान शून्यरूप है ।

अब सर्वथा नित्य एकान्तमे अर्थक्रियाकारीपनेका अभाव दिखाते हैं—

परिणामेण विहीणं, णिच्चं दव्वं विणस्सदे णेव ।
णो उप्पज्जेदि सया, एवं कज्जं कहं कुणदि ॥२२७॥

अन्वयार्थः—[परिणामेण विहीणं] परिणाम रहित [णिच्चं दव्वं णेव विणस्सदे] नित्य द्रव्य नष्ट नही होता है [णो उप्पज्जदि य] और उत्पन्न भी नहीं होता है [कज्ज कहं कुणदि] तब कार्य कैसे करता है [एवं सया] और यदि उत्पन्न व नष्ट होवे तो नित्यपना नही ठहरे। इस तरह जो कार्य नहीं करता है वह द्रव्य नही है।

अब फिर क्षणस्थायीके कार्यका अभाव दिखाते हैं—

पज्जयमित्तं तच्चं, विणस्सरं खणे खणे वि अण्णण्णं।
अण्णइदव्वविहीणं, ण य कज्जं किं पि साहेदि ॥२२८॥

अन्वयार्थः—[विणस्सर] जो क्षणस्थायी [पज्जयमित्त तच्चं] पर्यायमात्र तत्त्व [खणे खणे वि अण्णण्ण] क्षण क्षणमे अन्य अन्य होवे ऐसे विनश्वर माने तो [अण्णइदव्वविहीणं] अन्वयीद्रव्यसे रहित होता हुआ [किं पि कज्ज ण य साहेदि] कुछ भी कार्यको सिद्ध नही करता है। क्षणस्थायी विनश्वरके कैसा कार्य ?

अब अनेकान्तवस्तुके ही कार्यकारणभाव बनता है सो दिखाते है—

णवणवकज्जविसेसा, तीसु वि कालेसु होंति वत्थूणं।
एक्केक्कम्मि य समये, पुव्वुत्तरभावमासिज्ज ॥२२९॥

अन्वयार्थः—[वत्थूणं] जीवादिक वस्तुओके [तीसु वि कालेसु] तीनों ही कालोमे [एक्केक्कम्मि य समये] एक एक समयमे [पुव्वुत्तरभावमासिज्ज] पूर्वउत्तर-परिणामके आश्रय करके [णवणवकज्जपिसेसा] नवीन नवीन कार्य विशेष [होंति] होते है, नवीन नवीन पर्यायें उत्पन्न होती है।

अब पूर्वोत्तरभावके कारणकार्यभावको दृढ़ करते है—

पुव्वपरिणामजुत्तं, कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं, तं च्चिय कज्जं हवे णियमा ॥२०३॥

अन्वयार्थः—[पुव्वपरिणामजुत्तं] पूर्वपरिणामयुक्त [दव्वं] द्रव्य [कारणभावेण वट्टदे] कारणभावसे वर्तता है [तं च्चिय] और वह ही द्रव्य [उत्तरपरिणामजुदं] उत्तरपरिणामयुक्त होवे तब [कज्ज हवे] कार्य होता है [णियमा] ऐसा नियम है।

भावार्थः—जैसे मिट्टीका पिंड तो कारण है और उसका घट बना सो कार्य है। ऐसे ही पहिले पर्यायके स्वरूपको कहकर अब जीव पिछली पर्याय सहित हुवा तब वह ही कार्यरूप हुआ, ऐसे नियम है। इस तरह वस्तुका स्वरूप कहा जाता है।

अब जीव द्रव्यके भी वैसे ही अनादिनिधन कार्यकारणभाव सिद्ध करते है—

जीवो अणाइणिहणो, परिणयमाणो हु णवणवं भावं।
सामग्गीसु पवट्टदि, कज्जाणि समासदे पच्छा ॥२३१॥

अन्वयार्थः—[जीवो अणाइणिहणो] जीव द्रव्य अनादिनिधन है [णवणवं भाव परिणयमाणो हु] वह नवीन नवीन पर्यायरूप प्रगट परिणमता है [[सामग्गीसु पवट्टदि] वह ही पहिले द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी सामग्रीमे प्रवृत्त होता है [पच्छा कज्जाणि समासदे] और बादमे कार्योको–पर्यायोको प्राप्त होता है।

भावार्थः—जैसे कोई जीव पहिले शुभ परिणामरूप प्रवृत्ति करे तब स्वर्ग पावे और पहिले अशुभ परिणामरूप प्रवृत्ति करे तब नरक आदि पर्याय पावे ऐसे जानना चाहिये।

अब जीवद्रव्य अपने द्रव्यक्षेत्रकालभावमें रहता हुआ ही (अपनेमें ही) नवीन पर्यायरूप कार्यको करता है ऐसा कहते हैं—

ससरूवत्थो जीवो, कज्जं साहेदि वट्टमाणं पि।
खित्ते एकम्मि ठिदो, णियदव्वे संठिदो चेव ॥२३२॥

अन्वयार्थः—[जीवो] जीवद्रव्य [ससरूवत्थो वट्टमाणं पि] अपने चैतन्यस्वरूपमे स्थित होता हुआ [खित्ते एकम्मि ठिदो] अपने ही क्षेत्रमे स्थित रहकर [णियदव्वे संठिदो चेव] अपने ही द्रव्योमे रहता हुआ [कज्जं साहेदि] अपने परिणमनरूप समयमें अपने पर्यायस्वरूप कार्यको सिद्ध करता है।

भावार्थः—※ परमार्थसे विचार करे तो अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव स्वरूप होता हुआ जीव पर्यायस्वरूप—कार्यरूप परिणमन करता है, पर द्रव्य क्षेत्रकाल भाव हैं सो तो निमित्तमात्र है।

※ [ऐसा अनेकान्त स्वरूप है अतः]।

अब यदि अन्यस्वरूप होकर कार्य करे तो उसमें दोष दिखाते है—

ससरूवत्थो जीवो, अराणसरूवम्मि गच्छदे जदि हि।
अराणोराणमेलणादो, एक्क-सरूवं हवे सव्वं ॥२३३॥

अन्वयार्थः—[जदि हि] यदि [जीवो] जीव [ससरूवत्थो] अपने स्वरूपमें रहता हुआ [अण्णसरूवम्मि गच्छदे] पर स्वरूपमे जाय तो÷ [अण्णोण्णमेलणादो] परस्पर मिलनेसे—एकत्व हो जानेसे [सव्व] सब द्रव्य [एकसरूवं हवे] एक स्वरूप हो जांय। तब तो बड़ा दोष आवे परन्तु एकस्वरूप कभी भी नही होता है यह प्रगट है।

अब सर्वथा एकस्वरूप माननेमें दोष दिखाते है—

अहवा बंभसरूवं, एक्कं सव्वं पि मराणदे जदि हि।
चंडालबंभणाणं, तो ण विसेसो हवे को वि ॥२३४॥

अन्वयार्थः—[जदि हि अहवा बभसरूवं एक्कं सव्वं पि मण्णदे] यदि सर्वथा एक ही वस्तु मानकर ब्रह्मका स्वरूप रूप सर्व माना जाय तो [चडालबंभणाणं तो ण विसेसो हवे कोई] ब्राह्मण और चांडालमे कुछ भी विशेषता (भेद) न ठहरे।

भावार्थः—एक ब्रह्मस्वरूप सब जगतको माना जाय तो अनेकरूप न ठहरे। यदि अविद्यासे अनेकरूप दिखाई देता हुआ माना जाय तो अविद्या उत्पन्न किससे हुई। यदि ब्रह्मसे हुई तो उससे भिन्न हुई या अभिन्न हुई, अथवा सत्‌रूप है या असत्‌रूप है, एकरूप है या अनेकरूप है इस तरह विचार करने पर कही भी अन्त नही आता है इसलिये वस्तुका स्वरूप अनेकान्त ही सिद्ध होता है और वह ही सत्यार्थ है।+

अब अणुमात्र तत्त्वको माननेमें दोष दिखाते है—

अणुपरिमाणं तच्चं, अंसविहीणं च मराणदे जदि हि।
तो संबंधाभावो, तत्तो वि ण कज्जसंसिद्धि ॥२३५॥

÷ [अर्थात् परका कुछ कर सकता है ऐसा माना जाये तो]।

+ [प्रत्येक वस्तुका स्वरूप अपने ही द्रव्य-क्षेत्र काल और भावस्वरूपसे है-परस्वरूपसे कभी भी नही है ऐसा सम्यक् अनेकान्त ही प्रत्येक वस्तुको बनाये रखता है]।

अन्वयार्थः—[जदि हि अंसविहीणं अणुपरिमाणं तच्चं मण्णदे] यदि एक वस्तु सर्वगत व्यापक न मानी जाय और अशरहित अणुपरिमाण तत्त्व माना जाय [तो संबंधाभावो तत्तो वि ण कज्जसंसिद्धि] तो दो अशके तथा पूर्वोत्तर अशके सम्बन्धके अभावसे अणुमात्र वस्तुसे कार्यकी सिद्धी नही होती है।

भावार्थः—निरश क्षणिक निरन्वयी वस्तुके अर्थक्रिया नही होती है, इसलिये सांश नित्य अन्वयी वस्तु कथचित् मानना योग्य है।

अब द्रव्यके एकत्वपनेका निश्चय करते हैं—

सव्वाणं दव्वाणं, दव्वसरूवेण होदि एयत्तं।
णियणियगुणभेएण हि, सव्वाणि वि होंति भिण्णाणि ॥२३६॥

अन्वयार्थः—[सव्वाणं दव्वाणं दव्वसरूवेण एयत्तं होदि] सब ही द्रव्योके द्रव्यस्वरूपसे तो एकत्व होता है [णियणियगुणभेएण हि सव्वाणि वि भिण्णाणि होंति] और अपने अपने गुणके भेदसे सब द्रव्य भिन्न भिन्न है।

भावार्थः—द्रव्यका लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप सत् है इस स्वरूपसे तो सबके एकत्व है और अपने अपने गुण चेतनत्व जडत्व आदि भेदरूप है इसलिये गुणोके भेदसे सब द्रव्य भिन्न भिन्न है तथा एक द्रव्यकी त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायें है सो सब पर्यायोमे द्रव्य स्वरूपसे तो एकता ही है जैसे चेतनकी पर्यायें सब ही चेतन स्वरूप है, पर्यायें अपने अपने स्वरूपसे भिन्न भी है, भिन्न कालवर्ती भी है, इसलिये भिन्न भिन्न भी कहते हैं। किन्तु उनके प्रदेश–भेद तो कभी भी नही है इसलिये एक ही द्रव्यकी अनेक पर्यायें होती है इसमे विरोध नही आता।

अब द्रव्यके गुणपर्यायस्वभावपना दिखाते है—

जो अत्थो पडिसमयं, उप्पादव्वयधुवत्तसब्भावो।
गुणपज्जयपरिणामो, सो सत्तो भण्णदे समये ॥२३७॥

अन्वयार्थः—[जो अत्थो पडिसमय उप्पादव्वयधुवत्तसब्भावो] जो अर्थ (वस्तु) समय समय उत्पाद व्यय ध्रुवत्वके स्वभावरूप है [सो गुणपज्जयपरिणामो सत्तो समये भण्णदे] सो गुणपर्यायपरिणामस्वरूप सत्त्व सिद्धान्तमे कहते है।

भावार्थः—जो जीव आदि वस्तुएँ है वे उत्पन्न होना, नष्ट होना और स्थिर रहना इन तीनो भावमयी है और जो वस्तु गुणपर्याय परिणामस्वरूप है सो ही सत् है जैसे जीव द्रव्यका चेतना गुण है उसका स्वभाव विभावरूप परिणमन है इसी तरह समय समय परिणमे (बदले) सो पर्याय है। ऐसे ही पुद्गलके स्पर्श रस गध वर्ण गुण हैं वे स्वभाव–विभावरूप समय समय परिणमते है सो पर्याये हैं। इस तरहसे सब द्रव्य, गुणपर्यायपरिणामस्वरूप प्रगट हैं।

अब द्रव्योके व्यय उत्पाद क्या हैं सो कहते है—

पडिसमयं परिणामो, पुव्वो णस्सेदि जायदे अण्णो।
वत्थुविणासो पढमो, उववादो भण्णदे बिदिओ ॥२३८॥

अन्वयार्थः—[परिणामो] जो वस्तुका परिणाम [पडिसमयं] समयसमयप्रति [पुव्वो णस्सेदि अण्णो जायदे] पहिला तो नष्ट होता है और दूसरा उत्पन्न होता है [पढमो वत्थुविणासो] सो पहिले परिणामरूप वस्तुका तो नाश (व्यय) है [बिदिओ उववादो भण्णदे] और दूसरा परिणाम जो उत्पन्न हुआ उसको उत्पाद कहते हैं। इस तहर व्यय और उत्पाद होते है।

अब द्रव्यके ध्रुवत्वका निश्चय कहते है—

णो उप्पज्जदि जीवो, दव्वसरूवेण णेय णस्सेदि।
तं चेव दव्वमित्तं, णिच्चत्तं जाण जीवस्स ॥२३९॥

अन्वयार्थः—[जीवो दव्वसरूवेण णेय णस्सेदि णो उप्पज्जदि] जीवद्रव्य द्रव्यस्वरूपसे न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है [तं चेव दव्वमित्तं जीवस्स णिच्चत्तं जाण] अतः द्रव्यमात्रसे जीवके नित्यत्व जानना चाहिये।

भावार्थः—जीव सत्ता और चेतनतासे उत्पन्न व नष्ट नही होता है, न तो नवीन जीव कोई उत्पन्न ही होता है और न नष्ट ही होता है यह ही ध्रुवत्व कहलाता है।

अब द्रव्यपर्यायका स्वरूप कहते है—

अण्णइरूवं दव्वं, विसेसरूवो हवेइ पज्जाओ।
दव्वं पि विसेसेण हि, उप्पज्जदि णस्सदे सददं ॥२४०॥

अन्वयार्थः—[अण्णइरूवं दव्व] जीवादिक वस्तु अन्वयरूपसे द्रव्य है [विसेसरूवो पज्जाओ हवेइ] वह ही विशेषरूपसे पर्याय है [विसेसेण हि दव्व पि सदद उप्पज्जदि णस्सदे] और विशेषरूपसे द्रव्य भी निरन्तर उत्पन्न व नष्ट होता है ।

भावार्थः—अन्वयरूप पर्यायोमे नित्य सामान्य भावको द्रव्य कहते है और जो अनित्य विशेष भाव हैं वे पर्याये है । सो विशेषरूपसे द्रव्य भी उत्पादव्ययस्वरूप कहा जाता है । किन्तु ऐसा नही कि पर्याय द्रव्यसे भिन्न ही उत्पन्न व नष्ट होती है किन्तु अभेदविवक्षासे द्रव्य ही उत्पन्न व नष्ट होता है । भेदविवक्षासे भिन्न भी कहा जाता है।

अब गुणका स्वरूप कहते है—

सरिसो जो परिणामो, अणाइणिहणो हवे गुणो सो हि ।
सो सामण्णसरूवो, उप्पज्जदि णस्सदे णेय ॥२४१॥

अन्वयार्थः—[जो परिणामो सरिसो अणाइणिहणो सो हि गुणो हवे] जो द्रव्यका परिणाम सदृश (पूर्व उत्तर सब पर्यायोमें समान) होता है अनादिनिधन होता है वह ही गुण है [सो सामण्णसरूवो उप्पज्जदि णस्सदे णेय] वह सामान्यस्वरूपसे उत्पन्न व नष्ट भी नही होता है ।

भावार्थः—जैसे जीवद्रव्यका चैतन्य गुण सब पर्यायोमें विद्यमान है, अनादि-निधन है,वह सामान्यस्वरूपसे उत्पन्न व नष्ट नही होता है, विशेषरूपसे पर्यायोमे व्यक्तरूप होता ही है, ऐसा गुण है । ऐसा ही अपने अपने साधारण असाधारण गुण सब द्रव्योमे जानना चाहिये ।

अब कहते है कि गुणाभास विशेषस्वरूपसे उत्पन्न व नष्ट होता है, गुणपर्यायोका एकत्व है सो ही द्रव्य है—

सो वि विणस्सदि जायदि, विसेसरूवेण सव्वदव्वेसु ।
दव्वगुणपज्जयाणं, एयत्तं वत्थु परमत्थं ॥२४२॥

अन्वयार्थः—[सो वि सव्वदव्वेसु विसेसरूवेण विणस्सदि जायदि] गुण भी द्रव्योमें विशेषरूपसे उत्पन्न व नष्ट होता है [दव्वगुणपज्जयाणं एयत्तं] इस तरहसे द्रव्यगुणपर्यायोका एकत्व है [परमत्थं वत्थु] वह ही परमार्थभूत वस्तु है ।

भावार्थः—गुणका स्वरूप वस्तुसे भिन्न ही नही है, नित्य रूप सदा रहता है, गुण गुणीके कथंचित् अभेदपना है इसलिये जो पर्यायें उत्पन्न व नष्ट होती हैं वे गुणगुणीके विकार है इसलिये गुण उत्पन्न होते है व नष्ट होते हैं ऐसा भी कहा जाता है। इस तरह ही नित्यानित्यात्मक वस्तुका स्वरूप है, ऐसे द्रव्यपर्यायोंकी एकता ही परमार्थरूप वस्तु है।

अब आशंका उत्पन्न होती है कि द्रव्योमें पर्यायें विद्यमान उत्पन्न होती है या अविद्यमान उत्पन्न होती है ? ऐसी आशंकाको दूर करते है—

जदि दव्वे पज्जाया, वि विज्जमाणा तिरोहिदा संति।
ता उप्पत्ती विहला, पडिपिहिदे देवदत्तेव्व ॥२४३॥

अन्वयार्थः—[जदि दव्वे पज्जाया] जो द्रव्योमें पर्याये है वे [वि विज्जमाणा तिरोहिदा संति] विद्यमान और तिरोहित ढकी हुई है ऐसा माना जाय [ता उप्पत्ती विहला] तो उत्पत्ति कहना विफल है [पडिपिहिदे देवदत्तेव्व] जैसे देवदत्त कपड़ेसे ढका हुआ था, कपड़ेको हटा देने पर यह कहा जाय कि यह उत्पन्न हुआ इस तरहसे उत्पत्ति कहना परमार्थ (सत्य) नही, विफल है। इसी तरह ढकी हुई द्रव्यपर्यायके प्रगट होने पर उसकी उत्पत्ति कहना परमार्थ नही है इसलिये अविद्यमान पर्यायकी ही उत्पत्ति कही जाती है।

सव्वाण पज्जयाणं, अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती।
कालाईलद्धीए, अणाइणिहणम्मि दव्वम्मि ॥२४४॥

अन्वयार्थः—[अणाइणिहणम्मि दव्वम्मि] अनादिनिधन द्रव्योमें [कालाईलद्धीए] कालादि लब्धिसे [सव्वाण] सब [अविज्जमाणाण] अविद्यमान [पज्जयाणं] पर्यायोकी [उप्पत्ती] उत्पत्ति [होदि] होती है।

भावार्थः—अनादिनिधन द्रव्यमें काल आदि लब्धिसे पर्याये अविद्यमान उत्पन्न होती है, ऐसा नही है कि सब पर्यायें एक ही समयमें विद्यमान हो और वे ढकती जाती हैं, समय समय क्रमसे नवीन नवीन ही उत्पन्न होती है। द्रव्य त्रिकालवर्ती सब पर्यायोंका समुदाय है, कालभेदसे क्रमसे पर्याये होती है।

अब द्रव्य पर्यायोके कथंचित् भेद कथंचित् अभेद दिखाते हैं—

दव्वाणपज्जयाणं, धम्मविवक्खाइ कीरए भेओ ।
वत्थुसरूवेण पुणो, ण हि भेओ सक्कदे काउं ॥२४५॥

अन्वयार्थः—[दव्वाणपज्जयाणं] द्रव्य और पर्यायोके [धम्मविवक्खाइ] धर्म धर्मीकी विवक्षासे [भेओ कीरए] भेद किया जाता है [वत्थुसरूवेण पुणो] वस्तुस्वरूपसे [भेओ काउं ण हि सक्कदे] भेद करनेको समर्थ नही है ।

भावार्थः—द्रव्य पर्यायके धर्म धर्मीकी विवक्षासे भेद किया जाता है । द्रव्य धर्मी है, पर्याय धर्म है और वस्तुसे अभेद ही है । केई नैयायिकादि धर्म धर्मीके सर्वथा भेद मानते है उनका मत प्रमाण बाधित है ।

अब द्रव्य पर्यायके सर्वथा भेद मानते है उनको दोष दिखाते हैं—

जदि वत्थुदो विभेदो, पज्जयदव्वाण मण्णसे मूढ ।
तो णिरवेक्खा सिद्धी, दोण्हं पि य पावदे णियमा ॥२४६॥

अन्वयार्थः—द्रव्य पर्यायके भेद मानता है उसको कहते है कि [मूढ] हे मूढ ! [जदि] यदि तू [पज्जयदव्वाण] द्रव्य और पर्यायके [वत्थुदो विभेदो] वस्तुसे भी भेद [मण्णसे] मानता है [तो] तो [दोण्हं पि य] द्रव्य और पर्याय दोनोके [णिरवेक्खा सिद्धी] निरपेक्षा सिद्धी [णियमा] नियमसे [पावदे] प्राप्त होती है ।

भावार्थ.—द्रव्यपर्याय भिन्न भिन्न वस्तुएँ सिद्ध होती है । धर्म धर्मीपणा सिद्ध नही होता है ।

अब जो विज्ञानको ही अद्वैत कहते है और बाह्य पदार्थको नही मानते है उनको दोष बताते है—

जदि सव्वमेव णाणं, णाणारूवेहि संठिदं एक्कं ।
तो ण वि किं पि विणेयं, णेयेण विणा कहं णाणं ॥२४७॥

अन्वयार्थः—[जदि सव्वमेव एक्क णाणं] जो सब वस्तुएँ एक ज्ञान ही है [णाणारूवेहि सठिदं] वह ही अनेक रूपोमे स्थित है [तो ण वि किं पि विणेयं] यदि ऐसा माना जाय तो ज्ञेय कुछ भी सिद्ध नही होता है [णेयेण विणा कहं णाण] और ज्ञेयके बिना ज्ञान कैसे सिद्ध होवे ।

भावार्थः—विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धमती कहते हैं कि ज्ञानमात्र ही तत्त्व है वह ही अनेकरूप स्थित है, उसको कहते है कि यदि ज्ञानमात्र ही है तो ज्ञेय कुछ भी नहीं है और ज्ञेय नही है तब ज्ञान कैसे कहा जावे ? ज्ञेयको जानता है वह ज्ञान कहलाता है। ज्ञेयके बिना ज्ञान नही होता है।

घड़पड़जड़दव्वाणि हि, णेयसरूवाणि सुप्पसिद्धाणि ।
णाणं जाणेदि जदो, अप्पादो भिण्णरूवाणि ॥२४८॥

अन्वयार्थः—[घड़पड़जड़दव्वाणि हि] घट पट आदि समस्त जडद्रव्य [णेयसरूवाणि सुप्पसिद्धाणि] ज्ञेयस्वरूप से भलेप्रकार प्रसिद्ध है [जदो णाणं जाणेदि] क्योकि ज्ञान उसको जानता है [अप्पादो भिण्णरूवाणि] इसलिये वे आत्मासे–ज्ञानसे भिन्नरूप रहते है।

भावार्थः—ज्ञेयपदार्थ, जड़द्रव्य भिन्न भिन्न, आतमासे भिन्नरूप प्रसिद्ध है उनका लोप कैसे किया जावे ? यदि न माने तो ज्ञान भी सिद्ध नही होवे, जाने बिना ज्ञान किसका ?

जं सव्वलोयसिद्धं, देहं गेहादिबाहिरं अत्थं ।
जो तं पि णाण मण्णदि, ण मुणदि सो णाणणामं पि ॥२४९॥

अन्वयार्थः—[जं] जा [देहं गेहादिबाहिरं अत्थं] देह गेह आदि बाह्य पदार्थ [सव्वलोयसिद्ध] सर्व लोकप्रसिद्ध है उनको भी ज्ञान ही माने तो [सो णाणणामंपि] वह वादी ज्ञानका नाम भी [ण मुणदि] नही जानता है।

भावार्थः—बाह्य पदार्थको भी ज्ञान ही माननेवाला, ज्ञानके स्वरूपको नही जानता है सो तो दूर ही रहो, ज्ञानका नाम भी नही जानता है।

अब नास्तित्ववादीके प्रति कहते है—

अच्छीहिं पिच्छमाणो, जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं ।
जो भणदि णत्थि किंचि वि, सो झुट्ठाणं महाझुट्ठो ॥२५०॥

अन्वयार्थः—[जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं] जो नास्तिकवादी जीव अजीव आदि बहुत प्रकारके पदार्थोको [अच्छीहिं पिच्छमाणो] प्रत्यक्ष नेत्रोसे देखता हुआ भी

जो भणदि] जो कहता है कि [किंचि वि णत्थि] कुछ भी नही है [सो झुट्ठाणं महाझुट्ठो] वह असत्यवादियोमे महा असत्यवादी है ।

भावार्थः—दीखती हुई वस्तुको भी नही बताता है वह महाभूठा है ।

जं सव्वं पि य संतं, ता सो वि असंतओ कहं होदि ।
णत्थित्ति किंचि तत्तो, अहवा सुरणं कहं मुणदि ॥२५१॥

अन्वयार्थः—[ज सव्वं पि य संतं] जो सब वस्तुएँ सत्रूप है—विद्यमान है [तासो वि असंतओ कहं होदि] वे वस्तुएँ असत्रूप—अविद्यमान कैसे हो सकती हैं [णत्थिचि किंचि तत्तो अहवा सुण्णं कहं मुणदि] अथवा कुछ भी नही है ऐसा तो शून्य है ऐसा भी किसप्रकार मान सकते है ।

भावार्थः—विद्यमान वस्तु अविद्यमान कैसे हो सकती है तथा कुछ भी नही है (यदि ऐसा कहा जाय) तो ऐसा कहनेवाला जाननेवाला भी सिद्ध नही होता है तब शून्य है ऐसा भी कौन जाने ।

अब इस ही गाथाका पाठान्तर है वह इसप्रकार है—

जदि सव्वं पि असंतं, ता सो वि य संतओ कहं भणदि ।
णत्थि त्ति किं पि तच्चं अहवा सुरणं कहं मुणदि ॥२५१॥

अन्वयार्थः—[जं सव्वं पि असंतं ता सो वि य संतओ कहं भणदि] जो सब ही वस्तुएँ असत् हैं तो वह ऐसा कहनेवाला नास्तिकवादी भी असत्रूप सिद्ध हुआ [णत्थिचि किं पि तच्चं अहवा सुण्णं कहं मुणदि] तब कुछ भी तत्त्व नही है इसप्रकार कैसे कहता है, अथवा नही भी कहता वह शून्य है ऐसा कैसे जानता है ।

भावार्थः—आप उपस्थित है और कहता है कि कुछ भी नही है सो यह कहना तो बड़ा अज्ञानयुक्त है तथा शून्यतत्त्व कहना तो प्रलाप ही है, कहनेवाला हो नही तब कहे कौन ? अतः नास्तितत्ववादी प्रलापी है ।

किं बहुणा उत्तेण य, जेत्तियमेत्ताणि संति णामाणि ।
तित्तियमेत्ता अत्था, संति हि णियमेण परमत्था ॥२५२॥

अन्वयार्थः—[किं बहुणा उत्तेण य] बहुत कहनेसे क्या ? [जेत्तियमेत्ताणि णामाणि संति] जितने नाम है [तित्तियमेत्ता] उतने [हि] ही [णियमेण] नियमसे [अत्था] पदार्थ [परमत्था] परमार्थ रूप [संति] है ।

भावार्थः— जितने नाम है उतने ही सत्यार्थ पदार्थ है, बहुत कहने से क्या । ऐसे पदाथोके स्वरूपका वर्णन किया ।

अब उन पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञान है उसका स्वरूप कहते है—

णाणाधम्मेहिं जुदं, अप्पाणं तह परं पि णिच्छयदो ।
जं जाणेदि सजोगं, तं णाणं भण्णदे समये ॥२५३॥

अन्वयार्थः—[जं] जो [णाणाधम्मेहिं जुदं अप्पाणं तह परं पि] अनेक धर्मयुक्त आत्मा तथा परद्रव्योको [सजोगं जाणेदि] अपने योग्यको जानता है [तं] उसको [णिच्छयदो] निश्चयसे [समये] सिद्धान्तमे [णाणं भण्णदे] ज्ञान कहते हैं ।

भावार्थः—जो आपको तथा परको अपने आवरणके क्षयोपशम तथा क्षयके अनुसार जानने योग्य पदार्थको जानता है वह ज्ञान है । यह सामान्य ज्ञानका स्वरूप कहा गया है ।

अब सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञानका स्वरूप कहते है—

जं सव्वं पि पयासदि, दव्वपज्जायसंजुदं लोयं ।
तह य अलोयं सव्वं, तं णाणं सव्वपच्चक्खं ॥२५४॥

अन्वयार्थः—[जं] जो ज्ञान [दव्वपज्जायसंजुद] द्रव्यपर्यायसयुक्त [सव्वं पि] सब ही [लोय] लोकको [तह य सव्वं अलोयं] तथा सब अलोकको [पयासदि] प्रकाशित करता है (जानता है) [त सव्वपच्चक्ख णाणं] वह सर्वप्रत्यक्ष केलवज्ञान है ।

अब ज्ञानको सर्वगत कहते है—

सव्वं जाणदि जम्हा, सव्वगयं तं पि वुच्चदे तम्हा ।
ण य पुण विसरदि णाणं, जीवं चइऊण अण्णत्थ ॥२५५॥

अन्वयार्थः—[जम्हा सव्वं जाणदि] क्योंकि ज्ञान सब लोकालोकको जानता है [तम्हा तं पि सव्वगयं वुच्चदे] इसलिये ज्ञानको सर्वगत भी कहते है [पुण] और [णाणं जीवं चइऊण अण्णत्थ] ज्ञान जीवको छोड़कर अन्य ज्ञेय पदार्थोंमे [ण य विसरदि] नही जाता है।

भावार्थः—ज्ञान सब लोकालोकको जानता है इस अपेक्षा ज्ञान सर्वगत तथा सर्वव्यापक कहलाता है परन्तु ज्ञान तो जीवद्रव्यका गुण है इसलिये जीवको छोड़कर अन्य पदार्थोंमे नही जाता है।

अब ज्ञान जीवके प्रदेशोमे रहता हुआ ही सबको जानता है ऐसा कहते है—

णाणं ण जादि णेयं, णेयं पि ण जादि णाणदेसम्मि।
णियणियदेसठियाणं, ववहारो णाणणेयाणं ॥२५६॥

अन्वयार्थः—[णाणं णेयं ण जादि] ज्ञान ज्ञेयमे नही जाता है [णेयं पि णाणदेसम्मि ण जादि] और ज्ञेयभी ज्ञानके प्रदेशोमे नही जाता है [णियणियदेसठियाणं] अपने अपने प्रदेशोमे रहते है तो भी ज्ञान और ज्ञेयके ज्ञेयज्ञायक व्यवहार है।

भावार्थः—जैसे दर्पण अपने स्थान पर है, घटादिक वस्तुएं अपने स्थान पर हैं। तो भी दर्पणकी स्वच्छता ऐसी है मोनो कि दर्पणमे घट आकर ही बैठा है ऐसे ही ज्ञानज्ञेयका व्यवहार जानना चाहिये।

अब मन पर्यय अवधिज्ञान और मति श्रुतज्ञानकी सामर्थ्य कहते है—

मणपज्जयविण्णाणं, ओहीणाणं च देसपच्चक्खं।
मइसुयणाणं कमसो, विसदपरोक्खं परोक्खंच ॥२५७॥

अन्वयार्थः—[मणपज्जयविण्णाणं ओहीणाणं च देसपच्चक्ख] मनःपर्ययज्ञान और अवधिज्ञान ये दोनो तो देशप्रत्यक्ष है [मइसुयणाणं कमसो विसदपरोक्खं परोक्खं च] मतिज्ञान और श्रुतज्ञान क्रमसे प्रत्यक्षपरोक्ष और परोक्ष है।

भावार्थः—मन पर्ययज्ञान, अवधिज्ञान एकदेशप्रत्यक्ष है क्योंकि जितना इनका विषय है उतना विशद (स्पष्ट) जानते है, सबको नही जानते है, इसलिये एकदेश कहलाते है। मतिज्ञान इन्द्रिय व मनसे उत्पन्न होता है इसलिये व्यवहारसे (इन्द्रियोके

सम्बन्धसे) विशद भी कहा जाता है इस कारणसे प्रत्यक्ष भी है, परमार्थसे (निश्चयसे) परोक्ष ही है । श्रुतज्ञान परोक्ष ही है क्योंकि यह विशद (स्पष्ट) नहीं जानता है ।

अब इन्द्रियज्ञान, योग्य विषयको जानता है ऐसा कहते है—

इन्दियजं मदिणाणं, जोग्गं जाणेदि पुग्गलं दव्वं ।
माणसणाणं च पुणो, सुयविसयं अक्खविसयं च ॥२५८॥

अन्वयार्थः—[इंदियजं मदिणाणं] इन्द्रियोसे उत्पन्न हुआ मतिज्ञान [जोग्गं पुग्गलं दव्व जाणेदि] अपना योग्य विषय जो पुद्गल द्रव्य उसको जानता है । जिस इन्द्रियका जैसा विषय है वैसा ही जानता है । [माणसणाण च पुणो] और मनसम्बन्धी ज्ञान [सुयविसयंअक्खविसयं च] श्रुतविषय (शास्त्रका वचन सुनकर उसके अर्थको जानता है) और इन्द्रियोसे जानने योग्य विषयको भी जानता है ।

अब इन्द्रियज्ञानके उपयोगकी प्रवृत्ति अनुक्रमसे है ऐसा कहते है—

पंचेदियणाणाणं, मज्झे एगं च होदि उवजुत्तं ।
मणणाणे उवजुत्ते, इंदियणाणं ण जाणेदि ॥२५६॥

अन्वयार्थः—[पचेदियणाणाणं मज्झे एगं च उवजुत्तं होदि] पाँचो ही इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है लेकिन एक काल एकेन्द्रियद्वारसे ज्ञान उपयुक्त होता है । पाँचो ही एक काल उपयुक्त नही होते है । [मणणाणे उवजुत्ते] और जब मन ज्ञानसे उपयुक्त हो [इंदियणाण ण जाणेदि] तब इन्द्रियज्ञान उत्पन्न नही होता है ।

भावार्थः—इन्द्रियमनसम्बन्धी ज्ञानी प्रवृत्ति युगपत् (एक साथ) नही होती है, एकसमयमे एक ही से ज्ञान उपयुक्त होता है । जब यह जीव घटको जानता है उससमय पट (वस्त्र) को नही जानता है, इस तरह ज्ञान क्रमपूर्वक है ।

उपर इन्द्रियमनसम्बन्धी ज्ञानकी क्रमसे प्रवृत्ति कही है, यहाँ आशका उत्पन्न होती है कि इन्द्रियोका ज्ञान एककाल है या नही ? इस आशंकाको दूर करनेको कहते है—

एक्के काले एगं, णाणं जीवस्स होदि उवजुत्तं ।
णाणाणाणाणि पुणो, लद्धि-सहावेण वुच्चंति ॥२६०॥

अन्वयार्थः—[जीवस्स एक्के काले एगं णाणं उवजुत्तं होदि] जीवके एक कालमें एक ही ज्ञान उपयुक्त (उपयोगकी प्रवृत्ति) होता है [पुणो लद्धिसहावेण णाणाणाणाणि वुच्चंति] और लब्धिस्वभावसे एककालमे अनेक ज्ञान कहे गये है।

भावार्थः—भाव इन्द्रिय दो प्रकारकी कही गई है, १ लब्धिरूप, २ उपयोगरूप। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे आत्माके जाननेकी शक्ति होती है सो लब्धि कहलाती है वह तो पाँच इन्द्रिय और मन द्वारा जाननेकी शक्ति एककाल ही रहती है और उनकी व्यक्तिरूप उपयोगकी प्रवृत्ति ज्ञेयसे उपयुक्त होती है तब एक काल एकहीसे होती है ऐसी ही क्षयोपशमकी योग्यता है।

अब वस्तुके अनेकात्मता है तो भी अपेक्षासे एकात्मता भी है ऐसा दिखाते है—

जं वत्थु अणेयंतं, एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं।
सुयणाणेण णयेहि य, णिरवेक्खं दीसदे णेव ॥२६१॥

अन्वयार्थः—[ज वत्थु अणेयतं] जो वस्तु अनेकान्त है [तं सविपेक्खं एयंतं पि होदि] वह अपेक्षासहित एकान्त भी है [सुयणाणेण णयेहि य णिरवेक्ख दीसदे णेव] श्रुतज्ञान प्रमाणसे सिद्ध किया जाय तो अनेकान्त ही है और श्रुतज्ञान प्रमाणके अश नयोसे सिद्ध किया जाय तव एकान्त भी है, वह अपेक्षारहित नही है क्योकि निरपेक्ष नय मिथ्या है, निरपेक्षासे वस्तुका रूप नही देखा जाता हैं।

भावार्थः—प्रमाण तो वस्तुके सब धर्मोको एक काल सिद्ध करता है और नय एक एक धर्म ही को ग्रहण करते है इसलिये एकनयके दूसरे नयकी सापेक्षा होय तो वस्तु सिद्ध होवे और अपेक्षा रहित नय वस्तुको सिद्ध नही करता है इसलिये अपेक्षासे वस्तु अनेकान्त भी है ऐसा जानना ही सम्यग्ज्ञान हैं।

अब श्रुतज्ञान परोक्षरूपसे सबको प्रकाशित करता है यह कहते है—

सव्वं पि अणेयंतं, परोक्खरूवेण जं पयासेदि।
तं सुयणाणं भण्णदि, संसयपहुदीहि परिचत्तं ॥२६२॥

अन्वयार्थः—[जं सव्वं पि अणेयंत परोक्खरूवेण पयासेदि] जो ज्ञान सब वस्तुओंको अनेकान्त, परोक्षरूपसे प्रकाशित करता है—जानता है—कहता है और जो

[संसयपहुदीहि परिचत्तं] संशय विपर्यय अनध्यवसायसे रहित है [तं सुयणाणं भण्णदि] उसको श्रुतज्ञान कहते है। ऐसा सिद्धान्तमे कथन है।

भावार्थः—जो सब वस्तुओंको परोक्षरूपसे 'अनेकान्त' प्रकाशित करता है वह श्रुतज्ञान है। शास्त्रके वचनको सुनकर अर्थको जानता है वह परोक्ष ही जानता है और शास्त्रमे सब ही वस्तुओका स्वरूप अनेकान्तात्मकरूप कहा गया है सो सब ही वस्तुओंको जानता है। तथा गुरुओंके उपदेशपूर्वक जानता है तब सशयादिक भी नही रहते है।

अब श्रुतज्ञानके विकल्प (भेद) वे नय है, उनका स्वरूप कहते है—

लोयाणं ववहारं, धम्मविवक्खाइ जो पसाहेदि।
सुयणाणस्स वियप्पो, सो वि णओ लिंगसंभूदो ॥२६३॥

अन्वयार्थः—[जो लोयाणं ववहारं] जो लोकव्यवहारको [धम्मविवक्खाइ पसाहेदि] वस्तुके एक धर्मकी विवक्षासे सिद्ध करता है [सुयणाणस्स वियप्पो] श्रुतज्ञानका विकल्प (भेद) है [लिंगसभूदो] लिगसे उत्पन्न हुआ है [सो वि णओ] वह नय है।

भावार्थः—वस्तुके एक धर्मकी विवक्षा लेकर लोकव्यवहारको साधता है वह श्रुतज्ञानका अश नय है। वह साध्य धर्मको हेतुसे सिद्ध करता है जैसे वस्तुके सत् धर्मको ग्रहण कर इसको हेतुसे सिद्ध करता है कि 'अपने द्रव्यक्षेत्र काल भावसे वस्तु सत्रूप है' ऐसे नय, हेतुसे उत्पन्न होता है।

अब एक धर्मको नय कैसे ग्रहण करता है सो कहते है—

णाणाधम्मजुदं पि य, एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं।
तस्सेयविवक्खादो, णत्थि विवक्खा हु सेसाणं ॥२६४॥

अन्वयार्थः—[णाणधम्मजुदं पि य एय धम्मं पि वुच्चदे अत्थं] अनेक धर्मोसे युक्त पदार्थ हैं तो भी एक धर्मरूप पदार्थको कहता है [तस्सेयविवक्खादो हु सेसाणं विवक्खा णत्थि] क्योकि जहाँ एक धर्मकी विवक्षा करते है वहाँ उस ही धर्मको कहते है अवशेष (बाकी) सब धर्मोकी विवक्षा नही करते है।

भावार्थः—जैसे जीव वस्तुमे अस्तितत्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, चेतनत्व, अमूर्त्तत्व आदि अनेक धर्म है उनसें एक धर्मकी विवक्षासे कहता है

कि जीव चेतन स्वरूप ही है इत्यादि, वहाँ अन्य धर्मकी विवक्षा नही करता है इसलिये ऐसा नही जानना कि अन्यधर्मोका अभाव है किन्तु प्रयोजनके आश्रयसे एक धर्मको मुख्यकरके कहता है, अतः विवक्षितको मुख्य कहा है। अन्यकी विवक्षा नही है।

अब वस्तुके धर्मको, उसके वाचक शब्दको और उसके ज्ञानको, नय कहते हैं—

सो चिय इक्को धम्मो, वाचयस द्दो तस्स धम्मस्स।
तं जाणदि तं णाणं, ते तिण्णि वि णयविसेसा य ॥२६५॥

अन्वयार्थः—[सो चिय इक्को धम्मो] जो वस्तुका एक धर्म [तस्स धम्मस्स वाचयसद्दो वि] उस धर्मका वाचक शब्द [तं जाणदि त णाणं] और उस धर्मको जाननेवाला ज्ञान [ते तिण्णि वि णयविसेसा य] ये तीनो ही नयके विशेष है।

भावार्थः—वस्तुका ग्राहक ज्ञान, उसका वाचक शब्द और वस्तु इनको जैसे प्रमाणस्वरूप कहते है वैसे ही नय भी कहते हैं।

अब पूछते है कि वस्तुका एक धर्म ही ग्रहण करता है ऐसा जो एक नय उसको मिथ्यात्व कैसे कहा है, उसका उत्तर कहते है—

ते सावेक्खा सुणया, णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति।
सयलववहारसिद्धी, सुणयादो होदि णियमेण ॥२६६॥

अन्वयार्थः—[ते सावेक्खा सुणय] वे पहिले कहे हुए तीन प्रकारके नय परस्परमे अपेक्षासहित होते है तब तो सुनय है [णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति] और वे ही जब अपेक्षारहित सर्वथा एक एक ग्रहण किये जाते है तब दुर्नय है [सुणयादो सयलववहारसिद्धी णियमेण होदि] और सुनयोसे सर्व व्यवहार वस्तुके स्वरूपकी सिद्धि नियमसे होती है।

भावार्थः—नय सब ही, सापेक्ष तो सुनय है और निरपेक्ष कुनय है। सापेक्षसे सर्व वस्तु व्यवहारकी सिद्धी है, सम्यग्ज्ञानस्वरूप है और कुनयोसे सर्व लोक व्यवहारका लोप होता है, मिथ्याज्ञानरूप है।

अब परोक्षज्ञानमें अनुमान प्रमाण भी है उसका उदाहरण पूर्वक स्वरूप कहते है—

जं जाणिज्जइ जीवो, इन्दियवावारकायचिट्ठाहिं ।
तं अणुमाणं भण्णदि, तं पि णयं बहुविहं जाण ॥२६७॥

अन्वयार्थः—[जं इंदियवावारकायचिट्ठाहिं जीवो जाणिज्जइ] जो इन्द्रियोंके व्यापार और कायकी चेष्टाओंसे शरीरमें जीवको जानते है [तं अणुमाणं भण्णदि] उसको अनुमान प्रमाण कहते है [तं पि णयं बहुविहं जाण] वह अनुमान ज्ञान भी नय है और अनेक प्रकारका है ।

भावार्थः—पहिले श्रुतज्ञानके विकल्प नय कहे थे, यहाँ अनुमानका स्वरूप कहा कि शरीरमें रहता हुआ जीव प्रत्यक्ष ग्रहणमे नही आता है इसलिये इन्द्रियोका व्यापार–स्पर्श करन, स्वाद लेना, बोलना, सूंघना, सुनना, देखना चेष्टा तथा गमन आदिक चिह्नोसे जाना जाता है कि शरीरमें जीव है सो यह अनुमान है क्योकि साधनसे साध्यका ज्ञान होता है वह अनुमान कहलाता है । यह भी नय ही है । परोक्षप्रमाणके भेदोमे कहा है सो परमार्थसे नय ही है । वह स्वार्थ तथा परार्थके भेदसे और हेतु तथा चिह्नोके भेदसे अनेक प्रकारका कहा गया है ।

अब नयके भेदोको कहते है—

सो संगहेण एक्को, दुविहो वि य दव्वपज्जएहिंतो ।
तेसिं च विसेसादो, णइगमपहुदी हवे णाणं ॥२६८॥

अन्वयार्थः—[सो संगहेण एक्को] वह नय सग्रह करके कहिये तो (सामान्यतया) एक है [य दव्वपज्जएहिंतो दुविहो वि] और द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकके भेदसे दो प्रकारका है [तेसिं च विसेसादो णइगमपहुदी णाणं हवे] और विशेषकर उन दोनोकी विशेषतासे नैगमनयको आदि देकर है सो नय है और वे ज्ञान ही है ।

अब द्रव्यार्थिकनयका स्वरूप कहते है—

जो साहदि सामण्णं, अविणाभूदं विसेसरूवेहिं ।
णाणाजुत्तिबलादो, दव्वत्थो सो णओ होदि ॥२६९॥

अन्वयार्थः—[जो] जो नय वस्तुको [विसेसरूवेहिं] विशेषरूपसे [अविणाभूद] अविनाभूत [सामण्णं] सामान्य स्वरूपको [णाणाजुत्तिबलादो] अनेक प्रकारकी युक्तिके बलसे [साहदि] सिद्ध करता है [सो दव्वत्थो णओ होदि] वह द्रव्यार्थिक नय है ।

अब पर्यायार्थिक नयको कहते हैं ।

जो साहेदि विसेसे, बहुविह-सामण्ण संजुदे सव्वे ।
साहणलिंगवसादो, पज्जयविसयो णओ होदि ॥२७०॥

अन्वयार्थः—[जो] जो नय [बहुविहसामण्ण संजुदे सव्वे विसेसे] अनेक प्रकार सामान्य सहित सर्व विशेषको [साहणलिंगवसादो साहेदि] उनके साधनके लिंगके वशसे सिद्ध करता है [पज्जयविसयो णओ होदि] वह पर्यायार्थिक नय है ।

भावार्थः—सामान्य सहित विशेषोको हेतुसे सिध करता है वह पर्यायार्थिक नय है जैसे सत् सामान्यसहित चेतन अचेतनत्व विशेष है, चित् सामान्यसे संसारी सिद्ध जीवत्व विशेष है, संसारीत्व सामान्यसहित त्रस स्थावर जीवत्व विशेष है, इत्यादि । अचेतन सामान्यसहित पुद्गल आदि पाँच द्रव्यविशेष है । पुद्गल सामान्य सहित अणु स्कन्ध घट पट आदि विशेष है इत्यादि पर्यायार्थिक नय हेतुसे सिद्ध करता है ।

अब द्रव्यार्थिक नयके भेदोको कहेगे । पहिले नैगमनयको कहते है—

जो साहेदि अदीदं, वियप्परूवं भविस्समट्ठं च ।
संपडिकालाविट्ठं सो हु णओ णेगमो णेयो ॥२७१॥

अन्वयार्थः—[जो] जो नय] अदीदं] अतीत [भविस्समट्ठं च] भविष्यत [संपडिकालाविट्ठ] तथा वर्तमानको [वियप्परूवं साहेदि] सकल्पमात्र सिद्ध करता है [सो हु णओणेगमो णेयो] वह नैगम नय है ।

भावार्थः—द्रव्य तीनकालकी पर्यायोसे अन्वयरूप है उसको अपना विषयकर अतीतकाल पर्यायको वर्त्तमानवत् सकल्पमे ले, आगामी पर्यायको भी वर्त्तमानवत् सकल्पमे ले, वर्त्तमानमे निष्पन्नको तथा अनिष्पन्नको निष्पन्नरूप संकल्पमे ले, ऐसे ज्ञानको तथा वचनको नैगम नय कहते है । इसके भेद अनेक है । सब नयोके विषयको

मुख्य गौण कर अपना संकल्परूप विषय करता है । उदाहरण—जैसे, इस मनुष्य नामक जीवद्रव्यके संसार पर्याय है, सिद्ध पर्याय है, और यह मनुष्य पर्याय है ऐसा कहें तो ससार अतीत, अनागत, वर्त्तमान तीन काल सम्बन्धी भी है, सिद्धत्व अनागत ही है, मनुष्यत्व वर्त्तमान ही है परन्तु इस नयके वचनसे अभिप्रायमें विद्यमान सकल्प करके परोक्ष अनुभवमें लेकर कहते है कि इस द्रव्यमें मेरे ज्ञानमें अभी यह पर्याय भासती है ऐसे सकल्पको नैगमनयका विषय कहते है । इनमेंसे मुख्य गौण किसीको कहते है ।

अब संग्रहनयको कहते है—

जो संगहेदि सव्वं, देसं वा विविहदव्वपज्जायं ।
अणुगमलिंगविसिट्ठं, सो वि णयो संगहो होदि ॥२७२॥

अन्वयार्थः—[जो] जो नय [सव्वं] सब वस्तुओंको [वा] तथा [देशं] देश अर्थात् एक वस्तुके भेदोंको [विविहदव्वपज्जायं] अनेक प्रकार द्रव्यपर्यायसहित [अणुगमलिंगविसिट्ठ] अवन्य लिगसे विशिष्ट [संगहेदि] संग्रह करता है—एक स्वरूप कहता है [सो वि णयो संगहो होदि] वह सग्रह नय है ।

भावार्थः—सब वस्तुएँ, उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षण सत्‌के द्वारा द्रव्यपर्यायोसे अन्वयरूप एक सत्‌मात्र है, सामान्य सत्स्वरूप द्रव्य मात्र है, विशेष सत्रूप पर्यायमात्र है, जीव वस्तु (द्रव्य) चित् सामान्यसे एक है, सिद्धत्व सामान्यसे सब सिद्ध एक है, ससारित्व सामान्यसे सब ससारी जीव एक है इत्यादि । अजीव सामान्यसे पुद्गलादि पाँच द्रव्य एक अजीव द्रव्य हैं, पुद्गलत्व सामान्यसे अणु स्कन्ध घटपटादि एक द्रव्य है इत्यादि सग्रहरूप कहता है सो सग्रह नय है ।

अब व्यवहारनयको कहते है—

जो संगहेण गहिदं, विसेसरहिदं पि भेददे सददं ।
परमाणूपज्जंतं, ववहारणओ हवे सो हु ॥२७३॥

अन्वयार्थः—[जो] जिस नयने [सगहेण] संग्रह नयसे [विसेसरहिद पि] विशेषरहित वस्तुको [गहिद] ग्रहण किया था उसको [परमाणूपज्जंतं] परमाणु पर्यन्त [सददं] निरन्तर [भेददे] भेदता है [सो हु ववहारणओ हवे] वह व्यवहार नय है ।

भावार्थः—संग्रहनय सर्व सत् सबको कहा, उसमें व्यवहार भेद करता है सो सत्द्रव्यपर्याय है। सग्रहनय द्रव्य सामान्यको ग्रहण करे उसमें व्यवहार नय भेद करता है। द्रव्य जीव अजीव दो भेदरूप है। संग्रहनय जीव सामान्यको ग्रहण करता है उसमे व्यवहार भेद करता है। जीव संसारी सिद्ध दो भेदरूप है इत्यदि। सग्रह पर्याय-सामान्यको सग्रहण करता है। उसमे व्यवहार भेदकरता है। पर्याय—अर्थपर्याय व्यजन-पर्याय दो भेदरूप है, ऐसे ही सग्रह अजीव सामान्यको ग्रहण करे उसमे व्यवहारनय भेद करके अजीव पुद्गलादि पॉच द्रव्य भेद रूप है। सग्रह पुद्गल सामान्यको ग्रहण करता है उसमें व्यवहारनय अणु स्कन्ध घट पट आदि भेद रूप कहता है। इस तरह जिसको संग्रह ग्रहण करे उसमे जहाँ तक भेद हो सके करता चला जाय वहाँ तक संग्रह व्यवहारका विषय है। इस तरह तीन द्रव्यार्थिक नयके भेदोका वर्णन किया।

अब पर्यायार्थिकके भेद कहेगे। पहिले ही ऋजुसूत्रनयको कहते है—

जो वट्टमाणकाले, अत्थपज्जायपरिणदं अत्थं।
संतं साहदि सव्वं, तं वि णयं रिजुणयं जाण ॥२७४॥

अन्वयार्थः—[जो वट्टमाणकाले] जो नय वर्त्तमान कालमें [अत्थपज्जायपरिणदं अत्थं] अर्थ पर्यायरूप परिणत पदार्थको [सव्वं संतं साहदि] सबको सतरूप सिद्ध करता है [तं वि णयं रिजुणयं जाण] वह ऋजुसूत्र नय है।

भावार्थः—वस्तु समय समय परिणमन करती है। अत: एक समयकी वर्त्तमान पर्यायको अर्थपर्याय कहते हैं, यह इस ऋजुसूत्रनयका विषय है, यह नय इतनी मात्र ही वस्तुको कहता है। घडी मुहूर्त्त आदि कालको भी व्यवहारमे वर्त्तमान कहते है वह उस वर्त्तमान कालस्थायी पर्यायको भी सिद्ध करता है इसलिये स्थूल ऋजुसूत्र सज्ञा है। इस तरह तीन तो पूर्वोक्त द्रव्यार्थिक और एक ऋजुसूत्र नय ये चार नय तो अर्थनय कहलाते है।

अब तीन शब्दनय कहैंगे। पहिले शब्दनयको कहते है—

सव्वेसिं वत्थूणं, संखालिंगादि बहुपयारेहिं।
जो साहदि णाणत्तं, सद्दणयं तं वियाणेह ॥२७५॥

अन्वयार्थः—[जो सव्वेसिं वत्थूण] जो नय सब वस्तुओंके [संखालिंगादि-बहुपयारेहिं] संख्या लिग आदि अनेक प्रकारसे [णाणत्तं] अनेकत्वको [साहदि] सिद्ध करता है [तं सद्दणयं वियाणेह] उसको शब्दनय जानना चाहिये ।

भावार्थः—संख्या-एकवचन द्विवचन बहुवचन, लिग—स्त्री पुरुष नपुंसक आदि शब्दसे काल, कारक, पुरुष, उपसर्ग लेने चाहिये । इनके द्वारा व्याकरणके प्रयोग पदार्थको भेदरूपसे कहते हैं वह शब्दनय है । जैसे—पुष्य, तारका नक्षत्र—एक ज्योतिषी विमानके तीनों लिग कहे लेकिन व्यवहारमें विरोध दिखाई देता है क्योंकि वह ही पुरुष लिग और वह ही स्त्री नपुंसकलिग किस प्रकार होता है । तथापि शब्द नयका यह ही विषय है जो जैसे शब्द कहता है वैसे ही अर्थको भेदरूप मानना ।

अब समभिरूढनयको कहते है—

जो एगेगं अत्थं, परिणदिभेदेण साहदे णाणं ।
मुक्खत्थं वा भासदि, अहिरूढं तं णयं जाण ॥२७६॥

अन्वयार्थः—[जो अत्थ] जो नय वस्तुको [परिणदिभेदेण एगेगं साहदे] परिणामके भेदसे एक एक भिन्न भिन्न भेद रूप सिद्ध करता है [वा मुक्खत्थं भासदि] अथवा उनमे मुख्य अर्थ ग्रहण कर सिद्ध करता है [तं अहिरूढं णय जाण] उसको समभिरूढ नय जानना चाहिये ।

भावार्थः—शब्दनय वस्तुके पर्याय नामसे भेद नही करता है और यह समभिरूढ नय—एक वस्तुके पर्याय नाम हैं उनके भेदरूप भिन्न भिन्न पदार्थ ग्रहण करता है, जिसको मुख्यकर ग्रहण करता है उसको सदा वैसा ही कहता है जैसे—गौ शब्दके अनेक अर्थ है तथा गौ पदार्थके अनेक नाम है उन सबको यह नय भिन्न भिन्न पदार्थ मानता है, उनमेंसे मुख्यकर गौ को ग्रहण करता है, उसको चलते, बैठते, और सोते समय गौ ही कहा करता है, ऐसा समभिरूढ नय है ।

अब एवभूत नयको कहते है—

जेण सहावेण जदा, परिणदरूवम्मि तम्मयत्तादो ।
तप्परिणामं साहदि, जो वि णओ सो हु परमत्थो ॥२७७॥

अन्वयार्थः—[जदा जेण सहावेण] वस्तु जिससमय जिस स्वभावसे [परिणदरूवम्मि तम्मयत्तादो] परिणमनरूप होती है उस समय उस परिणामसे तन्मय होती है [तप्परिणामं साहदि] इसलिये उस ही परिणामरूप सिद्ध करतो है–कहतो है [जो वि णओ] वह एवभूत नय है [सो हु परमत्थो] यह नय परमार्थरूप है।

भावार्थः—वस्तुका जिस धर्मकी मुख्यतासे नाम होता है उसही अर्थके परिणमनरूप जिससमय परिणमन करती है उसको उस नामसे कहना वह एवभूत नय है, इसको निश्चय भी कहते है जैसे—गौको चलते समय गौ कहना और समय कुछ नही कहना।

अब नयोके कथनका संकोच करते है—

एवं विविहणएहिं, जो वत्थू ववहरेदि लोयम्मि।
दंसणणाणचरित्तं, सो साहदि सग्गमोक्खं च ॥२७८॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [लोयम्मि] लोकमे [एवं विविहणएहिं] इस तरह अनेक नयोसे [वत्थू ववहरेदि] वस्तुको व्यवहाररूप कहता है, सिद्ध करता है और प्रवृत्ति कराता है [सो] वह पुरुष [दंसणणाणचरित्त] दर्शन ज्ञान चारित्रको [च] और [सग्गमोक्ख] स्वर्ग मोक्षको [साहदि] सिद्ध करता है–प्राप्त करता है।

भावार्थः—प्रमाण और नयोसे वस्तुका स्वरूप यथार्थ सिद्ध होता है। जो पुरुष प्रमाण और नयोका स्वरूप जानकर वस्तुको यथार्थ व्यवहाररूप प्रवृत्ति कराता है उसके सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी और उसके फल स्वर्ग मोक्षकी सिद्धी होती है।

अब कहते है कि तत्त्वार्थको सुनने, जानने, धारण और भावना करनेवाले विरले है—

विरला णिसुणहि तच्चं, विरला जाणंति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहिं तच्चं, विरलाणं धारणा होदि ॥२७९॥

अन्वयार्थः—[विरला तच्चं णिसुणहि] संसारमें विरले पुरुष तत्त्वको सुनते हैं [तच्चं तच्चदो विरला जाणति] सुनकर भी तत्त्वको यथार्थ विरले ही जानते है [विरला तच्चं भावहिं] जानकर भी विरले ही तत्त्वकी भावना (बारम्बार अभ्यास) करते है [विरलाण धारणा होदि] अभ्यास करने पर भी तत्त्वकी धारणा विरलोके ही होती है।

भावार्थः— तत्त्वार्थका यथार्थ स्वरूप सुनना, जानना, भावना करना और धारणा करना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इस पचमकालमें तत्त्वके यथार्थ कहनेवाले दुर्लभ है और धारण करनेवाले भी दुर्लभ है।

अब कहते है कि जो कहे हुए तत्त्वको सुनकर निश्चल भावोंसे भाता है वह तत्त्वको जानता है।

तच्चं कहिज्जमाणं, णिच्चलभावेण गिण्हदे जो हि।
तं चिय भावेदि सया, सो वि य तच्चं वियाणेइ ॥२८०॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [कहिज्जमाणं तच्चं] गुरुओके द्वारा कहे हुए तत्त्वोंके स्वरूपको [णिच्चलभावेण गिण्हदे] निश्चलभावसे ग्रहण करता है [तं चिय भावेदि सया] अन्य भावनाओको छोडकर उसीकी निरन्तर भावना करता है [सो वि य तच्चं वियाणेए] वह ही पुरुष तत्त्वको जानता है।

अब कहते है कि जो तत्त्वकी भावना नही करता है, वह स्त्री आदिके वशमें कौन नही है ? अर्थात् सब लोक है—

को ण वसो इत्थि-जणे, कस्स ण मयणेण खंडियं माणं।
को इन्दिएहिं ण जिओ, को ण कसाएहिं संतत्तो ॥२८१॥

अन्वयार्थः—[इत्थिजणे वसो को ण] इस लोकमे स्त्रीजनके वश कौन नहीं है ? [कस्स ण मयणेण खंडियं माणं] कामसे जिसका मन खण्डित न हुआ हो ऐसा कौन है ? [को इंदिएहिं ण जिओ] जो इन्द्रियोसे न जीता गया हो ऐसा कौन है ? [को ण कसाएहिं सतत्तो] और कषायोसे तप्तायमान हो ऐसा कौन है ?

भावार्थः—विषय कषायोके वशमे सब लोक है और तत्त्वोंकी भावना करनेवाले विरले ही है।

अब कहते है कि जो तत्त्वज्ञानी सब परिग्रहका त्यागी होता है वह स्त्री आदिके वश नही होता है—

सो ण वसो इत्थिजणे, सो ण जिओ इन्दिएहिं मोहेण।
जो ण य गिण्हदि गंथं, अब्भंतर बाहिरं सव्वं ॥२८२॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष तत्त्वका स्वरूप जानकर [अब्भंतर बाहिरं सव्वं गंथं ण य गिण्हदि] बाह्य और अभ्यन्तर सब परिग्रहको ग्रहण नही करता है [सो ण वसो इत्थिजणे] वह पुरुष स्त्रीजनके वशमे नही होता है [सो ण जिओ इंदिएहिं मोहेण] वह ही पुरुष इन्द्रियोसे और मोह (मिथ्यात्व) कर्मसे पराजित नही होता है ।

भावार्थः—ससारका बन्धन परिग्रह है । इसलिये जो सब परिग्रहको छोडता है वह ही स्त्री इंद्रिय कषायादिकके वशीभूत नही होता है । सर्वत्यागी होकर शरीरका ममत्व नही रखता है तब निजस्वरूपमे ही लीन होता है ।

अब लोकानुप्रेक्षाके चितवनका माहात्म्य प्रगट करते है—

एवं लोयसहावं, जो झायदि उवसमेक्कसब्भाओ ।
सो खविय कम्मपुंजं, तस्सेव सिहामणी होदि ॥२८३॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [एवं लोयसहावं] इसप्रकार लोकके स्वरूपको [उवसमेक्कसब्भावो] उपशमसे एक स्वभावरूप होता हुआ [झायदि] ध्याता है—चितवन करता है [सो कम्मपुंजं खविय] वह पुरुष कर्मसमूहका नाश करके [तस्सेव सिहामणी होदि] उस ही लोकका शिखामणि होता है ।

भावार्थः—इस तरह जो पुरुष साम्यभावसे लोकानुप्रेक्षाका चितवन करता है वह पुरुष कर्मोका नाश करके लोकशिखर पर जा विराजमाक हो जाता है । वहाँ अनन्त, अनुपम, बाधारहित, स्वाधीन, ज्ञानानन्दस्वरूप सुखको भोगता है । यहाँ लोकभावनाका कथन विस्तारसे करनेका आशय यह हैं कि जो अन्यमतवाले लोकका स्वरूप, जीवका स्वरूप तथा हिताहितका स्वरूप अनेक प्रकारसे अन्यथा असत्यार्थ प्रमाणविरुद्ध कहते है सो कोई जीव तो सुनकर विपरीत श्रद्धा करते है, कोई संशयरूप होते हैं और कोई अनध्यवसायरूप होते हैं उनके विपरीतश्रद्धासे चित्त स्थिरताको नही पाता है और चित्त स्थिर (निश्चित) हुए बिना यथार्थ ध्यानकी सिद्धि नही होती है । ध्यानके बिना कर्मोका नाश नही होता है इसलिये विपरीत श्रद्धानको दूर करनेके लिए यथार्थ लोकका तथा जीवादि पदार्थोका स्वरूप जाननेके लिए विस्तारसे कथन किया है, उसको जानकर, जीवादिकका स्वरूप पहचानकर, अपने स्वरूपमें निश्चल चित्त कर, कर्मकलंकका नाश कर भव्यजीव मोक्षको प्राप्त होओ, ऐसा श्री गुरुओका उपदेश है ।

कुण्डलिया ।

लोकालोक विचारिकैं, सिद्धस्वरूपचितारि ।
रागविरोध विडारिकैं, आतमरूपसंवारि ॥
आतमरूपसंवारि, मोक्षपुर बसो सदा ही ।
आधिव्याधिजरमरन, आदि दुख ह्वै न कदाही ॥
श्रीगुरु शिक्षा धारि, टारि, अभिमान कुशोका ।
मनथिरकारन, यह विचारि निजरूप-सुलोका ॥१०॥

इति लोकानुप्रेक्षा समाप्त ॥१०॥



बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा

जीवो अणंतकालं, वसइ णिगोएसु आइपरिहीणो ।
तत्तो णीस्सरिऊणं, पुढवीकायादिओ होदि ॥२८४॥

अन्वयार्थः—[जीवो आइपरिहीणो अणंतकालं णिगोएसु वसइ] यह जीव अनादिकालसे लेकर ससारमें अनन्तकाल तक तो निगोदमें रहता है [तत्तो णीस्सरिऊणं पुढवीकायादिओ होदि] वहाँसे निकलकर पृथ्वीकायादिक पर्यायको धारण करता है ।

भावार्थः—अनादिसे अनन्तकालपर्यन्त तो नित्यनिगोदमें जीवका निवास है । वहां एक शरीरमें अनन्तानन्त जीवोंका आहार, स्वासोच्छ्वास, जीवन, मरण समान है । स्वासके अठारहवें भाग आयु है । वहांसे निकलकर कदाचित् पृथिवी, अप, तेज, वायुकाय पर्याय पाता है सो यह पाना दुर्लभ है ।

अब कहते हैं कि इससे निकलकर त्रसपर्याय पाना दुर्लभ है—

तत्थ वि असंखकालं, बायरसुहमेसु कुणइ परियत्तं ।
चिंतामणि व्व दुलहं, तसत्तणं लहदि कट्ठेण ॥२८५॥

अन्वयार्थः—[तत्थ वि बायरसुहमेसु असंखकालं परियत्तं कुणइ] वहाँ पृथिवीकाय आदिमें सूक्ष्म तथा बादरोमें असख्यात काल तक भ्रमण करता है [तसत्तण चिंतामणि व्व कट्ठेण दुलहं लहदि]वहासे निकलकर त्रसपर्याय पाना चितामणि रत्नके समान बड़े कष्टसे दुर्लभ है ।

भावार्थः—पृथिवी आदि स्थावरकायसे निकलकर चिन्तामणि रत्नके समान त्रसपर्याय पाना दुर्लभ है ।

अब कहते हैं कि त्रसोमें भी पचेन्द्रियपना दुर्लभ है—

वियलिंदिएसु जायदि, तत्थ वि अच्छेदि पुव्वकोडीओ ।
तत्तो णीसरिदूणं, कहमवि पंचिंदिओ होदि ॥२८६॥

अन्वयार्थः—[वियलिंदिएसु जायदि] स्थावरसे निकल कर त्रस होय तब बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय. चौइन्द्रिय शरीर पाता है [तत्थ वि पुव्वोकोडिओ अच्छेदि] वहाँ भी कोटिपूर्व समय तक रहता है [तत्तो णीसरिदूणं कहमवि पचिंदिओ होदि] वहाँसे भी निकल कर पचेन्द्रिय शरीर पाना बड़े कष्टसे दुर्लभ है ।

भावार्थः—विकलत्रयसे पचेन्द्रियपना पाना दुर्लभ है । यदि विकलत्रयसे फिर स्थावर कायमें जा उत्पन्न हो तो फिर बहुत काल बिताता है, इसलिये पचेन्द्रियपना पाना अत्यन्त दुर्लभ है ।

सो वि मणेण विहीणो, ण य अप्पाणं परं पि जाणेदि ।
अह मणसहिदो होदि हु, तह वि तिरिक्खो हवे रुद्दो ॥२८७॥

अन्वयार्थः—[सो वि मणेण विहीणो] विकलत्रयसे निकलकर पचेन्द्रिय भी होवे तो असैनी (मन रहित) होता है [अप्पाण पर पि ण य जाणेदि] आप और परका भेद नही जानता है [अह मणसहिदो होदि हु] यदि मनसहित (सैनी) भी होवे तो [तह वि तिरिक्खो हवे] तिर्यंच होता है [रुद्दो] रौद्र क्रूर परिणामी बिलाव, घूघू (उल्लू) सर्प, सिह, मच्छ आदि होता है ।

भावार्थ —कदाचित् पचेन्द्रिय भी होवे तो असैनी होता है, सैनी होना दुर्लभ है । यदि सैनी भी हो जाय तो क्रूर तिर्यंच होवे जिसके परिणाम निरन्तर पापरूप ही रहते हैं ।

अब कहते है कि ऐसे क्रूर परिणामी जीव नरकमें जाते हैं—

सो तिव्वअसुहलेसो, णरये णिवडेइ दुक्खदे भीमे ।
तत्थ वि दुक्खं भुञ्जदि, सारीरं माणसं पउरं ॥२८८॥

अन्वयार्थः—[सो तिव्वअसुहलेसो दुक्खदे भीमे णरये णिवडेइ] वह क्रूर तिर्यंच तीव्र अशुभ परिणाम और अशुभ लेश्या सहित मरकर दु.खदायक भयानक नरकमें गिरता है [तत्थ वि सारीरं माणस पउरं दुक्खं भुंजदि] वहाँ शरीरसम्बन्धी तथा मनसम्बन्धी प्रचुर दु ख भोगता है ।

अब कहते हैं कि उस नरकसे निकल तिर्यंच होकर दुःख सहता है—

तत्तो णीसरिदूणं, पुणरवि तिरिएसु जायदे पावो ।
तत्थ वि दुक्खमणंतं, विसहदि जीवो अणेयविहं ॥२८९॥

अन्वयार्थः—[तत्तो णीसरिदूणं पुणरवि तिरिएसु जायदे] उस नरकसे निकलकर फिर भी तिर्यंचगतिमे उत्पन्न होता है [तत्थ वि पावो जीवो अणेयविहं अणंतं दुक्खं विसहदि] वहाँ भी पापरूप जैसे हो वैसे यह जीव अनेकप्रकारका अनन्त दु ख विशेषरूपसे सहता है ।

अब कहते है कि मनुष्यपना पाना दुर्लभ है सो भी मिथ्यात्वी होकर पाप उत्पन्न करता है—

रयणं चउप्पहे पिव, मणुअत्तं सुट्ठु दुल्लहं लहिय ।
मिच्छो हवेइ जीवो, तत्थ वि पावं समज्जेदि ॥२९०॥

अन्वयार्थः—[रयणं चउप्पहे पिव मणुअत्तं सुट्ठु दुल्लहं लहिय] जैसे चौराहेमें पड़ा हुआ रत्न बड़े भाग्यसे हाथ लगता है वैसे ही तिर्यंचसे निकलकर मनुष्यगति पाना अत्यन्त दुर्लभ है [तत्थ वि जीवो मिच्छो हवेइ पावं समज्जेदि] ऐसा दुर्लभ मनुष्यशरीर पाकर भी मिथ्यादृष्टि हो पाप ही करता है ।

भावार्थः—मनुष्य भी होकर, म्लेच्छखड आदिमें तथा मिथ्यादृष्टियोंकी सगतिमें उत्पन्न होकर पाप ही करता है ।

अब कहते है कि मनुष्य भी होवे और आर्यखण्डमें भी उत्पन्न हो तो भी उत्तम कुल आदिका पाना अत्यन्त दुर्लभ है—

अह लहदि अज्जवंतं, तह ण वि पावेइ उत्तमं गोत्तं ।
उत्तम कुले वि पत्ते, धणहीणो जायदे जीवो ॥२६१॥

अन्वयार्थः—[अह लहदि अज्जवंतं] मनुष्यपर्याय पाकर यदि आर्यखण्डमे भी जन्म पावे तो [तह वि उत्तमं गोत्तं ण पावेइ] उत्तम गोत्र (ऊँच कुल) नही पाता है [उत्तम कुले वि पत्ते] यदि ऊँच कुल भी प्राप्त हो जाय तो [जीवो धणहीणो जायदे] यह जीव धनहीन दरिद्री हो जाता है उससे कुछ सुकृत नही बनता है, पापही मे लीन रहता है ।

अह धन सहिओ होदि हु, इंदियपरिपुण्णदा तदो दुलहा ।
अह इंदिय संपुण्णो, तह वि सरोओ हवे देहो ॥२६२॥

अन्वयार्थः—[अह धनसहिओ होदि हु] यदि धन सहित भी होवे [तदो इन्दियपरिपुण्णदा दुलहा] तो इन्द्रियोकी परिपूर्णता पाना अत्यन्तके दुर्लभ है [अह इन्दिय संपुण्णो] यदि इन्द्रियोकी सम्पूर्णता भी पावे [तह वि देहो सरोओ हवे] तो देह रोगसहित पाता है, निरोग होना दुर्लभ है ।

अह णीरोओ होदि हु, तह वि ण पावेइ जीवियं सुइरं ।
अह चिरकालं जीवदि, तो सीलं णेव पावेइ ॥२६३॥

अन्वयार्थः—[अह णीरोओ होदि हु] यदि निरोग भी हो जाय [तह वि सुइरं जीवियं ण पावेइ] तो दीर्घ जीवन (आयु) नही पाता है, इसका पाना दुर्लभ है [अह चिरकालं जीवदि] यदि चिरकाल तक जीता है [तो सीलं णेव पावेइ] तो शील (उत्तम प्रकृति—भद्र परिणाम) नही पाता है क्योकि उत्तम स्वभाव पाना दुर्लभ है ।

अह होदि सीलजुत्तो, तह वि ण पावेइ साहुसंसग्गं ।
अह तं पि कह वि पावदि, सम्मत्तं तह वि अइदुलहं ॥२६४॥

अन्वयार्थः—[अह सीलजुत्तो होदि] यदि शील (उत्तम) स्वभाव सहित भी हो जाता है [तह वि साहुसंसग्गं ण पावेइ] तो साधु पुरुषोका ससर्ग (संगति) नही पाता है [अह तं पि कह वि पावदि] यदि वह भी पा जाता है [तह वि सम्मत्तं अइदुलहं] तो सम्यक्त्व पाना (श्रद्धान होना) अत्यन्त दुर्लभ है ।

सम्मत्ते वि य लद्धे, चारित्तं णेव गिरहदे जीवो ।
अह कह वि तं पि गिरहदि, तो पालेदुं ण सक्केदि ॥२९५॥

अन्वयार्थः—[सम्मत्ते वि य लद्धे] यदि सम्यक्त्व भी प्राप्त हो जाय तो [जीवो चारित्तं णेव गिण्हदे] यह जीव चारित्र ग्रहण नही करता है [अह कह वि तं पि गिण्हदि] यदि चारित्र भी ग्रहण करले [तो पालेदुं ण सक्केदि] तो उसको पाल नहीं सकता है ।

रयणत्तये वि लद्धे, तिव्वकसायं करेदि जइ जीवो ।
तो दुग्गईसु गच्छदि, पणट्ठरयणत्तओ होऊ ॥२९६॥

अन्वयार्थः—[जइ जीवो] यदि यह जोव [रयणत्तये वि लद्धे] रत्नत्रय भी पाता है [तिव्वकसायं करेदि] और तीव्रकषाय करता है [तो] तो [पणट्ठरयणत्तओ होऊ] रत्नत्रयका नाश करके [दुग्गईसु गच्छदि] दुर्गतियोमे जाता है ।

अब कहते है कि ऐसा मनुष्यपना दुर्लभ है जिससे रत्नत्रयकी प्राप्ति हो—

रयणु व्व जलहि–पडियं मणुयत्तं तं पि होदि अइदुलहं ।
एवं सुणिच्छइत्ता, मिच्छकसाये य वज्जेह ॥२९७॥

अन्वयार्थः—[जलहि पडियं रयणु व्व मणुयत्तं तं पि होदि अइदुलहं होइ] समुद्रमे गिरे हुए रत्नकी प्राप्तिके समान मनुष्यत्वकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है [एवं सुणिच्छइत्ता] ऐसा निश्चय करके हे भव्यजीवो ! [मिच्छाकसाये य वज्जेह] मिथ्यात्व और कषायोको छोड़ो ऐसा श्रीगुरुओका उपदेश है ।

अब कहते है कि यदि ऐसा मनुष्यत्व पाकर शुभपरिणामोसे देवत्व पावे तो वहाँ चारित्र नही पाता है—

अहवा देवो होदि हु, तत्थ वि पावेदि कह व सम्मत्तं ।
तो तवचरणं ण लहदि, देसजमं सील लेसं पि ॥२९८॥

अन्वयार्थः—[अहवा देवो होदि हु] अथवा मनुष्यत्वमे कदाचित् शुभपरिणाम होनेसे देव भी हो जाय [तत्थ वि कह व सम्मत्तं पावेदि] और वहाँ कदाचित् सम्यक्त्व भी पा लेवे [तो तवचरणं ण लहदि] तो वहाँ तपश्चरण चारित्र नही पाता है

[देसजमं सीललेसं पि] देशव्रत (श्रावकव्रत) शीलव्रत (ब्रह्मचर्य अथवा सप्तशील) का लेश भी नही पाता है ।

अब कहते है कि इस मनुष्यगतिमें ही तपश्चरणादिक हैं ऐसा नियम है—

मणुवगईए वि तओ, मणुवुगईए महव्वदं सयलं ।
मणुवगईए झाणं, मणुवगईए वि णिव्वाणं ॥२९९॥

अन्वयार्थः—[मणुवगईए वि तओ] हे भव्यजीवो ! इस मनुष्यगतिमे ही तपका आचरण होता है [मणुवुगईए सयलं महव्वदं] इस मनुष्यगतिमे ही समस्त महाव्रत होते है [मणुवगईए झाण] इस मनुष्यगतिमें ही धर्मशुक्लध्यान होते है [मणुवगईए वि णिव्वाण] और इस मनुष्यगतिमे ही निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति होती है ।

इय दुलहं मणुयत्तं, लहिऊणं जे रमन्ति विसएसु ।
ते लहिय दिव्वरयणं, भूइणिमित्तं पजालंति ॥३००॥

अन्वयार्थः—[इय दुलह मणुयत्तं लहिऊणं जे विसएसु रमन्ति] ऐसा यह दुर्लभ मनुष्यत्व पाकर भी जो इन्द्रियोके विषयोमे रमण करते है [ते दिव्वरयणं लहिय भूइणिमित्तं पजालंति] वे दिव्य (अमूल्य) रत्नको पाकर, भस्मके लिये दग्ध करते है—जलाते है ।

भावार्थः—अत्यन्त कठिनाईसे पाने योग्य यह मनुष्यपर्याय अमूल्य रत्नके समान है, उसको विषयोमे रमणकर वृथा खोना उचित (योग्य) नही है ।

अब कहते है कि इस मनुष्यपर्यायमे रत्नत्रयको पाकर बड़ा आदर करो—

इय सव्वदुलहदुलहं, दंसण णाणं तहा चरित्तं च ।
मुणिउण य संसारे, महायरं कुणह तिण्हं पि ॥३०१॥

अन्वयार्थः—[इय] इसप्रकार [संसारे] ससारमे [दंसण णाण तहा चरित्तं च] दर्शन ज्ञान और चारित्रको [सव्वदुलहदुलहं] सब दुर्लभसे भी दुर्लभ (अत्यन्त दुर्लभ) [मुणिउण य] जानकर [तिण्हं ति] दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनोमे हे भव्यजीवो ! [महायर कुणह] बड़ा आदर करो ।

भावार्थः—निगोदसे निकल कर पहिले कहे अनुक्रमसे दुर्लभसे दुर्लभ जानो, उसमें भी सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ जानो, उसको पाकर भव्यजीवोको महान् आदर करना योग्य है ।

छप्पय ।

वसि निगोदचिर निकसि खेद सहि धरनि तरुनि वहु ।
पवनवोद जल अगि निगोद लहि जरन मरन सहु ॥
लट गिंडोल उटकण मकोड तन भमर भमणकर ।
जलविलोलपशु तन सुकोल, नभचर सर उरपर ।
फिरि नरकपात अति कष्टसहि, कष्टकष्ट नरतन महत ।
तहँ पाय रत्नत्रय चिगद जे, ते दुर्लभ अवसर लहत ॥११॥

इति वोधिदुर्लभानुप्रेक्षा समाप्ता ॥११॥



धर्म्मानुप्रेक्षा

अब धर्मानुप्रेक्षाका निरूपण करते हैं । पहिले धर्मके मूल सर्वज्ञ देव हैं उनको प्रगट करते है—

जो जाणदि पच्चक्खं, तियालगुणपज्जएहि संजुत्तं ।
लोयालोयं सयलं, सो सव्वण्हू हवे देओ ॥३०२॥

अन्वयार्थः—[जो] जो [सयलं] समस्त [लोयालोयं] लोक और अलोकको [तियालगुणपज्जएहि संजुत्तं] तीनकालगोचर समस्त गुण पर्यायोंसे संयुक्त [पच्चक्खं] प्रत्यक्ष [जाणदि] जानता है [सो सव्वण्हू देओ हवे] वह सर्वज्ञ देव है ।

भावार्थः—इस लोकमें जीव द्रव्य अनन्तानन्त हैं । उनमे अनन्तानन्तगुणे पुद्गल द्रव्य है । एक एक आकाश, धर्म, अधर्म द्रव्य है । असंख्यात कालाणु द्रव्य है । लोकके बाहर अनन्तप्रदेशी आकाशद्रव्य अलोक है । इन सब द्रव्योंके अतीत काल अनन्त

समयरूप, आगामी काल उनसे अनन्तगुणा समयरूप है. उस कालके समयसमयवर्त्ती एक द्रव्यकी अनन्त अनन्त पर्यायें है । उन सब द्रव्यपर्यायोको युगपत् एक समयमे प्रत्यक्ष स्पष्ट भिन्न भिन्न जैसे है वैसे जाननेवाला ज्ञान जिसके है, वह सर्वज्ञ है । वह ही देव है । औरोको देव कहते हैं सो कहनेमात्र है ।

यहाँ कहनेका तात्पर्य ऐसा है कि अब धर्मकास्वरूप कहेगे, सो धर्मका स्वरूप यथार्थ इन्द्रियगोचर नही, अतीन्द्रिय है । उसका फल स्वर्ग मोक्ष है, वे भी अतीन्द्रिय है । छद्मस्थके इन्द्रियज्ञान होता है, परोक्ष इसके गोचर नही होता है । जो सब पदार्थोको प्रत्यक्ष देखता है वह धर्मके स्वरूपको भी प्रत्यक्ष देखता है, इसलिये धर्मका स्वरूप सर्वज्ञके वचनहीसे प्रमाण है । अन्य छद्मस्थका कहा हुआ प्रमाण नही है । अत. सर्वज्ञके वचनकी परम्परासे जो छद्मस्थ कहता है सो प्रमाण है इसलिये धर्मका स्वरूप कहनेके लिये प्रारम्भमे सर्वज्ञको स्थापन किया गया ।

अब जो सर्वज्ञको नही मानते है उनके प्रति कहते हैं—

जदि ण हवदि सव्वण्हू, ता को जाणदि अदिदियं अत्थं ।
इन्दियणाणं ण मुणदि, थूलं पि असेस पज्जायं ॥३०३॥

अन्वयार्थः—[जदि सव्वण्हू ण हवदि] हे सर्वज्ञके अभाववादियो ! यदि सर्वज्ञ नही होवे [ता अदिदिय अत्थ को जाणदि] तो अतीन्द्रिय पदार्थ (जो इन्द्रियगोचर नही है) को कौन जानता ? [इंदियणाण] इन्द्रियज्ञान तो [थूलं] स्थूलपदार्थ (इन्द्रियोंसे सम्बन्धरूप वर्तमान) को जानता है [असेस पज्जायं पि ण मुणदि] उसकी समस्त पर्यायोको भी नही जानता ।

भावार्थः—सर्वज्ञका अभाव मीमासक और नास्तिक कहते है उनका निषेध किया है कि यदि सर्वज्ञ न होवे तो अतीन्द्रिय पदार्थको कौन जाने ? क्योकि धर्म और अधर्मका फल अतीन्द्रिय है उसको सर्वज्ञके बिना कोई नही जानता इसलिये धर्म अधर्मके फलको चाहनेवाले पुरुष सर्वज्ञको मानकर, उसके वचनसे धर्मके स्वरूपका निश्चय कर अगीकार करो ।

तेणुवइट्ठो धम्मो, संगासत्ताण तह असंगाणं ।
पढमो बारहभेओ, दसभेओ भासिओ बिदिओ ॥३०४॥

अन्वयार्थः—[तेणुवइट्ठो धम्मो] उस सर्वज्ञके द्वारा उपदेश किया हुआ धर्म दो प्रकारका है [संगासत्ताण तह असगाणं] १ संगासक्त (गृहस्थ) का और २ असग (मुनि) का [पढमो बारहभेओ] पहिला गृहस्थका धर्म तो बारह भेदरूप है [बिदिओ दसभेओ] दूसरा मुनिका धर्म दस भेदरूप है ।

अब गृहस्थ धर्मके बारह भेदोके नाम दो गाथाओमे कहते है—

सम्मदंसणसुद्धो, रहिओ मज्जाइथूलदोसेहिं ।
वयधारी सामइउ, पव्ववई पासुयाहारी ॥३०५॥
राईभोयणविरओ, मेहुणसारंभसंगचत्तो य ।
कज्जाणुमोयविरदो, उद्दिट्ठारविरदो य ॥३०६॥

अन्वयार्थः—[सम्मदंसणसुद्धो मज्जाइथूलदोसेहिं रहिओ] १ शुद्ध सम्यग्दृष्टि, २ मद्य आदि स्थूल दोषोसे रहित दर्शन प्रतिमाका धारी [वयधारी] ३ व्रतधारी (पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रत सहित) [सामइउ] ४ सामायिक व्रती [पव्ववई] ५ पर्वव्रती [पासुयाहारी] ६ प्रासुकाहारी [राईभोयणविरओ] ७ रात्रिभोजनत्यागी [मेहुणमारंभसंगचत्तो य] ८ मैथुनत्यागी ९ आरम्भत्यागी १० परिग्रहत्यागी [कज्जाणुमोयविरदो] ११ कार्यानुमोदविरत [उद्दिट्ठाहारबिरदो य] और १२ उद्दिष्टाहारविरत इसप्रकार श्रावकधर्मके १२ भेद है ।

भावार्थः—पहिला भेद तो पच्चीस मल दोष रहित शुद्धअविरतसम्यग्दृष्टि है और ग्यारह भेद व्रतसहित प्रतिमाओके होते है वह व्रती श्रावक है ।

अब इन बारहके स्वरूप आदिका व्याख्यान करेगे । पहिले अविरतसम्यग्दृष्टिको कहेगे । उसमे भी पहिले सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी योग्यताका निरूपण करते है—

चउगदिभव्वो सण्णी, सुविसुद्धो जग्गमाणपज्जत्तो ।
संसारतडे, णियडो, णाणी पावेइ सम्मत्तं ॥३०७॥

अन्वयार्थः—[चउगदिभव्वो सण्णी] पहिले तो भव्यजीव होवे क्योकि अभव्यके सम्यक्त्व नही होता है, चारो ही गतियोमे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है परन्तु

मन सहित (सैनी) के ही उत्पन्न हो सकता है, असैनीके उत्पन्न नही होता है [सुविसुद्धो] उसमे भी विशुद्ध परिणामी हो, शुभ लेश्या सहित हो, अशुभ लेश्यामे भी शुभ लेश्याके समान कषायोके स्थान होते है उनको उपचारसे विशुद्ध कहते है, सक्लेश परिणामोमे सम्यक्त्व उत्पन्न नही होता है [जग्गमाणपज्जत्तो] जगते हुएके होता है, सोये हुएके नही होता है, पर्याप्त (पूर्ण) के होता है, अपर्याप्त अवस्थामे नही होता है [संसारतडे नियडो] संसारका तट जिसके निकट आगया हो (जो निकट भव्य हो) जिसका अर्द्धपुद्गल परावर्त्तन कालसे अधिक ससारभ्रमण शेष हो उसको सम्यक्त्व उत्पन्न नही होता है [णाणी] ज्ञानी हो अर्थात् साकार उपयोगवान् हो, निराकार दर्शनोपयोगमे सम्यक्त्व उत्पन्न नही होता है [सम्मत्तं पावेइ] ऐसे जीवके सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है ।

अब सम्यक्त्व तीन प्रकारका है, उनमें उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्वकी उत्पत्ति कैसे है सो कहते है—

सत्तण्हं पयडीणं, उवसमदो होदि उवसमं सम्मं ।
खयदो य होदि खइयं, केवलिमूले मणूसस्स ॥३०८॥

अन्वयार्थः—[सत्तण्हं पयडीणं उवसमदो उवसम सम्म होदि] मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोके उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है [य खयदो खइयं होदि] और इन सातो मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोके क्षय होनेसे क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है [केवलिमूले मणूसस्स] यह क्षायिक सम्यक्त्व केवलज्ञानी तथा श्रुतकेवलीके निकट कर्मभूमिके मनुष्यके ही उत्पन्न होता है ।

भावार्थः—यहाँ ऐसा जानना चाहिये कि क्षायिक सम्यक्त्वका प्रारम्भ तो केवली श्रुतकेवलीके निकट मनुष्यके ही होता है और निष्ठापन अन्यगतिमे भी होता है ।

अब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कैसे होता है सो कहते है—

अणउदयादो छण्हं, सजाइरूवेण उदयमाणाणं ।
सम्मत्तकम्मउदए, खयउवसमियं हवे सम्मं ॥३०९॥

अन्वयार्थः—[अणउदयादो छण्हं] पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंमेंसे छह प्रकृतियोंका उदय न हो [सजाइरूवेण उदयमाणाणं] सजाति (समान जातीय) प्रकृतिसे उदयरूप हो [सम्मत्तकम्मउदए] सम्यक् कर्मप्रकृतिका उदय होने पर [खयउवसमियं सम्मं हवे] क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है।

भावार्थः—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्वके उदयका अभाव हो, सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय हो, अनन्तानुबन्धो क्रोध मान माया लोभके उदयका अभाव हो अथवा उनका विसंयोजन करके अप्रत्याख्यानावरण आदिक रूपसे उदयमान हो तब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इन तीनों ही सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका विशेष कथन गोम्मटसार लब्धिसारसे जानना।

अब औपशमिक-क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तथा अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन और देशव्रत इनका पाना और छूट जाना उत्कृष्टतासे कहते है—

गिण्हदि मुञ्चदि जीवो, वे सम्मत्ते असंखवाराओ।
पढमकसायविणासं, देसवय कुणदि उक्किट्ठं ॥३१०॥

अन्वयार्थः—[जीवो] यह जीव [वे सम्मत्ते] औपशमिक क्षायोपशमिक ये दो तो सम्यक्त्व [पढमकसायविणासं] अनन्तानुबन्धीका विनाश अर्थात् विसंयोजनरूप, अप्रत्याख्यानादिकरूप परिणमाना [देसवयं] और देशव्रत इन चारोको [असंखवाराओ] असंख्यातबार [गिण्हदि मुंचदि] ग्रहण करता है और छोड़ता है [उक्किट्ठं] यह उत्कृष्टतासे कहा है।

भावार्थः—पल्यके असंख्यातवें भाग परिमाण जो असंख्यात उतनी बार उत्कृष्टतासे ग्रहण करता है और छोड़ता है, बादमे भी मोक्षकी प्राप्ति होती है।

अब, सात प्रकृतियोके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व किसप्रकार जाना जाता है ऐसे तत्त्वार्थश्रद्धानको नो गाथाओमें कहते हैं—

जो तच्चमणेयंतं, णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं।
लोयाण पण्हवसदो, ववहारपवत्तणट्ठं च ॥३११॥
जो आयरेण मण्णदि, जीवाजीवादि णवविहं अत्थं।
सुदणाणेण णएहि य, सो सद्दिट्ठी हवे सुद्धो ॥३१२॥

अन्वयार्थः—[जो सत्तभंगेहिं अणेयंतं तच्चं णियमा सद्दहदि] जो पुरुष सात भगोंसे अनेकान्त तत्त्वोंका नियमसे श्रद्धान करता है [लोयाण पण्हवसदो ववहारपवत्तणट्ठं च] क्योंकि लोगोंके प्रश्नके वशसे विधिनिषेध वचनके सात ही भंग होते हैं इसलिये व्यवहारकी प्रवृत्तिके लिए भी सात भगोंके वचनकी प्रवृत्ति होती है [जो जीवाजीवादि णवविहं अत्थं] जो जीव अजीव आदि नौ प्रकारके पदार्थोंको [सुदणाणेण णएहि य] श्रुतज्ञान प्रमाणसे तथा उसके भेदरूप नयोंसे [आयरेण मण्णदि] अपने आदर–यत्न–उद्यमसे मानता है—श्रद्धान करता है [सो सुद्धो सद्दिट्ठी हवे] वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है।

भावार्थः—वस्तुका स्वरूप अनेकान्त है। जिसमे अनेक अन्त (धर्म) होते है उसको अनेकान्त कहते हैं। वे धर्म अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, अपेक्षत्व, दैवसाध्यत्व, पौरुषसाध्यत्व हेतुसाध्यत्व, आगमसाध्यत्व, अन्तरङ्गत्व, बहिरङ्गत्व इत्यादि तो सामान्य हैं। और द्रव्यत्व, पर्यायत्व, जीवत्व, अजीवत्व, स्पर्शत्व, रसत्व, गन्धत्व, वर्णत्व, शब्दत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व, संसारित्व, सिद्धत्व, अवगाहनत्व, गतिहेतुत्व स्थितिहेतुत्व, वर्त्तना-हेतुत्व इत्यादि विशेष धर्म हैं। सो उनके प्रश्नके वशसे विधिनिषेधरूप वचनके सात भग होते है। उनके 'स्यात्' पद लगाना चाहिये। स्यात् पद कथचित् (कोई प्रकार) ऐसे अर्थमे आता है। उससे वस्तुको अनेकान्तरूप सिद्ध करना चाहिये। वस्तु 'स्यात् अस्तित्वरूप' है, ऐसे किसी तरह अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अस्तित्वरूप है। वही वस्तु 'स्यात् नास्तित्वरूप' है, ऐसे पर वस्तुके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे नास्तित्वरूप है। वस्तु 'स्यात् अस्तित्व नास्तित्वरूप' है, इस तरह वस्तुमे दोनो ही धर्म पाये जाते हैं और वचनसे क्रमपूर्वक कहे जाते है। वस्तु 'स्यात् अवक्तव्य' है, इस तरह वस्तुमें दोनो ही धर्म एक कालमे पाये जाते हैं तथापि एक कालमे वचनसे नही कहे जाते है इसलिये किसीप्रकार अवक्तव्य है। अस्तित्वसे कहा जाता है, दोनो एक काल है इसलिये एक साथ कहा नही जाता है, इस तरह वक्तव्य भी है और अवक्तव्य भी है इसलिये 'स्याद् अस्तित्व अवक्तव्य' है। ऐसे ही नास्तित्व अवक्तव्य है, दोनो धर्म क्रमसे कहे जाते है, एक साथ नही कहे जाते है इसलिये 'स्यात् अस्तित्व नास्तित्व अवक्तव्य' है। ऐसे सात ही भग किसी तरह सम्भव होते हैं। ऐसे ही एकत्व अनेकत्व आदि सामान्य धर्मो पर सात भग विधिनिषेधसे लगा लेना चाहिये। जैसी २ जहाँ अपेक्षा सम्भव हो सो लगा

लेना चाहिये। ऐसे ही विशेषत्व धर्म जीवत्व आदिमें लगा लेना चाहिये, जैसे—जीव नामक वस्तु है उसमे स्यात् जीवत्व स्यात् अजीवत्व इत्यादि लगा लेना चाहिये। यहाँ अपेक्षा ऐसे—जो अपना जीवत्व धर्म आपमे है इसलिये जीवत्व है, पर अजीवका अजीवत्व धर्म इसमें नही है तथा अपने अन्यधर्मको मुख्य कर कहता है उसकी अपेक्षा अजीवत्व है इत्यादि लगा लेना चाहिये। जीव अनन्त हैं उसकी अपेक्षा अपना जीवत्व आपमें है, परका जीवत्व इसमे नही है, इसलिये उसकी अपेक्षा अजीवत्व है ऐसे भी सिद्ध होता है। इत्यादि अनादि निधन अनन्त जीव अजीव वस्तुएँ है, उनमें अपने अपने द्रव्यत्व पर्यायत्व अनन्त धर्म है उन सहित सात भगसे सिद्ध कर लेना चाहिये, तथा उनकी स्थूल पर्यायें है वे भी चिरकालस्थायी अनेक धर्मरूप होती है जैसे—जीव, संसारी सिद्ध, ससारीमे त्रस स्थावर, उनमें मनुष्य तिर्यंच इत्यादि। पुद्गलमें अणु स्कन्ध तथा घट पट आदि, सो इनके भी कथंचित् वस्तुत्व सम्भव है, वह भी वैसे ही सात भगोसे सिद्ध कर लेना चाहिये। ऐसे ही जीव पुद्गलके संयोगसे हुए आस्रव बन्ध सवर निर्जरा पुण्य पाप मोक्ष आदि भाव उनमें भी बहु धर्मत्वकी अपेक्षा तथा परस्पर विधिनिषेधसे अनेक धर्मरूप कथंचित् वस्तुत्व सम्भव है, सो सात भगोसे सिद्ध कर लेना चाहिये।

जैसे एक पुरुषमे पिता पुत्र मामा भाणजा काका भतीजापणा आदि धर्म सम्भवते है, उनको अपनी अपनी अपेक्षासे विधिनिषेध द्वारा सात भंगोसे सिद्ध कर लेना चाहिये। ऐसा नियमसे जानना कि वस्तुमात्र अनेक धर्मस्वरूप है सो सबको अनेकान्त जानकर श्रद्धान करता है और वैसे ही लोकमे व्यवहार प्रवर्ताता है। वह सम्यग्दृष्टि है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य-पाप, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये नौ पदार्थ है उनको वैसे ही सात भंगोसे सिद्ध कर लेना चाहिये, उनका साधन श्रुतज्ञान प्रमाण है और उसके भेद द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, उनके भी भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत नय है। उनके भी उत्तरोत्तर भेद जितने वचनके प्रकार है उतने है, उनको प्रमाणसप्तभगी और नयसप्तभगीके विधानसे सिद्ध करते है। उनका वर्णन पहिले लोकभावनामे कर चुके है। उनका विशेष वर्णन तत्त्वार्थसूत्रकी टीकासे जानना चाहिये। ऐसे प्रमाण और नयोसे जीवादि पदार्थोंको जानकर श्रद्धान करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है।

यहाँ यह विशेष जानना चाहिये कि जो नय है वे वस्तुके एक २ धर्मको ग्रहण करने वाले है, वे अपने अपने विषयरूप धर्मको ग्रहण करनेमे समान है तो भी पुरुष

अपने प्रयोजनके वशसे उनको मुख्य गौण कर कहते है जैसे जीव नामक वस्तु है उसमें अनेक धर्म है, तो भी चेतनत्व आदि प्राणधारणत्व अजीवोंसे असाधारण देख उन अजीवोसे भिन्न दिखानेके प्रयोजनके वशसे मुख्यकर वस्तुका जीव नाम रक्खा, ऐसे ही मुख्य गौण करनेका सब धर्मोके प्रयोजनके वशसे जानना चाहिये।

यहाँ इस ही आशयसे अध्यात्म प्रकरणमे मुख्यको तो निश्चय कहा है और गौणको व्यवहार कहा है। उसमे अभेद धर्म तो प्रधानतासे निश्चयका विषय कहा है और भेद नयको गौणतासे व्यवहार कहा है सो द्रव्य तो अभेद है इसलिये निश्चयका आश्रय द्रव्य है। और पर्याय भेदरूप है इसलिये व्यवहारका आश्रय पर्याय है। यहाँ प्रयोजन यह है कि भेदरूप वस्तुको सबलोक (संसार) जानता है इसलिये जो जानता है वह ही प्रसिद्ध है इसी कारण लोक पर्यायबुद्धि है। जीवके नर नारक आदि पर्याये है राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पर्याय है तथा ज्ञानके भेदरूप मतिज्ञानादिक पर्यायें है इन पर्यायोंहीको लोक जीव जानता है। इसलिये इन पर्यायोंमे अभेदरूप अनादि अनन्त एक भाव जो चेतना धर्म उसको ग्रहण कर, निश्चयनयका विषय कहकर जीव द्रव्यका ज्ञान कराया है, पर्यायाश्रित जो भेदनय उसको गौण किया है तथा अभेददृष्टिसे यह दिखाई नही देता इसलिये अभेदनयका दृढ श्रद्धान करानेके लिये कहा है कि जो पर्याय नय है वह व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। सो भेद बुद्धिका एकान्त निराकरण करनेके लिये यह कथन जानना, ऐसा नही कि यह भेद है सो असत्यार्थ कहा है यह वस्तुका स्वरूप नही है, जो ऐसे सर्वथा मानता है वह अनेकान्तमे समझा नही, सर्वथा एकान्त श्रद्धानसे मिथ्यादृष्टि होता है। जहाँ अध्यात्मशास्त्रोमें निश्चय-व्यवहार नय कहे हैं वहाँ भी उन दोनोके परस्पर विधिनिषेधसे सात भगोसे वस्तु सिद्ध कर लेना चाहिये। एकको सर्वथा सत्यार्थ माने और एकको सर्वथा असत्यार्थ माने तो मिथ्याश्रद्धान होता है इसलिये वहां भी कथंचित् जानना चाहिये।

अन्य वस्तुका अन्य वस्तुमें आरोपण करके प्रयोजन सिद्ध किया जाता है वहाँ उपचार नय कहलाता है यह भी व्यवहारमे ही गर्भित है ऐसे कहा है। जहाँ जो प्रयोजन निमित्त होता है वहाँ उपचार प्रवर्तता है। जैसे घृतका घट—यहाँ मिट्टीके घड़ेके आश्रित घृत भरा हुआ होता है सो व्यवहारी लोगोको आधार आधेय भाव दिखाई देता है उसको प्रधान करके कहते हैं। घृतका घट (घडा) कहने पर ही लोग समझते है और घृतका घड़ा मगाने पर उसको ले आते है इसलिये उपचारमे भी

प्रयोजन सम्भवता है। इसी तरह अभेद नयको मुख्य करनें पर अभेद दृष्टिमें भेद दिखाई नही देता तब उसमें ही भेद कहता है सो असत्यार्थ है वहाँ भी उपचार सिद्ध होता है इस मुख्य गौणके भेदको सम्यग्दृष्टि जानता है।

मिथ्यादृष्टि अनेकान्त वस्तुको नही जानता है और सर्वथा एक धर्म पर दृष्टि पडती है तब उसहीको सर्वथा वस्तु मानकर अन्य धर्मको या तो सर्वथा गौण कर असत्यार्थ मानता है, या सर्वथा अन्य धर्मका अभाव हो मानता है उससे मिथ्यात्व दृढ होता है सो यह मिथ्यात्व नामक कर्मकी प्रकृतिके उदयमे यथार्थ श्रद्धा नही होती है इसलिये उस प्रकृतिका कार्य भी मिथ्यात्व हो कहलाता है। उस प्रकृतिका अभाव होने पर तत्त्वार्थका यथार्थ श्रद्धान होता है सो यह अनेकान्त वस्तुमें प्रमाण नयसे सात भगोके द्वारा सिद्ध किया हुआ सम्यक्त्वका कार्य है इसलिये इसको भी सम्यक्त्व ही कहते है ऐसा जानना चाहिये। जैनमतमें कथन अनेक प्रकारका है सो अनेकान्तरूप समझना और इसका फल अज्ञानका नाश होकर उपादेयकी बुद्धि और वीतरागताकी प्राप्ति है। इस कथनका मर्म (रहस्य) जानना बड़े भाग्यसे होता है। इस पचम कालमे इससमय इस कथनोके गुरुका निमित्त सुलभ नही है इसलिये शास्त्र समझनेका निरन्तर उद्यम रखकर समझना योग्य है क्योकि इसके आश्रयसे मुख्यतया सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। यद्यपि जिनेन्द्रकी प्रतिमाके दर्शन तथा प्रभावना अगका देखना इत्यादि सम्यक्त्वकी प्राप्तिके कारण है तथापि शास्त्रका श्रवण करना, पढना, भावना करना, धारणा, हेतुयुक्तिसे स्वमत परमतका भेद जानकर नयविवक्षाको समझना, वस्तुका अनेकान्त स्वरूप निश्चय करना मुख्य कारण है, इसलिये भव्यजीवोको इसका उपाय निरन्तर रखना योग्य है।

अब कहते है कि सम्यग्दृष्टि होने पर अनन्तानुबन्धी कषायका अभाव होता है, उसके निर्मद-मृदु परिणाम कैसे होते है—

जो ण य कुव्वदि गव्वं, पुत्त कलत्ताइसव्वअत्थेसु।
उवसमभावे भावदि, अप्पाणं मुणदि तिणमित्तं ॥३१३॥

अन्वयार्थः—[जो] जो सम्यग्दृष्टि होता है वह [पुत्तकलत्ताइसव्वअत्थेसु] पुत्र कलत्र आदि सब परद्रव्य तथा परद्रव्योके भावोमे [गव्वं ण य कुव्वदि] गर्व नही करता है, परद्रव्योसे आपके बड़प्पन माने तो सम्यक्त्व कैसा ? [उवसमभावे भावदि]

उपशम भावोंको भाता है, अनन्तानुबन्धीसम्बन्धी तीव्र रागद्वेष परिणामके अभावसे उपशम भावोंकी भावना निरन्तर रखता है [अप्पाणं तिणमित्त मुणदि] अपनी आत्माको तृणके समान हीन मानता है क्योकि अपना स्वरूप तो अनन्त ज्ञानादिरूप है इसलिये जबतक उसकी प्राप्ति नही होती है तबतक अपनेको वर्त्तमान पर्यायमे तृणतुल्य मानता है, किसीमे गर्व नही करता है ।

अब द्रव्य-दृष्टिका बल दिखाते है—

विसयासत्तो वि सया, सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि ।
मोहविलासो एसो, इदि सव्वं मण्णदे हेयं ॥३१४॥

अन्वयार्थः—[विसयासत्तो वि सया] अवरित सम्यग्दृष्टि यद्यपि इन्द्रियविषयोमें आसक्त है [सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि] त्रस स्थावर जीवोका घात जिनमे होता है ऐसे सब आरम्भोमे वर्त्तमान है, अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायोके तीव्र उदयसे विरक्त नही हुआ है [इदि सव्वं हेयं मण्णदे] तो भी सबको हेय (त्यागने योग्य) मानता है और ऐसा जानता है कि [एसो मोहविलासो] यह मोहका विलास है, मेरे स्वभावमे नही है, उपाधि है, रोगवत् है, त्यागने योग्य है, वर्त्तमान कषायोकी पीड़ा सही नही जाती है इसलिये असमर्थ होकर विषयोके सेवन तथा बहु आरम्भमें प्रवृत्ति होती है ऐसा मानता है ।

उत्तमगुणगहणरओ, उत्तमसाहूण विणयसंजुत्तो ।
साहम्मियअणुराई, सो सद्दिट्ठी हवे परमो ॥३१५॥

अन्वयार्थः—[उत्तमगुणगहणरओ] सम्यग्दृष्टि कैसे होता है—उत्तम गुण सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप आदिके ग्रहण करनेमें अनुरागी होता है [उत्तमसाहूण विणयसंजुत्तो] उन गुणोके धारक उत्तम साधुओमे विनय सयुक्त होता है [साहम्मिय अणुराई] अपने समान सम्यग्दृष्टि सार्धमियोमे अनुरागी होता है, वात्सल्य गुणसहित होता है [सो परमो सद्दिट्ठी हवे] वह उत्तम सम्यग्दृष्टि होता है । यदि ये तीनो भाव नही होते है तो जाना जाता कि इसके सम्यक्त्वका यथार्थपना नही है ।

देहमिलियं पि जीवं, णियणाणगुणेण मुणदि जो भिण्णं ।
जीवमिलियं पि देहं, कंचुवसरिसं वियाणेई ॥३१६॥

अन्वयार्थः—[देहमिलियं पि जीवं] यह जीव देहसे मिल रहा है [णियणाणगुणेण जो भिण्णं मुणदि] तो भी अपना ज्ञानगुण है इसलिये अपनेको देहसे भिन्न ही जानता है [जीवमिलियं पि देह] देह जीवसे मिल रहा है [कंचुवसरिसं वियाणेई] तो भी उसको कचुक (कपड़ेका जामा) समान जानता है जैसे देहसे जामा भिन्न है वैसे जीवसे देह भिन्न है ऐसे जानता है ।

णिज्जियदोसं देवं, सव्वजिवाणं दया वरं धम्मं ।
वज्जियगंथं च गुरुं, जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी ॥३१७॥

अन्वयार्थः—[जो] जो जीव [णिज्जियदोसं देवं] दोषरहितको तो देव [सव्वजिवाणं दया वर धम्मं] सब जीवोकी दयाको श्रेष्ठ धर्म [वज्जियगंथं च गुरुं] निर्ग्रन्थको गुरु [मण्णदि] मानता है [सो हु सद्दिट्ठो] वह प्रगटरूपसे सम्यग्दृष्टि है ।

भावार्थः—सर्वज्ञ वीतराग अठारह दोष रहित देवको माने, अन्य दोषसहित देवोको ससारी जाने, वे मोक्षमार्गी नही है, ऐसा जानकर उनको वन्दना पूजा नही करे । अहिसारूप धर्म जाने, जो यज्ञादि देवताओके लिये पशुघात कर चढानेको धर्म मानते है उसको पाप ही जानकर आप उसमे प्रवृत्ति नही करे । जो ग्रन्थ (परिग्रह) सहित अनेक भेष अन्यमतवालोके है तथा कालदोषसे जैनमतमें भी भेष होगये है उन सबको भेषी पाखडी जाने, उनकी वन्दना पूजा नही करे । सब परिग्रहसे रहित हो उनही को गुरु मानकर वन्दना पूजा करे क्योकि देव गुरु धर्मके आश्रयसे ही मिथ्या सम्यक् उपदेश प्रवर्तता है इसलिये कुदेव कुधर्म कुगुरुको वन्दना पूजना तो दूर ही रहो उनके संसर्गहीसे श्रद्धान बिगडता है इस कारण सम्यग्दृष्टि उनकी सगति भी नही करता है । स्वामी समन्तभद्र आचार्यने रत्नकरन्ड श्रावकाचारमे ऐसे कहा है कि "सम्यग्दृष्टि कुदेव कुत्सित आगम और कुलिगी भेषीको भयसे आशासे तथा लोभसे भी प्रणाम और उनका विनय नही करता है" इनके ससर्गसे श्रद्धान बिगड़ता है, धर्मकी प्राप्ति तो दूर ही रही, ऐसा जानना चाहिये ।

अब मिथ्यादृष्टि कैसा होता है सो कहते है—

दोससहियं पि देवं, जीवहिंसाइसंजुदं धम्मं ।
गंथासत्तं च गुरुं, जो मण्णदि सो हु कुदिट्ठी ॥३१८॥

अन्वयार्थः—[जो] जो जीव [दोससहियं पि देवं] दोषसहित देवको तो देव [जीवहिंसाइसजुदं धम्म] जीव हिसादि सहितको धर्म [गथासत्तं च गुरुं] परिग्रहमें आसक्तको गुरु [मण्णदि] मानता है [सो हु कुदिट्ठी] वह प्रगटरूपसे मिथ्यादृष्टि है।

भावार्थः—भाव मिथ्यादृष्टि तो अदृष्ट छिपा हुआ मिथ्यात्वी है। जो कुदेव राग द्वेष मोह आदि अठारह दोष सहितको देव मानकर पूजा वन्दना करता है, हिसा जीवघातसे धर्म मानता है और परिग्रहमें आसक्त भेषियोको (पाखण्डियोको) गुरु मानता है वह प्रगटरूपसे प्रसिद्ध मिथ्यादृष्टि है।

अब कोई प्रश्न करता है कि व्यन्तर आदि देव लक्ष्मी देते हैं, उपकार करते है उनकी पूजा वन्दना करे या नही ? उसको उत्तर देते है—

ण य को वि देदि लच्छी, ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं, कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ॥३१६॥

अन्वयार्थः—[को वि लच्छी ण य देदि] इस जीवको कोई व्यन्तर आदि देव लक्ष्मी नही देते है [जीवस्स को वि उवयारं ण कुणदि] इस जीवका कोई अन्य उपकार भी नही करता है [सुहासुहं कम्मं पि उवयार अवयारं कुणदि] जीवके पूर्व सचित शुभ अशुभ कर्म ही उपकार तथा अपकार करते है।

भावार्थः—कोई ऐसा मानते हैं कि व्यन्तर आदि देव हमको लक्ष्मी देते हैं, हमारा उपकार करते है इसलिये हम उनकी पूजा वदना करते हैं सो यह मिथ्याबुद्धि है। पहले तो इस पचम कालमें प्रत्यक्ष कोई व्यन्तर आदि आप देता हुआ देखा नही, उपकार करता हुआ भी दिखाई नही देता, यदि ऐसा होता तो पूजनेवाले दरिद्री रोगी दु खी क्यो रहते ? इसलिये वृथा कल्पना करते हैं। परोक्षमे भी ऐसा नियमरूप सम्बन्ध दिखाई नही देता है कि जो उनकी पूजा करते हैं उनके अवश्य उपकारादिक होवे ही, इसलिये यह मोही जीव वृथा ही विकल्प उत्पन्न करता है, जो पूर्वसचित शुभाशुभ कर्म हैं वे ही इस प्राणीके सुख दुःख धन दरिद्र जीवन मरणको करते है।

भत्तीए पुज्जमाणो, विंतरदेवो वि देदि जदि लच्छी।
तो किं धम्मं कीरदि, एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी ॥३२०॥

अन्वयार्थः—[सद्दिट्ठी एवं चिंतेइ] सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है कि [जदि भत्तीए पुज्जमाणो विंतरदेवो वि लच्छी देदि] यदि भक्तिसे पूजा हुआ व्यन्तर देव ही लक्ष्मीको देता है [तो धम्मं किं कीरदि] तो धर्म क्यों किया जाता है ?

भावार्थः—कार्य तो लक्ष्मीसे है सो व्यन्तर देव ही पूजा करनेसे लक्ष्मी दे देवे तो धर्म सेवन क्यो करना ? मोक्षमार्गके प्रकरणमे ससारकी लक्ष्मीका अधिकार भी नही है इसलिये सम्यग्दृष्टि तो मोक्षमार्गी है, ससारकी लक्ष्मीको हेय जानता है, उसकी बाछा ही नही करता है । यदि पुण्यके उदयसे मिले तो मिलो और न मिले तो मत मिलो, मोक्षसिद्धिकी ही भावना करता है इसलिये संसारी देवादिकको पूजा वन्दना क्यो करे ? कभी भी पूजा वन्दना नही करता है ।

अब सम्यग्दृष्टिके विचार कहते है—

जं जस्स जम्मिदेसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेण णियदं, जम्मं वा अहव मरणं वा ॥३२१॥
तं तस्स तम्मि देसे, तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कदि वारेदुं, इंदो वा तह जिणिंदो वा ॥३२२॥

अन्वयार्थः—[ज जस्स जम्मिदेसे] जो जिस जीवके जिस देशमें [जम्मि कालम्मि] जिस कालमें [जेण विहाणेण] जिस विधानसे [जम्मं वा अहव मरणं वा] जन्म तथा मरण उपलक्षणसे दुःख सुख रोग दारिद्रय आदि [जिणेण] सर्वज्ञ देवके द्वारा [णादं] जाना गया है [णियदं] वह वैसे ही नियमसे होगा [तं तस्स तम्मि देसे] वह हो उस प्राणीके उस ही देशमे [तम्मि कालम्मि] उस हो कालमे [तेण विहाणेण] उसही विधानसे नियमसे होता है [इदो वा तह जिणिंदो वा को वारेदु सक्कदि] उसका इन्द्र, जिनेन्द्र, तीर्थंकर देव कोई भी निवारण नही कर सकते ।

भावार्थः—सर्वज्ञदेव सब द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अवस्था जानते है इसलिये जो सर्वज्ञके ज्ञानमे झलका है (जाना गया है) वह नियमसे होता है उसमे हीनादिक कुछ भी नही होता है, सम्यग्दृष्टि ऐसा विचारता है ।

अब कहते है कि ऐसा निश्चय करते है वे तो सम्यग्दृष्टि हैं और इसमें संशय करते है वे मिथ्यादृष्टि है—

एवं जो णिच्चयदो, जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए ।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो, जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी ॥३२३॥

अन्वयार्थः—[जो एवं णिच्चयदो] जो इसप्रकारके निश्चयसे [दव्वाणि सव्वपज्जाए जाणदि] सब द्रव्य जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल इनको और इन द्रव्योको सब पर्यायोको सर्वज्ञके आगमके अनुसार जानता है—श्रद्धान करता है [सो सुद्धो सद्दिट्ठी] वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है [जो सकदि सो हु कुद्दिट्ठी] जो ऐसा श्रद्धान नही करता है शका (सदेह) करता है वह सर्वज्ञके आगमसे प्रतिकूल है, प्रगटरूपसे मिथ्यादृष्टि है ।

अब कहते है कि जो विशेष तत्त्वको नही जानता है और जिनवचनोमे आज्ञामात्र श्रद्धान करता है वह भी श्रद्धावान् कहलाता है ।

जो ण विजाणइ तच्चं, सो जिणवयणे करेदि सद्दहणं ।
जं जिणवरेहि भणियं, तं सव्वमहं समिच्छामि ॥३२४॥

अन्वयार्थः—[जो तच्चं ण विजाणइ] जो जीव अपने ज्ञानके विशिष्ट क्षयोपशम बिना तथा विशिष्ट गुरुके सयोग बिना तत्त्वार्थको नही जान पाता है [सो जिणवयणे सद्दहणं करेदि] वह जीव जिनवचनोमे ऐसा श्रद्धान करता है कि [ज जिणवरेहि भणियं] जो जिनेश्वर देवने तत्त्व कहा है [तं सव्वमहं समिच्छामि] उस सबहीको मै भले प्रकार इष्ट (स्वीकार) करता हूँ इस तरह भी श्रद्धावान् होता है ।

भावार्थः—जो जिनेश्वरके वचनोकी श्रद्धा करता है कि जो सर्वज्ञ देवने कहा है वह सब ही मेरे इष्ट है, ऐसी सामान्य श्रद्धासे भी आज्ञा सम्यक्त्व कहा गया है ।

अब सम्यक्त्वका माहात्म्य तीन गाथाओमे कहते है—

रयणाण महारयणं, सव्वजोयाण उत्तमं जोयं ।
रिद्धीण महा रिद्धि, सम्मत्तं सव्वसिद्धियरं ॥३२५॥

अन्वयार्थः—[रयणाण महारयणं] सम्यक्त्व रत्नोंमें तो महारत्न है [सव्वजोयाण उत्तमं जोयं] सब योगोमें (वस्तुकी सिद्धि करनेके उपाय, मंत्र, ध्यान आदिमें) उत्तम योग है क्योंकि सम्यक्त्वसे मोक्षकी सिद्धि होती है [रिद्धीण महारिद्धि] अणिमादिक ऋद्धियोमें सबसे बड़ी ऋद्धि है [सव्वसिद्धियरं सम्मत्तं] अधिक क्या कहे, सब सिद्धियोको करनेवाला यह सम्यक्त्व ही है ।

सम्मत्तगुणप्पहाणो, देविंदणरिंदवंदिओ होदि ।
चत्तवयो वि य पावइ, सग्गसुहं उत्तमं विविहं ॥३२६॥

अन्वयार्थः—[सम्मत्तगुणप्पहाणो] सम्यक्त्व गुण सहित जो पुरुष प्रधान है वह [देविंदणरिंदवंदिओ होदि] देवोके इन्द्र तथा मनुष्योंके इन्द्र चक्रवर्त्ती आदिसे वन्दनीय होता है [चत्तवयो वि य उत्तमं विविहं सग्गसुह पावइ] व्रत रहित होने पर भी उत्तम अनेक प्रकारके स्वर्गके सुख पाता है ।

भावार्थः—जिसमे सम्यक्त्व गुण होता है वह प्रधान पुरुष है, वह देवेन्द्रादिकसे पूज्य होता है, सम्यक्त्वमे देवहीकी आयु बँधती है इसलिये व्रतरहितके भी स्वर्गहीका जाना मुख्यरूपसे कहा है । सम्यक्त्वगुणप्रधानका ऐसा भी अर्थ होता है कि जो सम्यक्त्व पचीस मल दोषोसे रहित हो अपने निःशंकितआदि गुणों सहित हो तथा संवेगादि गुण सहित हो ऐसे सम्यक्त्वके गुणोसे प्रधान पुरुष होता है वह देवेन्द्रादिसे पूज्य होता है और स्वर्गको प्राप्त करता है ।

सम्माइट्ठी जीवो, दुग्गदिहेदुं ण बंधदे कम्मं ।
जं बहुभवेसु बद्धं, दुक्कम्मं तं पि णासेदि ॥३२७॥

अन्वयार्थः—[सम्माइट्ठी जीवो] सम्यग्दृष्टि जीव [दुग्गदिहेदुं कम्मं ण बंधदे] दुर्गतिके कारण अशुभकर्मको नही बांधता है [जं बहुभवेसु बद्ध दुक्कम्म तं पि णासेदि] और जो अनेक पूर्वभवोमे बाँधे हुए पापकर्म है उनका भी नाश करता है ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि मरकर द्वितीयादिक नरकोमे नही जाता है, ज्योतिषी व्यन्तर भवनवासी देव नही होता है, स्त्रियोमे उत्पन्न नही होता है, पांच स्थावर, विकलत्रय, असैनी निगोद, म्लेच्छ, कुभोगभूमि इन सबमे उत्पन्न नही होता है, क्योंकि इसके अनन्तानुबन्धीके उदयके अभावसे दुर्गतिके कारण कषायोके स्थानरूप परिणाम

नही है । यहाँ तात्पर्य यह है कि तीन काल और तीनलोकमें सम्यक्त्वके समान कल्याण-रूप अन्य पदार्थ नही है और मिथ्यात्वके समान शत्रु नही है इसलिये श्रीगुरुओका यह उपदेश है कि अपने सर्वस्व उद्यम उपाय यत्न द्वारा मिथ्यात्वका नाश कर सम्यक्त्वको अगीकार करना चाहिये । इस तरह गृहस्थधर्मके बारह भेदोमें पहिला भेद सम्यक्त्व-सहितपनां है उसका वर्णन किया ।

अब प्रतिमाके ग्यारह भेदोके स्वरूप कहेगे । पहिले दार्शनिक श्रावकको कहते है—

बहुतससमण्णिदं जं, मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं ।
जो ण य सेवदि णियदं, सो दंसणसावओ होदि ॥३२८॥

अन्वयार्थः—[बहुतससमण्णिदं जं मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं] बहुतसे त्रस जीवोके घातसे उत्पन्न तथा उन सहित मदिराका और अति निन्दनीय मांस आदि द्रव्यका [जो णियदं ण य सेवदि] जो नियमसे सेवन नही करता है–भक्षण नही करता है [सो दसणसावओ होदि] वह दार्शनिक श्रावक है ।

भावार्थः—मदिरा और मास तथा आदि शब्दसे मधु और पंच उदम्बरफल ये वस्तुएँ बहुत त्रस जीवोके घात सहित है इसलिये दार्शनिक श्रावक इनका भक्षण नही करता है । मद्य तो मनको मोहित करता है तब धर्मको भूल जाता है । मास त्रसघातके बिना होता ही नही है । मधुको उत्पत्ति प्रसिद्ध है वह भी त्रसघातका स्थान ही है । पीपल बड़ पीलू फलोमें प्रत्यक्ष त्रस जीव उड़ते हुए दिखाई देते है । अन्य ग्रन्थोमें कहा है कि ये श्रावकके आठ मूलगुण है और इनको त्रसहिसाके उपलक्षण कहे है इसलिये जिन वस्तुओमे त्रसहिसा बहुत होती है वे श्रावकके लिये अभक्ष्य है इस कारण उनका भक्षण करना योग्य नही है ।

सात व्यसन अन्याय प्रवृत्तिके मूल (जड) हैं उनका भी यहाँ त्याग कहा है । जूआ मास मद्य वेश्या शिकार चोरी परस्त्री ये सात व्यसन कहे गये हैं । व्यसन नाम आपत्ति वा कष्टका है इनके सेवन करने वालो पर आपत्तियाँ आती है राजासे पञ्चोसे दण्ड योग्य होते है तथा इनका सेवन भी आपत्ति वा कष्टरूप है, श्रावक ऐसे अन्यायके कार्य नही करता है । यहाँ दर्शन नाम सम्यक्त्वका है तथा धर्मकी मूर्ति सबके

देखनेमें आती है उसका भी नाम दर्शन है सो सम्यग्दृष्टि होकर जिनमतका सेवन करे और अभक्ष्य तथा अन्याय अंगीकार करे तो सम्यक्त्वको तथा जिनमतको लज्जित करे—मलिन करे इसलिए इनको नियमपूर्वक छोड़ने पर ही दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक होता है ।

दिढचित्तो जो कीरदि, एवं पि वयं णियाणपरिहीणो ।
वेरग्गभावियमणो, सो वि य दंसणगुणो होदि ॥३२९॥

अन्वयार्थः—[एवं पि वयं] ऐसे व्रतको [दिढचित्तो] दृढचित्त हो [णियाण-परिहीणो] निदान (इस लोक परलोकके भोगोकी वांछा) से रहित हो [वेरग्ग-भावियमणो] वैराग्यसे भावित (गीला) मन वाला होता हुआ [जो कीरदि] जो सम्यग्दृष्टि पुरुष करता है [सो वि य दंसणगुणो होदि] वह दार्शनिक श्रावक होता है ।

भावार्थः—पहिली गाथामें श्रावकका स्वरूप कहा था उसीके ये तीन विशेषण और जानना चाहिये । पहिले तो दृढ़चित्त हो, परीषह आदि कष्ट आवे तो व्रतकी प्रतिज्ञासे चलायमान नही हो । निदान रहित हो, इस लोक सम्बन्धी यश सुख सम्पत्ति वा परलोकसम्बन्धो शुभगतिकी वाछा रहित हो । वैराग्य भावनासे जिसका चित्त सिंचित हो । अभक्ष्य तथा अन्यायको अत्यन्त अनर्थ जानकर त्याग करे ऐसा नही कि ये शास्त्रमे त्यागने योग्य कहे हैं इसलिये छोड़ना चाहिये और परिणामोमें राग मिटे नही । त्यागके अनेक आशय होते है सो इसके अन्य आशय नही होता, केवल तीव्र कषायके निमित्त महा पाप जानकर त्याग करता है । इनका त्याग करने पर ही आगामो प्रतिमाके उपदेश योग्य होता है । व्रती निःशल्य कहा गया है इसलिये शल्यरहित त्याग होता है इस तरह दर्शनप्रतिमाधारी श्रावकके स्वरूपका वर्णन किया ।

अब दूसरी व्रतप्रतिमाका स्वरूप कहते है—

पंचाणुव्वयधारी, गुणवयसिक्खावएहिं संजुत्तो ।
दिढचित्तो समजुत्तो, णाणी वयसावओ होदि ॥३३०॥

अन्वयार्थः—[पंचाणुव्वयधारी] जो पांच अणुव्रतोका धारक हो [गुणवय-सिक्खावएहिं संजुत्तो] तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत सहित हो [दिढचित्तो समजुत्तो]

दृढचित्त हो और समताभाव सहित हो [णाणी वयसावओ होदि] ज्ञानवान् हो, वह व्रतप्रतिमाका धारक श्रावक है ।

भावार्थः—यहाँ अणु शब्द अल्पका वाचक है जो पाँचो पापोमें स्थूल पाप हैं उनका त्याग है इसलिये अणुव्रत सज्ञा है । गुणव्रत और शिक्षाव्रत उन अणुव्रतोको रक्षा करनेवाले है इसलिये अणुव्रती उनको भी धारण करता है । इसके प्रतिज्ञा व्रतकी है सो दृढचित्त है, कष्ट उपसर्ग परिषह आने पर भी शिथिल नहीं होता है । अप्रत्याख्यानावरण कषायके अभावसे ये व्रत होते हैं और प्रत्याख्यानावरण कषायके मन्द उदयसे होते है इसलिये उपशमभाव सहित विशेषण दिया है । यद्यपि दर्शनप्रतिमा धारीके भी अप्रत्याख्यानावरणका अभाव तो हो गया है परन्तु प्रत्याख्यानावरण कषायके तीव्र स्थानोके उदयसे अतीचार रहित पाँच अणुव्रत नही होते है इसलिये अणुव्रत संज्ञा नही आती है और स्थूल अपेक्षा अणुव्रत उसके भी त्रसके भक्षणके त्यागसे अणुत्व व्यसनोमे चोरीका त्याग है इसलिये असत्य भी इसमे गर्भित है । परस्त्रीका त्याग है, वैराग्य भावना है इसलिये परिग्रहके भी मूर्छाके स्थान घटते है परिमाण भी करता है परन्तु निरतिचार नही होते इसीलिये व्रत प्रतिमा नाम नही पाता है । ज्ञानी विशेषण भी उचित ही है, सम्यग्दृष्टि हो, व्रतका स्वरूप जान गुरुओकी दी हुई प्रतिज्ञा लेता है वह ज्ञानी ही है ऐसा जानना चाहिये ।

अब पाँच अणुव्रतोमेसे पहिले अणुव्रतको कहते है—

जो वावरइ सदओ, अप्पाणसमं परं पि मण्णंतो ।
णिंदणगरहणजुत्तो, परिहरमाणो महारंभे ॥३३१॥
तसघादं जो ण करदि, मणवयकाएहि णेव कारयदि ।
कुव्वंतं पि ण इच्छदि, पढमवयं जायदे तस्स ॥३३२॥

अन्वयार्थः—[तसघादं जो ण करदि मणवयकाएहि णेव कारयदि] जो श्रावक त्रसजीव दोइन्द्रिय तेन्द्रिय चोइन्द्रिय पचेन्द्रियका घात मन वचन कायसे आप नही करे, दूसरेसे नही करावे [कुव्वतं पि ण इच्छदि] और अन्यको करते हुएको इष्ट (अच्छा) नही माने [तस्स पढमवय जायदे] उसके पहिला अहिसाणुव्रत होता है । कैसा है श्रावक ? [जो सदओ वावरइ] जो दयासहित तो व्यापार कार्यमे प्रवृत्ति करता है [अप्पाणसम परं पि मण्णतो] सब प्राणियोको अपने समान मानता है [णिंदणगर-

हणजुत्तो] निंदा और गर्हा सहित है। (व्यापारादि कार्योमें हिंसा होती है उसकी अपने मनमें (अपनी) निंदा करता है, गुरुओके पास अपने पापोको कहता है सो गर्हा सहित है, जो पाप लगते है उनकी गुरुओकी आज्ञाप्रमाण आलोचना प्रतिक्रमण आदि प्रायश्चित्त लेता है) [महारंभे परिहरमाणो] जिनमे त्रस हिसा बहुत होती हो ऐसे बड़े व्यापार आदिके कार्य महारम्भोको छोडता हुआ प्रवृत्ति करता है।

भावार्थः—त्रस घात स्वयं नही करता है, दूसरेसे नही कराता है, करते हुएको अच्छा नहीं मानता है। पर जीवोंको अपने समान जाने तब परघात नही करे। बड़े आरम्भ जिनमे त्रसघात बहुत हो उनको छोडे और अल्प आरम्भमें त्रसघात हो उससे अपनी निन्दा गर्हा करे, आलोचन प्रतिक्रमणादि प्रायश्चित करे। इनके अतिचार अन्य ग्रन्थोमे कहे है उनको टाले (न लगने दे) इस गाथामें अन्य जीवको अपने समान जानना कहा है उसमे अतिचार टालना भी आ गया। परके वध बधन अतिभारारोपण अन्नपाननिरोधमे दुःख होता है सो आप समान परको जाने तब क्यों करे।

अब दूसरे अणुव्रतको कहते है—

हिंसावयणं ण वयदि, कक्कसवयणं पि जो ण भासेदि।
णिट्ठुरवयणं पि तहा, ण भासदे गुज्झवयणं पि ॥३३३॥
हिदमिदवयणं भासदि, संतोसकरं तु सव्वजीवाणं।
धम्मपयासणवयणं, अणुव्वदि होदि सो बिदिओ ॥३३४॥

अन्वयार्थः—[जो हिंसावयणं ण वयदि] जो हिसाके वचन नही कहता है [कक्कसवयणं पि ण भासेदि] कर्कश वचन भी नही कहता है [णिट्ठुरवयणं पि तहा] तथा निष्ठुर वचन भी नही कहता है [गुज्झवयणं पि ण भासदे] और परका गुह्य (गुप्त) वचन भी नही कहता है। तो कैसे वचन कहे ? [हिदमिदवयणं भासदि] परके हितरूप तथा प्रमाणरूप वचन कहता है [तु सव्वजीवाणं संतोसकरं] सब जीवोको सन्तोष करनेवाले वचन कहता है [धम्मपयासणवयण] धर्मका प्रकाश करनेवाले वचन कहता है [सो बिदिओ अणुव्वदि होदि] वह पुरुष दूसरे अणुव्रतका धारी होता है।

भावार्थः—असत्य वचन अनेक प्रकारका है उनका पूर्ण त्याग तो सकल चारित्रके धारक मुनियोके ही होता है और अणुव्रतमें तो स्थूलका ही त्याग है इसलिये

जिस वचनसे परजीवका घात हो ऐसे हिंसाके वचन नहीं कहता है। जो वचन दूसरेको कटु लगते हों, सुनते ही क्रोधादिक उत्पन्न हो जाय ऐसे कर्कश वचन नही कहता है। दूसरेके उद्वेग उत्पन्न हो जाय, भय उत्पन्न हो जाय, शोक उत्पन्न हो जाय, कलह उत्पन्न हो जाय ऐसे निष्ठुर वचन नही कहता है। दूसरेके गुप्त मर्मका प्रकाश करने वाले वचन नही कहता है। उपलक्षणसे और भी ऐसे वचन जिनसे दूसरोका बुरा होता हो ऐसे वचन नही कहता है। यदि कहता है तो हितमित वचन कहता है। सब जीवोको सन्तोष उत्पन्न हो ऐसे वचन कहता है। जिनसे धर्मका प्रकाश हो ऐसे वचन कहता है। इसके अतीचार अन्य ग्रन्थोंमे मिथ्या उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार, साकारमन्त्रभेद कहे है सो गाथामे विशेषण कहे उनमे सब गर्भित हो गये। यहाँ तात्पर्य यह है कि जिससे परजीवका बुरा हो जाय, अपने ऊपर आपत्ति आ जाय तथा वृथा प्रलापके वचनोसे अपने प्रमाद बढे ऐसा स्थूल असत्यवचन अणुव्रती नही कहता है, दूसरेसे नही कहलाता है और कहने वालेको अच्छा नही मानता है उसके दूसरा अणुव्रत होता है।

अब तीसरे अणुव्रतको कहते है—

जो बहुमुल्लं वत्थुं, अप्पमुल्लेण णेय गिण्हेदि।
वीसरियं पि ण गिण्हदि, लाहे थोये वि तूसेदि ॥३३५॥
जो परदव्वं ण हरइ, मायालोहेण कोहमाणेण।
दिढचित्तो सुद्धमई, अणुव्वई सो हवे तिदिओ ॥३३६॥

अन्वयार्थः—[जो बहुमुल्लं वत्थुं अप्पमुलेण णेय गिण्हेदि] जो श्रावक बहुमूल्य वस्तुको अल्पमूल्यमे नही लेता है [वीसरियं पि ण गिण्हदि लाहे थोये वि तूसेदि] किसीकी भूली हुई वस्तुको नही लेता है, व्यापारमे थोड़े ही लाभसे सन्तोष करता है [जो मायालोहेण कोहमाणेण परदव्वं ण हरइ] जो कपटसे लोभसे क्रोधसे मानसे दूसरेके द्रव्यका हरण नही करता है [दिढचित्तो] जो दृढ चित्त है (कारण पाकर प्रतिज्ञाका भंग नही करता है) [सुद्धमई] शुद्ध बुद्धिवाला होता है [सो तिदिओ अणुव्वई हवे] वह तीसरे अणुव्रतका धारक श्रावक होता है।

भावार्थः—सात व्यसनोके त्यागमे चोरीका त्याग तो होता ही है उसमे यहाँ इतनी विशेषता है कि बहुमूल्य वस्तुको अल्प मूल्यमे लेनेसे झगड़ा उत्पन्न होता है न मालुम किस कारणसे दूसरा (देनेवाला) अल्पमूल्यमे देता है । दूसरेकी भूली हुई वस्तुको तथा मार्गमे पडी हुई वस्तुको भी नही लेता है यह नही सोचता है कि दूसरा नही जानता है इसलिये किसका डर है ? व्यापारमें थोड़े ही लाभ पर सन्तोष करता है, बहुत लोभसे अनर्थ उत्पन्न होते है । कपटपूर्वक किसीका धन नही लेता है । किसीने अपने पास रक्खा हो तो उसको न देनेके भाव नही रखता है । लोभ तथा क्रोधसे दूसरेके धनको बलात् (जबरदस्ती) नही लेता है और घमण्डमें आकर यह भी नही कहता है कि हम बहादुर है हमने लिया तो लिया, हमारा कोई क्या कर सकता है आदि । इस तरह दूसरोका धन स्वयं नही लेता है, न दूसरोके द्वारा लिवाता है और इस तरह लेने वालोको अच्छा भी नही मानता है ।

अन्य ग्रन्थोमे इस व्रतके पाँच अतिचार कहे गये है, चोरको चोरीके लिये प्रेरणा करना, उसका लाया हुआ धन लेना, राज्यविरुद्ध कार्य करना, व्यापारके तोल बाट हीनाधिक रखना, अल्पमूल्यकी वस्तुको बहुमूल्य वाली वस्तु बताकर व्यापार करना ये पाँच अतिचार है सो गाथामे दिये गये विशेषणोमे गर्भित है । इस तरह निरतिचार स्तेयत्यागव्रतका पालन करता है वह तीसरे अणुव्रतका धारक श्रावक होता है ।

अब ब्रह्मचर्यव्रतका स्वरूप कहते है—

असुइमयं दुग्गंधं, महिलादेहं विरच्चमाणो जो ।
रूवं लावण्णं पि य, मणमोहणकारणं मुणइ ॥३३७॥
जो मण्णदि परमहिलं, जणणीबहिणीसुआइसारिच्छं ।
मणवयणे कायेण वि, बंभवई सो हवे थूलो ॥३३८॥

अन्वयार्थः—[जो महिलादेहं असुइमय दुग्गधं] जो श्रावक स्त्रीके शरीरको अशुचिमयी दुर्गन्धयुक्त जानता हुआ [रूव लावण्णं पि य मणमोहणकारणं मुणइ] उसके रूप तथा लावण्यको भी मनमे मोह उत्पन्न करनेका कारण जानता है [विरच्चमाणो] इसलिये विरक्त होता हुआ प्रवर्तता है [जो परमहिलं जणण बहिणीसुआइसारिच्छं मणवयणे कायेण वि मण्णदि] जो परस्त्रीको, बड़ीको माताके समान, बराबरकीको बहिनके समान,

छोटीको पुत्रीके समान मन वचन कायसे जानता है [सो थूलो बभवई हवे] वह स्थूल ब्रह्मचर्यका धारक श्रावक है ।

भावार्थः—इस व्रतका धारी परस्त्रीका तो मनवचनकाय कृतकारित अनुमोदनासे त्याग करता है और स्वस्त्रीमे सन्तोष रखता है । तीव्रकामके विनोद क्रीडारूप प्रवृत्ति नही करता है क्योकि स्त्रीके शरीरको अपवित्र दुर्गन्धयुक्त जानकर वैराग्य भावनारूप भाव रखता है और कामकी तीव्र वेदना इस स्त्रीके निमित्तसे होती है इसलिये उसके रूप लावण्य आदि चेष्टाको मनको मोहनेका, ज्ञानको भुलानेका, कामको उत्पन्न करानेका कारण जानकर विरक्त रहता है वह चतुर्थ अणुव्रतका धारक होता है । इसके अतिचार परविवाह करना, दूसरे विवाहित अविवाहित स्त्रीका ससर्ग, कामकी क्रीडा, कामका तीव्र अभिप्राय ये कहे गये है ये 'स्त्रीके शरीरसे विरक्त रहना' इस विशेषणमे गर्भित है । परस्त्रीका त्याग तो पहिली प्रतिमाके सात व्यसनोके त्यागमे आ चुका है यहाँ पर अति तीव्र कामकी वासनाका भी त्याग है इसलिये अतिचार रहित व्रत पालन करता है, अपनी स्त्रीमे भी तीव्र रागी नही होता है । ऐसे ब्रह्मचर्य व्रतका वर्णन किया ।

अब परिग्रहपरिमाण नामक पाँचवे अणुव्रतका स्वरूप कहते है—

जो लोहं णिहणित्ता, संतोसरसायणेण संतुट्ठो ।
णिहणदि तिण्हा दुट्ठा, मण्णंतो विणस्सरं सव्वं ॥३३९॥
जो परिमाणं कुव्वदि, धणधाणसुवण्णखित्तमाईणं ।
उवओगं जाणित्ता, अणुव्वदं पंचमं तस्स ॥३४०॥

अन्वयार्थः—[जो लोहं णिहणिचा सतोसरसायणेण संतुट्ठो] जो पुरुष लोभ कषायको हीन कर सतोषरूप रसायनसे सतुष्ट होकर [सव्वं] सब [धणधाणसुवण्ण-खित्तमाईणं] धन धान्य सुवर्ण क्षेत्र आदि परिग्रहको [विणस्सरं मण्णतो] विनाशीक मानता हुआ [दुट्ठा तिण्हा णिहणदि] दुष्ट तृष्णाको अतिशयरूपसे नाश करता है [उवओगं जाणित्ता] धन धान्य सुवर्ण क्षेत्र आदि परिग्रहका अपना उपयोग (आवश्यकता एव सामर्थ्य) जानकर उसके अनुसार [जो परिमाण कुव्वदि] जो परिमाण करता है [तस्स पंचमं अणुव्वदं] उसके पाँचवाँ अणुव्रत होता है ।

भावार्थः—अन्तरंगका परिग्रह तो लोभ तृष्णा है उसको क्षीण करता है तथा बाह्यका परिग्रह परिमाण करता है और दृढचित्तसे प्रतिज्ञा भग नही करता है वह अतिचार रहित पचम अणुव्रती होता है इस तरह पाँच अणुव्रतोका निरतिचार पालन करता है वह व्रत प्रतिमाधारी श्रावक है, ऐसे पॉच अणुव्रतोका वर्णन किया ।

अब इन व्रतोकी रक्षा करनेवाले सात शील है उनका वर्णन करेगे । उनमें पहिले तीन गु॰ व्रत है उसमे पहिले गुणव्रतको कहते है ।

जह लोहणासणट्ठं, संगपमाणं हवेइ जीवस्स ।
सव्वं दिसिसु पमाणं, तह लोहं णासए णियमा ॥३४१॥
जं परिमाणं कीरदि, दिसाण सव्वाणं सुप्पसिद्धाणं ।
उवओगं जाणित्ता, गुणव्वदं जाण तं पढमं ॥३४२॥

अन्वयार्थः—[जह लोहणासणट्ठं जीवस्स संगपमाणं हवेइ] जैसे लोभका नाश करनेके लिये जीवके परिग्रहका परिमाण होता है [तह सव्वं दिसिसु पमाणं णियमा लोहं णासए] वैसे ही सब दिशाओमे परिमाण किया हुआ भो नियमसे लोभका नाश करता है [सव्वाण सुप्पसिद्धाणं दिसाण] इसलिये सब ही पूर्व आदि प्रसिद्ध दस दिशाओका [उवओगं जाणित्ता] अपना उपयोग (प्रयोजन कार्य) जानकर [जं परिमाणं कीरदि] जो परिमाण करता है [तं पढमं गुणव्वदं जाण] वह पहिला गुणव्रत है ।

भावार्थः—पहिले पाँच अणुव्रत कहे गये है उनके ये गुणव्रत उपकारी हैं । यहॉ गुण शब्द उपकारवाचक लेना चाहिये सो लोभका नाश करनेके लिये जैसे परिग्रहका परिमाण करता है वैसे ही लोभका नाश करनेके लिये दिशाका भी परिमाण करता है । जहाँ तकका परिमाण किया है उससे आगे यदि द्रव्य आदिकी प्राप्ति होती हो तो भी वहाँ नही जाता है, इस तरहसे लोभ घटा (कम हुआ) और हिंसाका पाप भी परिमाणसे आगे न जानेके कारण वहॉ सम्बन्धी नही लगता है इसलिये परिमाण (मर्यादा) के बाहर महाव्रत समान हुआ ।

अब दूसरे गुणव्रत अनर्थदण्ड विरतिको कहते है—

कज्जं किंपि ण साहदि, णिच्चं पावं करेदि जो अत्थो ।
सो खलु हवे अणत्थो, पंचपयारो वि सो विविहो ॥३४३॥

अन्वयार्थः—[जो अत्थो कज्जं किंपि ण साहदि णिच्चं पावं करेदि] जो कार्य प्रयोजन तो अपना कुछ सिद्ध करता नही है और केवल पापहीको उत्पन्न करता है [सो खलु अणत्थो हवे] वह अनर्थ कहलाता है [सो पचपयारो विविहो वि] वह पांच प्रकारका है तथा अनेक प्रकारका भी है ।

भावार्थः—नि प्रयोजन पाप लगाना अनर्थदण्ड है वह पाँच प्रकारका कहा गया है । अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसाप्रदान, दु श्रुतश्रवणादि और अनेक प्रकारका भी है ।

अब पहिले भेदको कहते हैं—

परदोसाण वि गहणं, परलच्छीणं समीहणं जं च ।
परइत्थीअवलोओ, परकलहालोयणं पढमं ॥३४४॥

अन्वयार्थः—[परदोमाणं वि गहण] दूसरेके दोषोको ग्रहण करना [परलच्छी समीहणं जं च] दूसरेकी लक्ष्मो (धन सम्पदा) की वाछा करना [परइत्थीअवलोओ] दूसरेकी स्त्रीको रागसहित देखना [परकलहालोयणं] दूसरेकी कलहको देखना इत्यादि कार्योको करना [पढमं] सो पहिला अनर्थदण्ड है ।

भावार्थः—दूसरेके दोषोको ग्रहण करनेसे अपने भाव तो बिगडते हैं और अपना प्रयोजन कुछ सिद्ध होता नही है, दूसरेका बुरा होवे और अपनी दुष्टता सिद्ध होती है । दूसरेको सम्पदा देखकर आप उसकी इच्छा करे तो आपके कुछ आ नही जाती, बिना प्रयोजनके भाव ही बिगडते है । दूसरेको स्त्रीको रागसहित देखनेमें भी आप त्यागी होकर बिना प्रयोजन भाव क्यो बिगाड़े ? दूसरेकी कलह देखनेमे भी कुछ अपना कार्य सिद्ध नही होता किन्तु अपने पर भी कुछ आपत्ति आ पडनेकी सम्भावना बन सकती है ऐसे और भी काम जिनमे अपने भाव बिगड़ते हो वहाँ अपध्यान नामका पहिला अनर्थदण्ड होता है सो अणुव्रतोके भगका कारण है इसके छोडने पर व्रत दृढ़ रहते है ।

अब दूसरे पापोपदेश नामक अनर्थदण्डको कहते है—

जो उवएसो दिज्जइ, किसिपसुपालणवणिज्जपमुहेसु ।
पुरिसित्थीसंजोए, अणत्थदंडो हवे बिदिओ ॥३४५॥

अन्वयार्थः—[जो किसिपसुपालणवणिज्जपमुहेसु] खेती करना पशुओंका पालना वाणिज्य करना इत्यादि पापसहित कार्य तथा [पुरिसित्थीसंजोए] पुरुष स्त्रीका संयोग जैसे हो वैसे करने आदि कार्योंका [उवएसो दिज्जइ] दूसरोको उपदेश देना इनका विधान बताना जिनमें अपना प्रयोजन कुछ सिद्ध नही होता हो केवल पाप ही उत्पन्न होता हो [विदिओ अणत्थदडो हवे] सो दूसरा पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड है ।

भावार्थः—दूसरेको पापका उपदेश देनेमे अपने केवल पाप ही बँधता है इसलिये व्रतभग होता है इस कारण इसको छोड़नेसे व्रतोकी रक्षा होती है व्रतो पर गुण करता है उपकार करता है इसीलिये इसका नाम गुणव्रत है ।

अब तीसरे प्रमादचरित नामक अनर्थदण्डके भेदको कहते है—

विहलो जो वावारो, पुढवीतोयाण अग्गिवाऊणं ।
तह वि वणप्फदिछेदो, अणत्थदंडो हवे तिदिओ ॥३४६॥

अन्वयार्थः—[जो पुढवीतोयाण अग्गिवाऊणं विहलो वावारो] जो पृथ्वी जल अग्नि पवन इनके व्यापारमे विफल (बिना प्रयोजन) प्रवृत्ति करना [तह वि वणप्फदिछेदो] तथा बिना प्रयोजन वनस्पति (हरितकाय) का छेदन भेदन करना [तिदिओ अणत्थदंडो हवे] सो तीसरा प्रमादचरित नामक अनर्थदण्ड है ।

भावार्थः—जो प्रमादके वश होकर पृथ्वी जल अग्नि पवन हरितकायकी बिना प्रयोजन विराधना करता है वहाँ त्रस स्थावरोका घात ही होता है, अपना कार्य कुछ सिद्ध नही होता है इसलिये इसके करनेसे व्रत भग होता है और छोड़ने पर व्रतकी रक्षा होती है ।

अब चौथे हिसादान नामक अनर्थदण्डको कहते है—

मज्जारपहुदिधरणं, आयुहलोहादिविक्कणं जं च ।
लक्खाखलादिगहणं, अणत्थदंडो हवे तुरिओ ॥३४७॥

अन्वयार्थः—[मज्जारपहुदिधरण] जो बिलाव आदि हिसक जीवोका पालना [आयुहलोहादिविक्कणं ज च] लोहेका तथा लोहे आदिके आयुधोका व्यापार करना देना लेना [लक्खाखलादिगहण] लाख खल आदि शब्दसे विप वस्तु आदिका देना लेना व्यापार करना [तुरिओ अणत्थदडो हवे] चौथा हिसादान नामक अनर्थदण्ड है ।

भावार्थः—हिंसक जीवोका पालन तो निःप्रयोजन और पाप प्रसिद्ध ही है। बहुत हिंसाके कारण शस्त्र लोह लाख आदिका व्यापार करना देना लेना करनेमे भी फल अल्प और पाप बहुत है। इसलिये अनर्थदण्ड ही है इसमे प्रवृत्ति करनेसे व्रतभग होता है, छोड़ने पर व्रतकी रक्षा होती है।

अब दु.श्रुति नामक पाँचवे अनर्थदण्डको कहते है—

जं सवणं सत्थाणं, भंडणवसियरणकामसत्थाणं।
परदोसाणं च तहा, अणत्थदंडो हवे चरमो ॥३४८॥

अन्वयार्थः—[ज सत्थाणं भंडणवसियरणकामसत्थाणं सवण] जो सर्वथा एकान्तमतवालोके बनाये हुए कुशास्त्र तथा भाडक्रिया हास्य कौतूहलके कथनके शास्त्र, वशीकरण मंत्र प्रयोगके शास्त्र तथा स्त्रियोकी चेष्टाके वर्णनरूप कामशास्त्र आदिका सुनना सुनाना पढना पढाना [परदोसाणं च तहा] दूसरेके दोषोको कथा करना सुनना [चरमो अणत्थदंडो हवे] दु श्रुतिश्रवण नामक अन्तिम पाँचवाँ अनर्थदण्ड है।

भावार्थः—खोटे शास्त्र सुनने सुनाने पढ़ने बनानेसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नही होता है, केवल पापही होता है और आजीविका निमित्त भी इनका व्यापार करना श्रावकको योग्य नही है। व्यापार आदिकी योग्य आजीविका ही श्रेष्ठ है। जिससे व्रतभग होता हो सो क्यो करे ? व्रतकी रक्षा करना ही उचित है।

अब इस अनर्थदण्डके कथनका सकोच करते है—

एवं पंचपयारं, अणत्थदंडं दुहावहं णिच्चं।
जो परिहरेदि णाणी, गुणव्वदी सो हवे बिदिओ ॥३४९॥

अन्वयार्थः—[जो णाणी] जो ज्ञानी श्रावक [एव पचपयारं अणत्थदड दुहावहं णिच्चं परिहरेदि] इसप्रकार पाँच प्रकारके अनर्थदण्डको निरन्तर दु खोका उत्पन्न करनेवाला जानकर छोडता है [सो बिदिओ गुणव्वदी हवे] वह दूसरे गुणव्रतका धारक श्रावक होता है।

भावार्थः—यह अनर्थदण्डत्याग नामक गुणव्रत अणुव्रतोका बड़ा उपकारी है इसलिये श्रावकोको अवश्य पालन करना योग्य है।

अब भोगोपभोग नामक तीसरे गुणव्रतको कहते है—

जाणित्ता संपत्ती, भोयणतंबोलवत्थमादिणं ।
जं परिमाणं कीरदि, भोउवभोयं वयं तस्स ॥३५०॥

अन्वयार्थः—[संपत्ती जाणित्ता] जो अपनी सम्पदा सामर्थ्य जानकर [भोयणतंबोलवत्थमादिणं] भोजन ताम्बूल वस्त्र आदिका [जं परिमाणं कीरदि] परिमाण (मर्यादा) करता है [तस्स भोउवभोयं वयं] उस श्रावकके भोगोपभोग नामक गुणव्रत होता है ।

भावार्थः—भोजन ताम्बूल आदि एक बार भोगने योग्य पदार्थोको भोग कहते है और वस्त्र आभूषण आदि बारबार भोगने योग्य पदार्थोको उपभोग कहते है । इनका परिमाण यमरूप (यावज्जीवन) भी होता है और नित्य नियमरूप भी होता है सो यथाशक्ति अपनी सामग्रीका विचार कर यमरूप कर लेवे तथा नियमरूप भी जो कहे है उनका नित्य प्रयोजनके अनुसार नियम कर लिया करे । यह अणुव्रतका बड़ा उपकारी है ।

अब भोगोपभोगकी उपस्थित वस्तुको छोडता है उसकी प्रशसा करते है—

जो परिहरेइ संतं, तस्स वयं थुव्वदे सुरिंदो वि ।
जो मणलड्डु व भक्खदि, तस्स वयं अप्पसिद्धियरं ॥३५१॥

अन्वयार्थः—[जो संतं परिहरेइ] जो पुरुष, होती हुई वस्तुको छोडता है [तस्स वयं सुरिंदो वि थुव्वदे] उसके व्रतकी सुरेन्द्र भी प्रशसा करता है [जो मणलड्डु व भक्खदि तस्स वयं अप्पसिद्धियरं] और अनुपस्थित वस्तुका छोड़ना तो ऐसा है जैसे लड्डू तो हो नही और सकलपमात्र मनमें लड्डूकी कल्पना कर लड्डू खावे वैसा है । इसलिये अनुपस्थित वस्तुको तो संकल्प मात्र छोड़ना है, इस प्रकारसे छोड़ना व्रत तो है परन्तु अलपसिद्धि करनेवाला है, उसका फल थोड़ा है ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि भोगोपभोग परिमाणको तीसरा गुणव्रत कहा है परन्तु तत्वार्थसूत्रमे तो तीसरा गुणव्रत देशव्रतको कहा है, भोगोपभोग परिमाणको तीसरा शिक्षाव्रत कहा है सो यह कैसे ?

समाधान—यह आचार्योकी विवक्षाकी विचित्रता है। स्वामी समन्तभद्र आचार्यने भी रत्नकरण्डश्रावकाचारमे यहाके अनुसार ही कहा है इसलिये इसमे विरोध नही है। यहाँ तो अणुव्रतके उपकारीकी अपेक्षा ली है और वहाँ सचित्तादि भोग छोडनेकी अपेक्षा मुनिव्रतकी शिक्षा देनेकी अपेक्षा ली है, कुछ विरोध नही है। ऐसे तीन गुणव्रतोका वर्णन किया।

अब चार शिक्षाव्रतोका व्याख्यान करेगे। पहिले सामायिक शिक्षाव्रतको कहते है—

सामाइयस्स करणं, खेत्तं कालं च आसणं विलओ।
मणवयणकायसुद्धी, णायव्वा हुंति सत्तेव ॥३५२॥

अन्वयार्थः—[सामाइयस्स करणं] प्रथम ही सामायिकके करनेमे [खेत्तं कालं च आसणं विलओ] क्षेत्र काल आसन और लय [मणवयणकायसुद्धी] मनवचनकायकी शुद्धता [सत्तेव णायव्वा हुंति] ये सात सामग्री जानने योग्य है।

अब सामायिकके क्षेत्रको कहते है—

जत्थ ण कलयलसद्दो, बहुजणसंघट्टणं ण जत्थत्थि।
जत्थ ण दंसादीया, एस पसत्थो हवे देसो ॥३५३॥

अन्वयार्थः—[जत्थ ण कलयलसद्दो] जहाँ कलकलाट (कोलाहल) शब्द नही हो [बहुजणसंघट्टणं ण जत्थत्थि] जहाँ बहुत लोगोके संघट्ट (समूह) का आना जाना न हो [जत्थ ण दंसादीया] जहाँ डाँस मच्छर चिउंटी आदि शरीरको बाधा पहुँचानेवाले जीव न हो [एस पसत्थो हवे देसो] ऐसा क्षेत्र सामायिक करनेके योग्य है।

भावार्थः—जहाँ चित्तको कोई क्षोभ उत्पन्न करानेके कारण न हो वहाँ सामायिक करना चाहिये।

अब सामायिकके कालको कहते हैं—

पुव्वण्हे, मज्झण्हे, अवरण्हे तिहि वि णालिया छक्को।
सामाइयस्स कालो, सविणयणिस्सेस-णिद्दिट्ठो ॥३५४॥

अन्वयार्थः—[पुव्वण्हे मज्झण्हे] सबेरे दोपहर [अवरण्हे तिहि वि णालियाछक्को] और शामको इन तीनो कालोमे छह छह घड़ीका काल [सामाइयस्स कालो] सामायिकका काल है [सविणयणिस्सेसणिद्दिट्ठो] यह विनय सहित गणधरदेवोने कहा है ।

भावार्थः—सूर्योदयके तीन घड़ी पहिलेसे तीन घड़ी बाद तक छह घड़ी पूर्वाह्लकाल है । दोपहर (बारह बजे) के तीन घडी पहिलेसे तीन घड़ी बाद तक छह घडी मध्याह्न काल है । सूर्यास्तके तीन घडी पहिलेसे तीन घड़ी बाद तक छह घडी अपराह्लकाल है । यह सामायिकका काल उत्कृष्ट काल है । मध्यम चार घड़ी और जघन्य दो घडीका काल कहा गया है । एक घड़ी चौबीस मिनिट की होती है ।

अब आसन तथा लय और मनवचनकायको शुद्धताको कहते है—

बंधित्ता पज्जंकं, अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा ।
कालपमाणं किच्चा, इंदियवावारवज्जिदो होउं ॥३५५॥
जिणवयणेयग्गमणो, संवुडकाओ य अंजलिं किच्चा ।
ससरूवे संलीणो, वंदणअत्थं विचिंततो ॥३५६॥
किच्चा देसपमाणं, सव्वं सावज्जवज्जिदो होउं ।
जो कुव्वदि सामइयं सो मुणिसरिसो हवे ताव ॥३५७॥

अन्वयार्थः—[जो पज्जंकं बधित्ता] जो पर्यक आसन बाँधकर [अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा] अथवा खड्गासनसे स्थित होकर (खड़े होकर) [कालपमाणं किच्चा] कालका प्रमाण कर [इंदियवावारवज्जिदो होउं] इन्द्रियोका व्यापार विषयोमें न होनेके लिये [जिणवयणेयग्गमणो] जिन वचनमे एकाग्र मन कर [संपुडकाओ य अंजलिं किच्चा] कायको सकोचकर हाथोसे अजुलि बनाकर [ससरूवे संलीणो] अपने स्वरूपमें लीन होकर [वदणअत्थं विचिंतंतो] अथवा सामायिकके वन्दनाके पाठके अर्थका चितवन करता हुआ प्रवृत्ति करता है [देसपमाण किच्चा] क्षेत्रका परिमाण कर [सव्वं सावज्जवज्जिदो होउं] सर्व सावद्ययोग (गृह व्यापारादि पापयोग) का त्यागकर सर्व पापयोगसे रहित होकर [सामइयं कुव्वदि] सामायिक करता है [सो ताव मुणिसरिसो हवे] वह श्रावक उससमय मुनिके समान है ।

भावार्थः—यह शिक्षाव्रत है, यह इस अर्थको सूचिन करता है कि सामा
सब रागद्वेषसे रहित हो, सब बाह्यकी पापयोग क्रियाओसे रहित हो अपने आत्मस्व
लीन हुआ मुनि प्रवर्त्त रहा है, यह सामायिक चारित्र मुनिका धर्म है। यह ही
श्रावकको दी जाती है कि सामायिक कालको मर्यादा कर उस कालमे मुनिकी
प्रवर्तता है क्योकि मुनि होने पर इसी तरह सदा रहना होगा, इसी अपेक्षासे उस
मुनिके समान श्रावकको कहा है।

अब दूसरे शिक्षाव्रत प्रोषधोपवासको कहते है—

ण्हाणविलेवणभूसण,-इत्थीसंसग्गगंधधूपदीवादि ।
जो परिहरेदि णाणी, वेरग्गाभरणभूसणं किच्चा ॥३५८॥
दोसु वि पव्वेसु सया, उववासं एयभत्त णिव्वियडी ।
जो कुणइ एवमाई, तस्स वयं पोसहं बिदियं ॥३५९॥

अन्वयार्थः—[जो णाणी] जो ज्ञानी श्रावक [दोसु वि पव्वेसु सया]
पक्षमें दो पर्व अष्टमी चतुर्दशीके दिन [ण्हाणविलेवणभूसणइत्थीससग्गगंधधूपदी
परिहरेदि] स्नान, विलेपन, आभूषण, स्त्रीका ससर्ग, सुगन्ध, धूप, दीप आदि भोगोप
वस्तुओको छोड़ता है [वेरग्गाभरणभूसण किचा] और वैराग्य भावनाके आभर
आत्माको शोभायमान कर [उववास एयभत्त णिव्वियडी जो एवमाई कुणइ] उपव
एक वक्त, नीरस आहार करता है तथा आदि शब्दसे काजी करता है (केवल
और जल ही ग्रहण करता है [तस्स पोसहं वय बिदियं] उसके प्रोषधोपवासव्रत ना
शिक्षाव्रत होता है।

भावार्थः—जैसे सामायिक करनेको कालका नियम कर सब पापयोगोंसे नि
हो एकान्त स्थानमे धर्मध्यान करता हुआ बैठता है वैसे ही सब गृहकार्यका त्याग क
समस्त भोग उपभोग सामग्रीको छोडकर सप्तमी तेरसके दोपहर दिनके बाद एका
स्थानमे वैठे, धर्मध्यान करता हुआ सोलह पहर तक मुनिकी तरह रहे, नौ
पूर्णमासीको दोपहरमे प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर गृहकार्यमे लगे उसके प्रोषधव्रत होता है
अष्टमी चतुर्दशीके दिन उपवासकी सामर्थ्य न हो तो एक बार भोजन करे, नीर
भोजन काजी आदि अल्प आहार करले, समय धर्मध्यानमे बितावे, सोलह पहर अ

प्रोषध प्रतिमामें कहेंगे वैसे ही करे परन्तु यहाँ गाथामें न कही इसलिये सोलह पहरका नियम नही है । यह भी मुनिव्रतकी शिक्षा ही है ।

अब अतिथिसंविभाग नामक तीसरे शिक्षाव्रतको कहते है—

तिविहे पत्तम्मि सया, सद्धाइगुणेहिं संजुदो णाणी ।
दाणं जो देदि सयं, णवदाणविहीहिं संजुत्तो ॥३६०॥
सिक्खावयं च तदियं, तस्स हवे सव्वसोक्खसिद्धियरं ।
दाणं चउव्विहं पि य, सव्वे दाणाण सारयरं ॥३६१॥

अन्वयार्थः—[जो णाणी] जो ज्ञानी श्रावक [तिविहे पत्तम्मि सया सद्धाइगुणेहिं सजुदो] उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन प्रकारके पात्रोके लिए दाताके श्रद्धा आदि गुणोसे युक्त होकर [णवदाणविहीहिं संजुत्तो सयं दाणं देदि] नवधाभक्तिसे संयुक्त होता हुआ नित्यप्रति अपने हाथसे दान देता है [तस्स तदियं सिक्खावयं हवे] उस श्रावकके तीसरा शिक्षाव्रत होता है । वह दान कैसा है ? [दाणं चउव्विहं पि य] आहार, अभय, औषध, शास्त्रदानके भेदसे चार प्रकारका है [सव्वे दाणाण सारयरं] अन्य लौकिक धनादिकके दानोमे अतिशयरूपसे सार है, उत्तम है [सव्वसोक्खसिद्धियरं] सब सिद्धि और सुखको करनेवाला है ।

भावार्थः—तीन प्रकारके पात्रोंमें उत्कृष्ट तो मुनि, मध्यम अणुव्रती श्रावक, जघन्य अविरत सम्यग्दृष्टि है । दाताके सात गुण श्रद्धा तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा, शक्ति ये सात है तथा अन्य प्रकार भी कहे गये है जैसे—इस लोकके फलकी वांछा न करे, क्षमावान् हो, कपट रहित हो, अन्यदातासे ईर्षा न करे, दिए हुए का विषाद न करे, देकर हर्ष करे, गर्व न करे इस तरह भी सात कहे गये हैं । प्रतिग्रह, उच्च स्थान, पादप्रक्षालन, पूजा करना, प्रमाण करना, मनकी शुद्धता, वचनकी शुद्धता, कायकी शुद्धता, आहारकी शुद्धता ये नवधाभक्ति हैं । ऐसे दाताके गुण सहित पात्रको नवधाभक्तिसे नित्य चार प्रकारका दान देता है उसके तीसरा शिक्षाव्रत होता है । यह भी मुनित्वकी शिक्षाके लिये है कि देना सीखे क्योंकि वैसे ही अपनेको मुनि होने पर लेना होगा ।

अब आहार आदि दानोंका माहात्म्य कहते है—

भोयणदाणेण सोक्खं, ओसहदाणेण सत्थदाणं च ।
जीवाण अभयदाणं, सुदुल्लहं सव्वदाणेसु ॥३६२॥

अन्वयार्थः—[भोयणदाणेण सोक्खं] भोजनदानसे सबको सुख होता है [ओसहदाणेण सत्थदाणं च] औषधदान सहित शास्त्रदान [जीवाण अभयदाणं] और जीवोको अभयदान [सव्वदाणेसु सुदुल्लहं] सब दानोमे दुर्लभ है, उत्तम दान है ।

भावार्थः—यहाँ अभयदानको सबसे श्रेष्ठ कहा है ।

अब आहारदानको प्रधान करके कहते है—

भोयणदाणे दिण्णे, तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि ।
भुक्खतिसाएवाही, दिणे दिणे होंति देहीणं ॥३६३॥
भोयणबलेण साहू, सत्थं संवेदि रत्तिदिवसं पि ।
भोयणदाणे दिण्णे, पाणा वि य रक्खिया होंति ॥३६४॥

अन्वयार्थः—[भोयणदाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि] भोजन दान देने पर तीनो ही दान दिये हुए हो जाते है [भुक्खतिसाएवाही देहीणं दिणे दिणे होंति] क्योंकि भूख प्यास नामके रोग प्राणियोके दिन प्रतिदिन होते है [भोयणबलेण साहू रत्तिदिवसं पि सत्थं संवेदि] भोजनके बलसे साधु रात दिन शास्त्रका अभ्यास करता है [भोयणदाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति] भोजनके देनेसे प्राणोकी भी रक्षा होती है । इस तरह भोजनदानमे औषध शास्त्र अभयदान ये तीनो ही दिये हुए जानना चाहिये ।

भावार्थः—भूख तृषा (प्यास) रोग मिटानेसें तो आहारदान ही औषधदान हुआ । आहारके बलसे शास्त्राभ्यास सुखसे होनेके कारण ज्ञानदान भी यही हुआ । आहार ही से प्राणोकी रक्षा होती है इसलिये यही अभयदान हुआ । इस तरह इस दानमें तीनो ही गर्भित हो गये ।

अब दानके माहात्म्य ही को फिर कहते हैं—

इहपरलोयणिरीहो, दाणं जो देदि परमभत्तीए ।
रयणत्तये सुठविदो, संघो सयलो हवे तेण ॥३६५॥
उत्तमपत्तविसेसे, उत्तमभत्तीए उत्तमं दाणं ।
एयदिणे वि य दिण्णं, इंदसुहं उत्तमं देदि ॥३६६॥

अन्वयार्थः—[जो इहपरलोयणिरीहो परमभत्तीए दाणं देदि] जो पुरुष (श्रावक) इस लोक परलोकके फलकी वाछासे रहित होकर परम भक्तिसे सघके लिये दान देता है [तेण सयलो संघो रयणत्तये सुठविदो हवे] उस पुरुषके सकल सघको रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) मे स्थापित किया [उत्तमपत्तविसेसे उत्तमभत्तीए उत्तमं दाणं] उत्तम पात्र विशेषके लिये उत्तम भक्तिसे उत्तम दान [एयदिणे वि य दिण्णं इंदसुहं उत्तमं देदि] एक दिन भी दिया हुआ उत्तम इन्द्रपदके सुखको देता है ।

भावार्थः—दानके देनेसे चतुर्विध सघकी स्थिरता होती है इसलिये दानके देनेवालेने मोक्षमार्ग ही चलाया ऐसा कहना चाहिए । उतम ही पात्र, उत्तम ही दाताकी भक्ति और उत्तम ही दान, सब ऐसी विधि मिले तो उसका उत्तमही फल होता है । इन्द्रादि पदका सुख मिलता है ।

अब चौथे देशावकाशिक शिक्षाव्रतको कहते है—

पुव्वपमाणकदाणं, सव्वदिसीणं पुणो वि संवरणं ।
इंदियविसयाण तहा, पुणो वि जो कुणदि संवरणं ॥३६७॥
वासादिकयपमाणं, दिणे दिणे लोहकामसमणट्ठं ।
सावज्जवज्जणट्ठं, तस्स चउत्थं वयं होदि ॥३६८॥

अन्वयार्थः—[पुव्वपमाणकदाणं सव्वदिसीणं पुणो वि संवरणं] श्रावकने जो पहिले सब दिशाओंका परिमाण किया था उसका और भी संवरण करे (सकोच करे) [इंदियविसयाण तहा पुणो वि जो संवरणं कुणदि] और वैसे ही पहिले इन्द्रियोके विषयोका परिमाण भोगोपभोग परिमाणमे किया था उसका और सकोच करे । किस तरह ? सो कहते हैं—[वासादिकयपमाणं दिणे दिणे लोहकामसमणट्ठं] वर्ष आदि

तथा दिन दिन प्रति कालकी मर्यादा लेकर करे, इसका प्रयोजन यह है कि अन्तरगमें तो लोभ कषाय और काम (इच्छा) के शमन करने (घटाने) के लिये [सावज्ज-वज्जणट्ठ तस्स चउत्थं वय होदि] तथा बाह्यमें पाप हिसादिकके वर्जने (रोकने) लिये करता है उस श्रावकके चौथा देशावकाशिक नामका शिक्षाव्रत होता है ।

भावार्थः—पहिले दिग्व्रतमे मर्यादा की थी वह तो नियमरूप थी । अब यहाँ उसमें भी कालकी मर्यादा लेकर घर हाट (बाजार) गाँव आदि तककी गमनागमनकी मर्यादा करे तथा भोगोपभोगव्रतमें यमरूप इन्द्रियविषयोकी मर्यादा की थी उसमे भी कालकी मर्यादा लेकर नियम करे । इस व्रतमे सत्रह नियम कहे गये है उनका पालन करना चाहिये । प्रतिदिन मर्यादा करते रहना चाहिये । इससे लोभका तथा तृष्णा (वाछा) का संकोच होता है बाह्यमे हिसादि पापोकी हानि होती है । ऐसे चार शिक्षाव्रतोका वर्णन किया । ये चारो ही श्रावकको अणुव्रत यत्नसे पालनेकी तथा महाव्रतके पालनेकी शिक्षारूप हैं ।

अब अतसल्लेखनाको सक्षेपसे कहते है—

वारसवएहिं जुत्तो, जो संलेहणं करेदि उवसंतो ।
सो सुरसोक्खं पाविय, कमेण सोक्खं परं लहदि ॥३६६॥

अन्वयार्थः—[जो] जो श्रावक [वारसवएहिं जुत्तो] बारह व्रत सहित [उवसतो संलेहणं करेदि] अन्त समयमे उपशम भावोसे युक्त होकर सल्लेखना करता है [सो सुरसोक्ख पाविय] वह स्वर्गके सुख पाकर [कमेण परं सोक्ख लहदि] अनुक्रमसे उत्कृष्ट सुख (मोक्ष) को पाता है ।

भावार्थः—सल्लेखना नाम कषायोको और कायको क्षीण करनेका है । श्रावक बारह व्रतोका पालन करे और मरणका समय जाने तब सावधान हो सब वस्तुओसे ममत्व छोड कषायोको क्षीण कर उपशमभाव (मन्द कषाय) रूप होकर रहे और कायको अनुक्रमसे ऊनोदर नीरस आदि तपोसे क्षीण करे । इस तरह कायको क्षीण करनेसे शरीरमे मलमूत्रके निमित्तसे जो रोग होते हैं वे रोग उत्पन्न नही होते है । अन्त समय असावधान नही होता है । ऐसे सल्लेखना करे, अन्त समय सावधान हो अपने स्वरूपमे तथा अरहन्त सिद्ध परमेष्ठीके स्वरूपके चितवनमे लीन हो और व्रतरूप

(संवररूप) परिणाम सहित होता हुआ पर्यायको छोडता है तो स्वर्गके सुखोंको पाता है, वहाँ भी यह वांछा रहती है कि मनुष्य होकर व्रतोका पालन करूं । इस तरह अनुक्रमसे मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है ।

एक्कं पि वयं विमलं, सद्दिट्ठी जइ कुणेदि दिढचित्तो ।
तो विविहरिद्धिजुत्तं, इंदत्तं पावए णियमा ॥३७०॥

अन्वयार्थः—[सद्दिट्ठी] सम्यग्दृष्टि जीव [दिढचित्तो] दृढचित्त होकर [जइ] यदि [एक्कं पि वयं विमलं कुणेदि] एक भी व्रतका अतिचाररहित निर्मल पालन करता है [तो विविहरिद्धिजुत्तं इंदत्तं णियमा पावए] तो अनेक प्रकारकी ऋद्धियो सहित इन्द्रपदको नियमसे पाता है ।

भावार्थः—यहाँ एक भी व्रत अतिचाररहित पालन करनेका फल इन्द्रपद नियमसे कहा है । सो ऐसा आशय सूचित होता है कि व्रतोके पालनेके परिणाम सबके समानजातिके है । जहाँ एक व्रतको दृढचित्तसे पालता है वहाँ अन्य उसके समान-जातीय व्रत पालनेके लिये अविनाभावीपना है इसलिये सबही व्रत पाले हुए कहलाते है । ऐसा भी है कि एक आखडी (त्याग) को अन्तसमय दृढचित्तसे पकड़ उसमे लीन परिणाम होते हुए पर्याय छूटती है तो उस समय अन्य उपयोगके अभावसे बड़े धर्मध्यान सहित परगतिको गमन होता है तब उच्चगति ही पाता है, यह नियम है । ऐसे आशय से एक व्रतका ऐसा माहात्म्य कहा है । यहाँ ऐसा नही जानना चाहिये कि 'एक व्रतका तो पालन करे और अन्य पाप सेवन किया करे, उसका भी ऊँचा फल होता है' इस तरह तो चोरी छोड दे और परस्त्री सेवन किया करे, हिंसादिक करता रहे उसका भी उच्चफल हो, सो ऐसा नही है । इस तरह दूसरी व्रत प्रतिमाका वर्णन किया । बारह भेदोकी अपेक्षा यह तीसरा भेद हुआ ।

अब तीसरी सामायिक प्रतिमाका निरूपण करते हैं—

जो कुणदि काउसग्गं, बारसआवत्तसंजदो धीरो ।
णमणदुगं पि कुणंतो, चदुप्पणामो पसण्णप्पा ॥३७१॥
चिंततो ससरूवं, जिणबिंबं अहव अक्खरं परमं ।
ज्झायदि कम्मविवायं, तस्स वयं होदि सामइयं ॥३७२॥

अन्वयार्थः—[जो] जो सम्यग्दृष्टि श्रावक [बारसआवत्तसजदो] बारह आवर्त्त सहित [चदुप्पणामो] चार प्रणाम सहित [णमणमदुगं पि कुणंतो] दो नमस्कार करता हुआ [पसण्णप्पा] प्रसन्न है आत्मा जिसकी [धीरो] धीर (दृढचित्त) होकर [काउसग्गं कुणदि] कायोत्सर्ग करता है [ससरूवं चिंतंतो] उससमय अपने चैतन्यमात्र शुद्ध स्वरूपका ध्यान चितवन करता हुआ रहे [जिणबिंबं अहव अक्खरं परमं] अथवा जिनबिंबका चितवन करता रहे अथवा परमेष्ठीके वाचक पच नमस्कार मन्त्रका चितवन करता रहे [कम्मविपायं ज्झायदि] अथवा कर्मके उदयके रसकी जातिका चितवन करता रहे [तस्स सामइयं वयं होदि] उसके सामायिक व्रत होता है ।

भावार्थः—सामायिकका वर्णन तो पहिले शिक्षाव्रतमे किया था कि 'राग द्वेष छोड समभाव सहित क्षेत्र काल आसन ध्यान मन वचन कायकी शुद्धतासे कालकी मर्यादा कर एकान्त स्थानमे बैठे और सर्व सावद्ययोगका त्याग कर धर्मध्यानरूप प्रवर्ते' ऐसा कहा था । यहा विशेष कहा कि कायसे ममत्व छोड कायोत्सर्ग करे, आदि अतमे दो नमस्कार करे और चारो दिशाओमे सन्मुख होकर चार शिरोनति करे, एक एक शिरोनतिमे मन वचन कायकी शुद्धताकी सूचनारूप तीन तीन आवर्त्त करे (इस तरह बारह आवर्त्त हुए) ऐसे कर कायसे ममत्व छोड निजस्वरूपमे लीन हो जिनप्रतिमामे उपयोग लीन करे, पंच परमेष्ठीके वाचक अक्षरोका ध्यान करे, यदि उपयोग किसी बाधाकी तरफ जाय तो उससमय कर्मके उदयकी जातिका चितवन करे कि यह साता वेदनीयका फल है, यह असाताके उदयकी जाति है, यह अन्तरायके उदयकी जाति है इत्यादि कर्मके उदयका चितवन करे यह विशेष कहा है । इतना विशेष जानना चाहिये कि शिक्षाव्रतमे तो मन वचन काय सम्बन्धी कोई अतिचार भी लगता है और कालकी मर्यादा आदि क्रियामे हीनाधिक भी होता है परन्तु यहाँ प्रतिमाकी प्रतिज्ञा है सो अतिचार रहित शुद्ध पालन करता है, उपसर्ग आदिके निमित्तसे टलता नही है ऐसा जानना चाहिये । इसके पाँच अतिचार है । मन वचन कायका चलायमान करना, अनादर करना, भूल जाना ये अतिचार नही लगाता है । ऐसे सामायिक प्रतिमाका बारह भेदकी अपेक्षा चौथे भेदका वर्णन हुआ ।

अब प्रोषधप्रतिमाका स्वरूप कहते है—

सत्तमितेरसिदिवसे, अवरण्हे जाइऊण जिणभवणे ।
किरियाकम्मं किच्चा, उववासं चउविह गहिय ॥३७३॥

गिहवावारं चत्ता, रत्तिं गमिऊण धम्मचिंताए ।
पच्चूसे उट्ठित्ता, किरियाकम्मं च कादूण ॥३७४॥
सत्थब्भासेण पुणो, दिवसं गमिऊण वंदणं किच्चा ।
रत्तिं णेदूण तहा, पच्चूहे वंदणं किच्चा ॥३७५॥
पुज्जणविहिं च किच्चा, पत्तं गहिऊण णवरि तिविहं पि ।
भुंजाविऊण पत्तं, भुंजंतो पोसहो होदि ॥३७६॥

अन्वयार्थः—[सत्तमितेरसिदिवसे अवरण्हे जिणभवणे जाइऊण] सप्तमी त्रयोदशीके दिन दोपहरके बाद जिन चैत्यालयमें जाकर [किरियाकम्मं किच्चा उववास चउविहं गहिय] अपराह्णके समय सामायिक आदि क्रिया कर्म कर चार प्रकारके आहारका त्याग कर उपवास ग्रहण करता है [गिहवावारं चत्ता धम्मचिंताए रत्तिं गमिऊण] घरके समस्त व्यापारको छोड़कर धर्मध्यानपूर्वक तेरस और सप्तमीकी रात्रि बिताता है [पच्चूहे उट्ठित्ता किरियाकम्मं च कादूण] सबेरे उठकर सामायिक आदि क्रिया कर्म करता है [सत्थब्भासेण पुणो दिवसं गमिऊण वंदणं किच्चा] अष्टमी चौदसका दिन शास्त्राभ्यास धर्मध्यानपूर्वक बिताकर अपराह्णके समय सामायिक आदि क्रिया कर्म कर [रत्तिं णेदूण तहा पच्चूसे वंदणं किच्चा] रात्रि वैसे ही धर्मध्यानपूर्वक बिताकर नौमी पूर्णमासीके सबेरेके समय सामायिक वन्दना कर [पुज्जणविहिं च किच्चा पत्तं गहिऊण णवरि तिविहं पि] पूजन विधान कर तीन प्रकारके पात्रोको पडगाह कर [भुंजाविऊण पत्तं भुंजंतो पोसहो होदि] उन पात्रोको भोजन कराकर आप भोजन करता है उसके प्रोषध होता है ।

भावार्थः—पहिले शिक्षाव्रतमें प्रोषधकी विधि कही थी सो यहाँ भी जानना चाहिये । गृहव्यापार भोग उपभोगकी सामग्री सबका त्याग कर एकान्तमें जा बैठे ओर सोलह पहर धर्मध्यानमें बितावे । यहाँ विशेष इतना जानना चाहिये कि वहाँ व्रतमें सोलह पहरके कालका नियम नही कहा था और अतिचार भी लगते थे परन्तु यहाँ प्रतिमाको प्रतिज्ञा है इसमें सोलह पहरका उपवास नियमपूर्वक अतिचार रहित करता है । इसके पाँच अतिचार है—जो वस्तु जिस स्थान पर रक्खी हो उसका उठाना, रखना तथा सोने बैठनेका संथारा करना (आसन आदि बिछाना) सो बिना देखे बिना

जाने बिना यत्नके करे इस तरह तीन अतिचार तो ये, तथा उपवासमें अनादर करना, प्रीति नही रखना और क्रिया कर्मको भूल जाना ये पाँच अतिचार नही लगाता है।

अब प्रोषधका माहात्म्य कहते है—

एक्कं पि णिरारंभं, उववासं जो करेदि उवसंतो।
बहुभवसंचियकम्मं, सो णाणी खवदि लीलाए ॥३७७॥

अन्वयार्थः—[जो] जो [णाणी] ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) [णिरारभं] आरम्भरहित [उवसंतो] उपशमभाव (मन्द कषाय) सहित होता हुआ [एक्कं पि उववासं करेदि] एक भी उपवास करता है [सो बहुभवसचियकम्मं लीलाए खवदि] वह अनेक भवोमें सचित किये (बाँधे) हुए कर्मोको लीलामात्रमे क्षय करता है।

भावार्थः—कषाय विषय आहारका त्याग कर, इस लोक परलोकके भोगोकी आशा छोड एक भी उपवास करता है वह बहुत कर्मोकी निर्जरा करता है तो जो प्रोषध प्रतिमा धारण करके पक्षमे दो उपवास करता है उसका क्या कहना ? स्वर्गसुख भोग कर मोक्षको पाता है।

अब आरम्भ आदिके त्याग बिना उपवास करता है उसके कर्मनिर्जरा नही होती है, ऐसा कहते है—

उववासं कुव्वंतो, आरंभं जो करेदि मोहादो।
सो णियदेहं सोसदि, ण झाडए कम्मलेसं पि ॥३७८॥

अन्वयार्थः—[जो उववास कुव्वतो] जो उपवास करता हुआ [मोहादो आरंभं करेदि] गृहकार्यके मोहसे घरका आरम्भ करता है [सो णियदेहं सोसदि] वह अपने देहको क्षीण करता है [कम्मलेस पि ण झाडए] कर्मनिर्जरा तो लेशमात्र भी उसके नही होती है।

भावार्थः—जो विषय कषाय छोड़े बिना, केवल आहार मात्र ही छोडता है घरके सब कार्य करता है वह पुरुष देहहीका केवल शोषण करता है उसके कर्मनिर्जरा लेशमात्र भी नहीं होती है।

अब सचित्तत्याग प्रतिमाको कहते हैं—

सच्चित्तं पत्तफलं, छल्लीमूलं च किसलयं बीयं ।
जो ण य भक्खदि णाणी, सचित्तविरदो हवे सो दु ॥३७९॥

अन्वयार्थः—[जो] जो [णाणी] ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) श्रावक [पत्तफलं छल्लीमूलं च किसलयं बीय सच्चित्तं] पत्र फल त्वक् छाल मूल कोपल और बीज इन सचित्त वस्तुओंको [ण य भक्खदि] नही खाता है [सो दु सचित्तविरदो हवे] वह सचित्तविरत श्रावक होता है ।

भावार्थः—जीवसहितको सचित्त कहते है । इसलिये जो पत्र फल छाल मूल बीज कोपल इत्यादि हरी वनस्पति सचित्तको नहीं खाता है वह सचित्तविरत प्रतिमाका धारक श्रावक होता है * ।

जो ण य भक्खेदि सयं, तस्स ण अण्णस्स जुज्जदे दाउं ।
भुत्तस्स भोजिदस्सहि, णत्थि विसेसो तदो को वि ॥३८०॥

अन्वयार्थः—[जो सयं ण य भक्खेदि] जिस वस्तुको आप नही खाता है [तस्स अण्णस्स दाउं ण जुज्जदे] उसको अन्यको देना योग्य नही है [भुत्तस्स भोजिदस्सहि] क्योंकि खानेवाले और खिलानेवालेमे [तदो को वि विसेसो णत्थि] कुछ विशेषता नही है ।

भावार्थः—कृत और कारितका फल समान है इसलिये जो वस्तु आप नही खाता है वह अन्यको भी नही खिलाता है तब सचित्त त्याग प्रतिमाका पालन होता है ।

---

* **सुक्कं पक्कं तत्तं, अंबिललवणेहि मिस्सियं दव्वं ।**
जं जंतेण य छिण्णं, तं सव्वं फासुयं भणियं ॥१॥

अन्वयार्थः—[सुक्कं पक्कं तत्तं] सूखा हुआ, पका हुआ, गरम किया हुआ [अंबिललवणेहि मिस्सिय दव्व] खटाई और नमकसे मिला हुआ [जं जंतेण य छिण्ण] तथा जो यन्त्रसे छिन्नभिन्न किया हुआ अर्थात् शोधा हुआ हो [तं सव्वं फासुय भणियं] ऐसा सब हरितकाय प्रासुक (जीवरहित-अचित्त) होता है ।

जो वज्जेदि सचित्तं, दुज्जय जीहा विणिज्जिया तेण ।
दयभावो होदि किओ, जिणवयणं पालियं तेण ॥३८१॥

अन्वयार्थः—[जो सचिरां वज्जेदि] जो श्रावक सचित्तका त्याग करता है [तेण दुज्जय जीहा विणिज्जिया] उसने दुर्जय जिह्वा इन्द्रियको भी जीत ली तथा [दयाभावो किओ होदि] दयाभाव प्रगट किया [तेण जिणवयणं पालियं] और उसीने जिनदेवके वचनोका पालन किया ।

भावार्थः—सचित्तके त्यागमे बड़े गुण है । जिह्वा इन्द्रियका जीतना होता है । प्राणियोकी दयाका पालन होता है । भगवानके वचनोका पालन होता है । क्योकि हरित कायादिक सचित्तमे भगवानने जीव कहे है सो आज्ञाका पालन हुआ । इसके अतिचार सचित्तसे मिली वस्तु तथा सचित्तसे सम्बन्धरूप इत्यादिक है । इन अतिचारोको नही लगावे तब शुद्ध त्याग होता है, तब ही प्रतिमाकी प्रतिज्ञाका पालन होता है । भोगोपभोग व्रतमें तथा देशावकाशिक व्रतमें भी सचित्तका त्याग कहा है परन्तु निरतिचार नियमरूप नही है । इस प्रतिमामे नियमरूप निरतिचार त्याग होता है । ऐसे सचित्त त्याग पाँचवी प्रतिमा और बारहभेदोमे छट्ठे भेदका वर्णन किया ।

अब रात्रिभोजनत्याग प्रतिमाको कहते है—

जो चउविहंपि भोज्जं, रयणीए णेव भुंजदे णाणी ।
ण य भुंजावइ अण्णं, णिसिविरओ सो हवे भोज्जो ॥३८२॥

अन्वयार्थः—[जो] जो [णाणी] ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) श्रावक [रयणीए] रात्रिमे [चउविहं पि भोज्जं] अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य चार प्रकारके आहारको [णेव भुंजदे] नही भोगता है—नही खाता है [अण्णं ण य भुंजावइ] दूसरेको भी भोजन नही कराता है [सो णिसिविरओ भोज्जो हवे] वह श्रावक रात्रिभोजनका त्यागी होता है ।

भावार्थः—रात्रिभोजनका तो मासके दोषकी अपेक्षा तथा रात्रिमे बहुत आरम्भसे त्रसघातकी अपेक्षा पहिली दूसरी प्रतिमामे ही त्याग कराया गया है परन्तु वहाँ कृत कारित अनुमोदना और मन वचन कायके कुछ दोष लग जाते हैं इसलिये शुद्ध त्याग नही है । यहाँ इस प्रतिमाकी प्रतिज्ञामे शुद्ध त्याग होता है । इसलिये प्रतिमा कही गई है ।

जो णिसिभुत्तिं वज्जदि, सो उववासं करेदि छम्मासं ।
संवच्छरस्स मज्झे, आरंभं मुयदि रयणीए ॥३८३॥

अन्वयार्थः—[जो णिसिभुत्तिं वज्जदि] जो पुरुष रात्रि भोजनको छोड़ता है [सो] वह [संवच्छरस्स मज्झे] एक वर्षमे [छम्मासं उववासं करेदि] छह महिनेका उपवास करता है [रयणीए आरंभं मुयदि] रात्रिभोजनका त्याग होनेके कारण भोजन सम्बन्धी आरम्भका भी त्याग करता है और व्यापार आदिकका भी आरम्भ छोड़ता है सो महा दयाका पालन करता है ।

भावार्थः—जो रात्रिभोजनका त्याग करता है वह बरस दिनमे छह महिनेका उपवास करता है । अन्य आरम्भका भी रात्रिमें त्याग करता है । अन्य ग्रन्थोमे इस प्रतिमामे दिनमे स्त्री सेवनका भी मनवचनकाय कृत–कारित अनुमोदनासे त्याग कहा है । ऐसे रात्रिभुक्तत्यागप्रतिमाका वर्णन किया । यह छट्ठी प्रतिमा बारह भेदोमें सातवाँ भेद हुआ ।

अब ब्रह्मचर्य प्रतिमाका निरूपण करते है—

सव्वेसिं इत्थीणं, जो अहिलासं ण कुव्वदे णाणी ।
मण वाया कायेण य, बंभवई सो हवे सदओ ॥३८४॥

अन्वयार्थः—[जो] जो [णाणी] ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) श्रावक [सव्वेसिं इत्थीणं अहिलास] सब ही चार प्रकारकी स्त्री देवागना, मनुष्यणी, तिर्यचणी, चित्रामकी इत्यादि स्त्रियोकी अभिलाषा [मण वाया कायेण य] मन वचन कायसे [ण कुव्वदे] नही करता है [सो सदओ बंभवई हवे] वह दयाका पालन करनेवाला ब्रह्मचर्य प्रतिमाका धारक होता है ।

भावार्थः—सब स्त्रियोका मनवचनकाय कृतकारितअनुमोदनासे सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य प्रतिमा है ।

अब आरम्भविरति प्रतिमाको कहते है—

जो आरंभं ण कुणदि, अण्णं कारयदि णेय अणुमण्णे ।
हिंसासंतट्ठमणो, चत्तारंभो हवे सो हु ॥३८५॥

अन्वयार्थः—[जो आरंभं ण कुणदि] जो श्रावक गृहकार्यसम्बन्धी कुछ भी आरम्भ नही करता है [अण्ण कारयदि णेय अणुमण्णे] दूसरेसे भी नही कराता है, करते हुएको अच्छा भी नही मानता है [हिंसासतट्ठमणो] हिंसासे भयभीत मनवाला [सो हु चत्तारंभो हवे] वह निश्चयसे आरम्भका त्यागी होता है ।

भावार्थः—जो गृहकार्यके आरम्भका मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करता है वह आरम्भ त्यागप्रतिमाधारक श्रावक होता है । यह प्रतिमा आठवी है और बारह भेदोमें नवमाँ भेद है ।

अब परिग्रहत्याग प्रतिमाको कहते है—

जो परिवज्जइ गंथं, अब्भंतर बाहिरं च साणंदो ।
पावं ति मरणमाणो, णिग्गंथो सो हवे णाणी ॥३८६॥

अन्वयार्थः—[जो] जो [णाणी] ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) श्रावक [अब्भंतर बाहिरं च गंथं] अभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकारके परिग्रहको [पावं ति मण्णमाणो] पापका कारण मानता हुआ [साणंदो] आनन्द सहित [परिवज्जइ] छोड़ता है [सो णिग्गंथो हवे] वह परिग्रहका त्यागी श्रावक होता है ।

भावार्थः—अभ्यन्तर परिग्रहमें मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण कषाय तो पहिले ही छूट चुके हैं । अब प्रत्याख्यानावरण और उसहोके साथ लगे हुए हास्यादिक और वेदोको घटाता है और बाह्यके धनधान्य आदि सबका त्याग करता है । परिग्रहके त्यागमे बड़ा आनन्द मानता है क्योकि जिनको सच्चा वैराग्य हो जाता है उनको परिग्रह पापरूप और बड़ी आपत्तिरूप दिखाई देता है इसलिये त्याग करनेमे बड़ा सुख मानते है ।

बाहिरगंथविहीणा, दलिद्दमणुआ सहावदो होंति ।
अब्भतरगंथंपुण, ण सक्कदे को वि छंडेदुं ॥३८७॥

अन्वयार्थः—[बाहिरगंथविहीणा दलिद्दमणुआ सहावदो होंति] बाह्य परिग्रहसे रहित तो दरिद्री मनुष्य स्वभाव ही से होते है, इसके त्यागमे आश्चर्य नही है [अब्भतरगंथ पुण ण सक्कदे को वि छंडेदुं] अभ्यन्तर परिग्रहको कोई भी छोड़नेमे समर्थ नही होता है ।

भावार्थः—जो अभ्यन्तर परिग्रहको छोड़ता है उसकी महिमा है । अभ्यन्तर परिग्रह सामान्यरूपसे ममत्व परिणाम है इसलिये जो इसका त्याग करता है वही परिग्रह त्यागी कहलाता है । इस तरह परिग्रहत्याग प्रतिमाका स्वरूप कहा । प्रतिमा नवमी है बारह भेदोंमें दशवां भेद है ।

अब अनुमोदनविरति प्रतिमाको कहते है—

जो अणुमणणं ण कुणदि, गिहत्थकज्जेसु पावमूलेसु ।
भवियव्वं भावंतो, अणुमणविरओ हवे सो दु ॥३८८॥

अन्वयार्थः—[जो] जो श्रावक [पावमूलेसु] पापके मूल [गिहत्थकज्जेसु] गृहस्थके कार्योंमें [भवियव्वं भावंतो] 'जो भवितव्य है सो होता है' ऐसी भावना करता हुआ [अणुमणणं ण कुणदि] अनुमोदना नही करता है [सो दु अणुमणविरओ हवे] वह अनुमोदनविरति प्रतिमाधारी श्रावक है ।

भावार्थः—गृहस्थके कार्य, आहारके निमित्त आरम्भादिककी भी अनुमोदना नहीं करता है । उदासीन होकर घरमें या बाहर चैत्यालय मठ मडपमे रहता है । भोजनके लिये घरवाला वा अन्य कोई श्रावक जो बुलाता है उसके भोजन कर आता है । ऐसा भी नही कहता है कि मेरे लिए अमुक पदार्थ तैयार करना । जो कुछ गृहस्थ जिमाता है (खिलाता है) वही जीम आता है सो दशमी प्रतिमाका धारी श्रावक होता है ।

जो पुण चिंतदि कज्जं, सुहासुहं रायदोससंजुत्तो ।
उवओगेण विहीणं, स कुणदि पावं विणा कज्जं ॥३८९॥

अन्वयार्थः—[जो पुण] जो [उवओगेण विहीणं] बिना प्रयोजन [रायदोससंजुत्तो] रागद्वेष संयुक्त हो [सुहासुहं कज्ज चिंतदि] शुभ अशुभ कार्यका चिन्तवन करता है [स विणा कज्जं पावं कुणदि] वह पुरुष बिना कार्य पाप उत्पन्न करता है ।

भावार्थः—आप तो त्यागी हो गया फिर विना प्रयोजन गृहस्थके शुभकार्य पुत्रजन्मप्राप्ति, विवाहादिक और अशुभकार्य किसीको पीडा देना, मारना, बाँधना इत्यादि शुभाशुभ कार्योका चितवन कर, रागद्वेष परिणाम करके निरर्थक पाप उपजाता है उसके दशमी प्रतिमा कैसे हो ? इसलिये ऐसी बुद्धि रहनी चाहिए कि 'जैसा

भवितव्य है वैसा होगा यदि आहार मिलना है तो मिलकर रहेगा' ऐसे परिणाम रहनेसे अनुमतित्याग प्रतिमाका पालन होता है। ऐसे बारह भेदोमे ग्यारहवे भेदका वर्णन किया।

अब उद्दिष्टविरतिप्रतिमाका स्वरूप कहते हैं—

जो णव कोडिविसुद्धं, भिक्खायरणेण भुंजदे भोज्जं।
जायणरहियं जोग्गं, उद्दिट्ठाहारविरदो सो ॥३९०॥

अन्वयार्थः—[जो] जो श्रावक [णव कोडिविशुद्धं] नव कोटि विशुद्ध (मनवचनकाय कृतकारितअनुमोदनाके दोष रहित) [भिक्खायरणेण] भिक्षाचरण-पूर्वक [जायणरहिय] याचना रहित (बिना माँगे) [जोग्गं] योग्य (सचित्तादिक अयोग्य न हो) [भोज्जं भुंजदे] आहारको ग्रहण करता है [सो उद्दिट्ठाहारविरदो] वह उद्दिष्ट आहारका त्यागी है।

भावार्थः—घर छोड़कर मठ या मडपमे रहता है, भिक्षा–द्वारा आहार लेता है, जो इसके निमित्त कोई आहार बनावे तो उस आहारको नही लेता है, माँग कर नही लेता है, अयोग्य मांसादिक तथा सचित्त आहार नही लेता है, ऐसा उद्दिष्टविरत श्रावक होता है।

अब अंतसमयमें श्रावक आराधना करै ऐसा कहते है—

जो सावयवयसुद्धो, अंते आराहणं परं कुणदि।
सो अच्चुदम्मि सग्गे, इन्दो सुरसेविदो होदि ॥३९१॥

अन्वयार्थः—[जो सावयवयसुद्धो] जो श्रावक व्रतोसे शुद्ध है [अंते आराहणं परं कुणदि] और अतसमयमे उत्कृष्ट आराधना (दर्शन ज्ञान चारित्र तपका आराधन) करता है [सो अच्चुदम्मि सग्गे] वह अच्युत स्वर्गमे [सुरसेविदो इन्दो होदि] देवोसे सेवनीय इन्द्र होता है।

भावार्थः—जो सम्यग्दृष्टि श्रावक ग्यारहवी प्रतिमाका निरतिचार शुद्ध व्रत पालता है और अतसमय (मरणकाल) मे दर्शन ज्ञान चरित्र तप आराधनाको आराधता है वह अच्युन स्वर्गमे इन्द्र होता है। यह उत्कृष्ट श्रावकके व्रतका उत्कृष्ट फल है। ऐसे ग्यारहवी प्रतिमाका स्वरूप कहा। अन्य ग्रन्थोमे इसके दो भेद कहे है—

पहिले भेदवाला (क्षुल्लक) तो एक वस्त्र रखता है, बालोंको कैंची या उस्तरेसे कटाता है, प्रतिलेखन हस्तादिकसे करता है, भोजन बैठकर, अपने हाथसे भी तथा पात्रमे भी करता है। दूसरा (ऐलक) बालोंका लोच करता है, प्रतिलेखन पीछेसे करता है, अपने हाथहीमें भोजन करता है, कोपीन (लँगोट) धारण करता है, इत्यादि इसकी विधि अन्य ग्रन्थोसे जानना चाहिये। ऐसे प्रतिमा तो ग्यारहवी हुई और बारह भेद कहे थे उनमे यह बारहवाँ भेद श्रावकका हुआ।

अब यहाँ सस्कृत टीकाकारने अन्य ग्रन्थोके अनुसार कुछ श्रावकका कथन लिखा है वह भी सक्षेपसे लिखा जाता है। छठी प्रतिमा तक तो जघन्य श्रावक कहा है। सातवी, आठवी, नवमीं प्रतिमाके धारकको मध्यम श्रावक कहा है और दशवीं, ग्यारहवी प्रतिमावालेको उत्कृष्ट श्रावक कहा है और कहा है कि जो समिति सहित प्रवृत्ति करे तो अणुव्रत सफल है और समितिरहित प्रवृत्ति करे तो व्रत पालते हुए भी अव्रती है। जो गृहस्थके असि मसि कृषि वाणिज्यके आरम्भमे त्रस स्थावरकी हिसा होती है सो त्रसहिसाका त्याग इसके कैसे बनता है? इसके समाधानके लिये कहते है—

पक्ष, चर्या, साधकता तीन प्रवृत्तियाँ श्रावककी कही गई है। पक्षका धारक तो पाक्षिक श्रावक कहलाता है, चर्याका धारक नैष्ठिक श्रावक कहलाता है और साधकताका धारक साधक श्रावक कहलाता है। पक्ष तो ऐसा—जो मार्गमे त्रसहिसाका त्यागी श्रावक कहा गया है सो मै त्रसजीवोको मेरे प्रयोजनके लिये तथा दूसरेके प्रयोजनके लिये नही मारू ं। धर्मके लिये, देवता के लिये, मन्त्र साधनके लिये, औषधिके लिये, आहारके लिये और अन्य भोगके लिये नही मारू ं ऐसा पक्ष जिसके होता है सो पाक्षिक है। इसलिये इसके असि मसि कृषि वाणिज्य आदि कार्योमें हिसा होती है तो भी मारनेका अभिमत नही है। कार्यका अभिप्राय है, वहाँ घात होता है उसकी अपनी निन्दा करता है इस तरह त्रसहिसा न करनेकी पक्षमात्रसे पाक्षिक कहलाता है। ये अप्रत्याख्यानावरण कषायके मन्द उदयके परिणाम है इसलिये अव्रती ही है। व्रत पालनेकी इच्छा है परन्तु निरतिचार व्रतोंका पालन नही होता इसलिये पाक्षिक ही कहलाता है।

नैष्ठिक होता है तब अनुक्रमसे प्रतिमाकी प्रतिज्ञाका पालन होता है। इसके अप्रत्याख्यानावरण कषायका अभाव होनेसे पाँचवें गुणस्थानकी प्रतिज्ञाका निरतिचार

पालन होता है । प्रत्याख्यानावरण कषायके तीव्र मन्द भेदोंसे ग्यारह प्रतिमाके भेद है । ज्यो ज्यो कषाय मन्द होती जाती है त्यो त्यो आगेकी प्रतिमाकी प्रतिज्ञा होती जाती है । यहाँ ऐसा कहा है कि घरका स्वामित्व छोड़कर गृहकार्य तो पुत्रादिकको सौपे और आप यथाकषाय प्रतिमाकी प्रतिज्ञा ग्रहण करता जावे, जबतक सकल सयम ग्रहण नही करता है तब तक ग्यारहवी प्रतिमा तक नैष्ठिक श्रावक कहलाता है । मृत्यु समय आया जाने तब आराधना सहित हो एकाग्रचित्तसे परमेष्ठीके ध्यानमे ठहरकर समाधिपूर्वक प्राण छोड़ता है वह साधक कहलाता है, ऐसा कथन है ।

गृहस्थ जो द्रव्यका उपार्जन करे, उसके छह भाग करे । उसमेसे एक भाग तो धर्मके लिये दे, एक भाग कुटुम्बके पोषणमे दे, एक भाग अपने भोगके लिये खर्च करे, एक अपने स्वजन समूहके लिये व्यवहारमे खर्च करे, बाकी दो भाग रहे वे अमानत भण्डारमे रक्खे, यह द्रव्य बडी पूजन अथवा प्रभावना तथा काल दुकालमे काम आवे । ऐसा करनेसे गृहस्थके आकुलता उत्पन्न नही होती है, धर्मका पालन होता है । यहाँ पर सस्कृत टीकाकारने बहुत कथन किया है । पहिले गाथाके कथनमे अन्य ग्रन्थोका कथन सिद्ध होता है ऐसा कथन बहुत किया है सो सस्कृत टीकासे जानना चाहिये । यहाॅ तो गाथाका ही अर्थ सक्षेपसे लिखा है । विशेष जाननेकी इच्छा हो तो रयणसार, वसुनन्दिकृतश्रावकाचार, रत्नकरण्डश्रावकाचार, पुरुषार्थ सिद्धच्युपाय, अमितगतिश्रावकाचार, प्राकृतदोहाबन्ध श्रावकाचार इत्यादि ग्रन्थोसे जानना । यहाँ सक्षिप्त कथन है । ऐसे बारह भेदरूप श्रावकधर्मका कथन किया ।

अब मुनिधर्मका व्याख्यान करते है—

जो रयणत्तयजुत्तो, खमादिभावेहिं परिणदो णिच्चं ।
सव्वत्थ वि मज्झत्थो, सो साहू भण्णदे धम्मो ॥३९२॥

अन्वयार्थः—[जो रयणत्तयजुत्तो] जो पुरुष रत्नत्रय (निश्चय व्यवहाररूप सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र) सहित हो [खमादिभावेहि णिच्चं परिणदो] क्षमादिभाव (उत्तम क्षमाको आदि देकर दस प्रकारका धर्म) से नित्य (निरन्तर) परिणत हो [सव्वत्थ वि मज्झत्थो] सब जगह सुख दु ख, तृण कचन, लाभ अलाभ, शत्रु मित्र, निन्दा प्रशंसा, जीवन मरण आदिमे समभावरूप रहे, रागद्वेष रहित रहे [सो साहू धम्मो भण्णदे] वह साधु है और उसीको धर्म कहते है, क्योकि जिसमे धर्म है, वही धर्मकी मूर्ति है, वह ही धर्म है ।

भावार्थः—यहाँ रत्नत्रय सहित चारित्र तेरह प्रकारका है सो मुनिका धर्म महाव्रत आदि है उसका वर्णन करना चाहिये परन्तु यहाँ दस प्रकारके धर्मका विशेष वर्णन है उसीमें महाव्रत आदिका वर्णन गर्भित जानना चाहिये ।

अब दस प्रकारके धर्मका वर्णन करते है—

सो चेव दहप्पयारो, खमादि भावेहिं सुक्खसारेहिं ।
ते पुण भणिज्जमाणा मुणियव्वा परमभत्तीए ॥३९३॥

अन्वयार्थः—[सो चेव खमादि भावेहिं दहप्पयारो सुक्खसारेहिं] वह मुनिधर्म क्षमादि भावोसे दस प्रकारका है, कैसा है ? सौख्यसार कहिये सुख इससे होता है या सुख इसमे है अथवा सुखसे सार है—प्रसिद्ध है—ऐसा है [ते पुण भणिज्जमाणा परम-भत्तीए मुणियव्वा] वह दस प्रकारका धर्म (जिसका वर्णन अब करेगे) भक्तिसे (उत्तम धर्मानुरागसे) जानने योग्य है ।

भावार्थः—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य ऐसे दस प्रकारका मुनि धर्म है सो इसका भिन्न भिन्न व्याख्यान आगे करते है सो जानना चाहिये ।

अब पहिले उत्तमक्षमाधर्मको कहते है—

कोहेण जो ण तप्पदि, सुरणरतिरिएहिं कीरमाणे वि ।
उवसग्गे वि रउद्दे, तस्स खिमा णिम्मला होदि ॥३९४॥

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [सुरणरतिरिएहिं] देव मनुष्य तिर्यंच आदिसे [रउद्दे उवसग्गे कीरमाणे वि] रौद्र (भयानक घोर) उपसर्ग करने पर भी [कोहेण ण तप्पदि] क्रोधसे तप्तायमान नहो होता है [तस्स णिम्मला खिमा होदि] उस मुनिके निर्मल क्षमा होती है ।

भावार्थः— जैसे श्रीदत्त मुनि व्यन्तरदेवकृत उपसर्गको जीत केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गये, चिलातीपुत्र मुनि व्यन्तरकृत उपसर्गको जीतकर सर्वार्थसिद्धि गये, स्वामिकार्तिकेयमुनि क्रोंचराजाकृत उपसर्गको जीतकर देवलोक गये, गुरुदत्त मुनि कपिल ब्राह्मणकृत उपसर्ग जीतकर मोक्ष गये, श्रीधन्यमुनि चक्रराजकृत उपसर्गको जीत केवलज्ञान

प्राप्त कर मोक्ष गये, पाँचसौ मुनि दण्डक राजाकृत उपसर्ग जीत कर सिद्ध हुए, राजकुमारमुनिने पाशुलश्रेष्ठीकृत उपसर्ग जीतकर सिद्धि पाई, चाणक्य आदि पॉचसो मुनि मत्रीकृत उपसर्गको जीतकर मोक्ष गये, सुकुमालमुनि स्यालिनीकृत उपसर्ग सहकर देव हुए, श्रेष्ठीके बाईस पुत्र नदीके प्रवाहमे पद्मासन शुभ ध्यानसे मरकर देव हुए, सुकौशल मुनि व्याघ्रीकृत उपसर्ग जीतकर सर्वार्थसिद्धि गये और श्रीपणिकमुनि जलका उपसर्ग सहकर मोक्ष गये।

इस तरह देव मनुष्य पशु अचेतन कृत उपसर्ग सहे और क्रोध नही किया उनके उत्तम क्षमा हुई। ऐसे उपसर्ग करनेवाले पर क्रोध उत्पन्न नही होता है तब उत्तम क्षमा होती है। उससमय क्रोधका निमित्त आवे तो ऐसा चिन्तवन करे कि जो कोई मेरे दोष कहता है वे मेरेमे विद्यमान है तो यह क्या मिथ्या कहता है? ऐसा विचार कर क्षमा करना। यदि मेरेमे दोष नही है तो यह बिना जाने कहता है इसलिये अज्ञानी पर कैसा क्रोध? ऐसा विचार कर क्षमा करना। अज्ञानीके बालस्वभाव चिन्तवन करना कि बालक तो प्रत्यक्ष भी कहता है यह तो परोक्ष ही कहता है, यह ही अच्छा है। यदि प्रत्यक्ष भी कुवचन कहे तो यह विचार करे कि बालक तो ताडन भी करता है यह तो कुवचन ही कहता है, मारता नही है, यह ही अच्छा है। यदि ताडन करे तो यह विचार करे कि बालक अज्ञानी तो प्राणघात भी करता है, यह तो ताड़ता ही है, प्राणघात तो नही करता है, यह ही अच्छा है। यदि प्राणघात करे तो यह विचार करे कि अज्ञानी तो धर्मका भी विध्वस करता है यह तो प्राणघात ही करता है, धर्मका विध्वंस तो नही करता है और यह विचार करे कि मैंने पूर्वजन्ममे पापकर्म किये थे उनका यह दुर्वचनादिक उपसर्ग फल है, मेरा ही अपराध है पर तो निमित्तमात्र है इत्यादि चितवनसे उपसर्ग आदिकके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न नही होता है तब उत्तम क्षमाधर्म होता है।

अब उत्तममार्दवधर्मको कहते है—

उत्तमणाणपहाणो, उत्तमतवयरणकरणसीलो वि।
अप्पाणं जो हीलदि, मद्दवरयणं भवे तस्स ॥३९५॥

अन्वयार्थः—[उत्तमणाणपहाणो] जो मुनि उत्तम ज्ञानसे तो प्रधान हो [उत्तमतवयरणकरणसीलो वि] उत्तम तपश्चरण करनेका जिसका स्वभाव हो [जो

अप्पाणं हीलदि] जो अपने आत्माको मदरहित करे—अनादररूप करे [तस्स मद्दवरयणं भवे] उस मुनिके मार्दव नामक धर्मरत्न होता है ।

भावार्थः—सब शास्त्रोंका जाननेवाला पण्डित हो तो भी ज्ञान मद नही करे । यह विचारे कि मेरेसे बड़े अवधि मन पर्यय ज्ञानी है, केवलज्ञानी सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी है, मै क्या हूँ, अल्पज्ञ हूँ । उत्तम तप करे तो भी उसका मद नही करे । आप सब जाति कुल बल विद्या ऐश्वर्य तप रूप आदिसे सबसे बड़े है तो भी परकृत अपमानको भी सहते है उस समय गर्व कर कषाय उत्पन्न नही करते है वहाँ उत्तम मार्दव धर्म होता है ।

अब उत्तम आर्जवधर्मको कहते है—

जो चिंतेइ ण वंकं, कुणदि ण वंकं ण जंपदे वंकं ।
ण य गोवदि णियदोसं, अज्जवधम्मो हवे तस्स ॥३९६॥

अन्वयार्थः—[जो वंकं ण चितेइ] जो मुनि मनमें वक्रतारूप चिन्तवन नही करे [वंकं ण कुणदि] कायसे वक्रता नही करे [वकं ण जंपदे] वचनसे वक्ररूप नही बोले [य णियदोस ण गोवदि] और अपने दोषोको नही छिपावे [तस्सअज्जवधम्मो हवे] उस मुनिके उत्तम आर्जव धर्म होता है ।

भावार्थः—मनवचनकायमे सरलता हो, जो मनमें विचारे सो ही वचनसे कहे, सो ही कायसे करे । मनमे तो दूसरेको भुलावा देने (ठगने) के लिये विचार तो कुछ करे, वचनसे और ही कुछ कहे, कायसे और ही कुछ करे, ऐसा करनेसे माया कषाय प्रबल होती है इसलिये ऐसा नही करे । निष्कपट हो प्रवृत्ति करे । अपने दोषोंको नही छिपावे, जैसेके तैसे बालककी तरह गुरुओके पास कहे, वहा उत्तम आर्जव धर्म होता है ।

अब उत्तम शौचधर्मको कहते है—

समसंतोसजलेणं य, जो धोवदि तिव्वलोहमलपुंजं ।
भोयणगिद्धिविहीणो, तस्स सउच्चं हवे विमलं ॥३९७॥

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [समसतोसजलेण य] समभाव (रागद्वेष रहित परिणाम) और सन्तोष (सन्तुष्ट भाव) रूपी जलसे [तिव्वलोहमलपुजं]

तीव्र तृष्णा और लोभरूपी मलके समूहको [धोवदि] धोवे (नाश करे) [भोयण गिद्धिविहीणो] भोजनकी गृद्धि (अति चाह) से रहित हो [तस्स मउच्चं विमलं हवे] उस मुनिका चित्त निर्मल होता है अतः उसके उत्तम शौच धर्म होता है ।

भावार्थः—समभाव (तृण कचनको समान जानना) और सन्तो(सतुष्टपना, तृप्तिभाव, अपने स्वरूप ही मे मुख मानना) भावरूप जलसे तृष्ण(आगामी मिलनेकी चाह) और लोभ (पाए हुए द्रव्यादिकमे अति लिप्त रहना उसके त्यागमें अति खेद करना) रूप मलके धोनेसे मन पवित्र होता है । मुनिके अन त्याग तो होता ही है केवल आहारका ग्रहण है उसमे भी तीव्र चाह नही रखता है लाभ अलाभ सरस नीरसमे समबुद्धि रहता है, तव उत्तम शौच धर्म होता है । लोभक चार प्रकारकी प्रवृत्ति है—जीवितका लोभ, आरोग्य रहनेका लोभ, इन्द्रिय बन रहनेका लोभ, उपयोगका लोभ । ये चारो अपने, और अपने सम्बन्धी स्वजन मि आदिके दोनोके चाहनेसे आठ भेदरूप प्रवृत्ति है इसलिये जहाँ सवहीका लोभ नही होत है वही शौचधर्म है ।

अब उत्तम सत्यधर्मको कहते है—

जिणवयणमेव भासदि, तं पालेदुं असक्कमाणो वि ।
ववहारेण वि अलियं, ण वददि जो सच्चवाई सो ॥३९८॥

अन्वयार्थ—[जिणवयणमेव भासदि] जो मुनि जिनसूत्रहीके वचनको कहे [तं पालेदु असक्कमाणो वि] उसमे जो आचार आदि कहा गया है उसका पालन करनेमें असमर्थ हो तो भी अन्यथा नही कहे [जो ववहारेण वि अलिय ण वददि] और जो व्यवहारसे भी अलीक (असत्य) नही कहे [सो सच्चवाई] वह मुनि सत्यवादी है उसके उत्तम सत्यधर्म होता है ।

भावार्थः—जो जिनसिद्धान्तमें आचार आदिका जैसा स्वरूप कहा हो वैसा ही कहे । ऐसा नही कि जब आपसे पालन न किया जाय तब अन्यप्रकार कहे, यथावत् न कहे, अपना अपमान हो इसलिये जैसे तैसे कहे । व्यवहार जो भोजन आदिका व्यापार तथा पूजा प्रभावना आदिका व्यवहार उसमे भी जिनसूत्रके अनुसार वचन कहे, अपनी इच्छासे जैसे तैसे न कहे । यहाँ दस प्रकारके सत्यका वर्णन है नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीत्यसत्य, सवृतिसत्य, सयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य,

समयसत्य । मुनियोंका मुनियोसे तथा श्रावकोसे वचनालापका व्यवहार है । यदि बहुत भी वचनालाप हो तब भी सूत्रसिद्धान्त अनुसार इस दस प्रकारके सत्यरूप वचनकी प्रवृत्ति होती है । १—अर्थ और गुणके न होने पर भी वक्ताकी इच्छासे किसी वस्तुका नाम (संज्ञा) रक्खा जाय सो नाम सत्य है । २—जो रूपमात्रसे कहा जाय जैसे चित्रमे किसीका रूप लिख कर कहे कि यह सफेद रगका अमुक व्यक्ति है सो रूप सत्य है । ३—किसी प्रयोजनके लिये किसीकी मूर्ति स्थापित कर कहे सो स्थापना सत्य है । ४—किसी प्रतीतिके लिये किसीको आश्रय करके कहना सो प्रतीतिसत्य है, जैसे ताल–यह परिमाण विशेष है उसको आश्रय करके कहे 'यह पुरुषताल है' अथवा लम्बा कहे तो छोटेको प्रतीत्य (आश्रय) कर कहे । ५—लोकव्यवहारके आश्रयसे कहे सो संवृतिसत्य है, जैसे कमलके उत्पन्न होनेमें अनेक कारण है तो भी पंकमे हुआ इसलिये पकज कहते है । ६—वस्तुओको अनुक्रमसे (क्रमपूर्वक) स्थापित करनेका वचन कहे सो सयोजना सत्य है, जैसे दशलक्षणका मण्डल बनावे उसमें अनुक्रमसे चूर्णके कोठे करे और कहे कि यह उत्तम क्षमाका है, इत्यादि जोडरूप नाम कहे, अथवा दूसरा उदाहरण—जैसे जौहरी मोतियोकी लड़ियाँ करता है उनमे मोतियोकी सज्ञा स्थापित कर रक्खी है सो जहाँ जो चाहिये उसही अनुक्रमसे मोती पिरोता है । ७—जिस देशमे जैसी भाषा हो वैसी कहे सो जनपदसत्य है । ८—ग्राम नगर आदिका उपदेशक वचन सो देशसत्य है जैसे, जिसके चारो तरफ बाड हो उसको ग्राम कहना । ९—छद्मस्थके ज्ञान अगोचर और सयमादिक पालनेके लिये जो वचन सो भावसत्य है जैसे किसी वस्तुमे छद्मस्थके ज्ञानके अगोचर जीव हो तो भी अपनी दृष्टिमे जीव न देखकर आगमके अनुसार कहे कि यह प्रासुक है । १०—जो आगमगोचर वस्तु है उसको आगमके वचनानुसार कहना सो समयसत्य है जैसे पल्य सागर इत्यादि कहना । दसप्रकारके सत्यका कथन गोम्मटसारमें है वहाँ सात नाम तो ये ही है और तीनके नाम यहाँ तो देश, सयोजना, समय है और वहाँ सम्भावना, व्यवहार, उपमा ये है । उदाहरण अन्य प्रकार है सो विवक्षाका भेद जानना विरोध नही है । ऐसे सत्यकी प्रवृत्ति होती है सो जिनसूत्रानुसार वचन प्रवृत्ति करे उसके सत्य धर्म होता है ।

अब उत्तम सयमधर्मको कहते है—

जो जीवरक्खणपरो, गमणागमणादिसव्वकज्जेसु ।
तणछेदं पि ण इच्छदि, संजमधम्मो हवे तस्स ॥३९९॥

अन्वयार्थः—[जो जीवरक्खणपरो] जो मुनि जीवोंकी रक्षामें तत्पर होता हुआ [गमणागमणादिसव्वकज्जेसु] गमन आगमन आदि सब कार्योमे [तणछेदं पि ण इच्छदि] तृणका छेदमात्र भी नही चाहता है, नही करता है [तस्स संजयधम्मो हवे] उस मुनिके सयमधर्म होता है ।

भावार्थः—संयम दो प्रकारका कहा गया है—इन्द्रिय मनका वश करना और छहकायके जीवोकी रक्षा करना । सो यहाँ मुनिके आहार विहार करनेमे गमन आगमन आदिका काम पडता है तो उन कार्योमे ऐसे परिणाम रहते है कि मैं तृणमात्रका भी छेद नही करू ं, मेरे निमित्तमे किसीका अहित न हो, ऐसे यत्नरूप प्रवर्तता है, जीवदयामे ही तत्पर रहता है । यहाँ टीकाकारने अन्य ग्रन्थोसे सयमका विशेष वर्णन किया है, उसका सक्षेप—सयम दो प्रकारका है १ उपेक्षा सयम २ अपहृत सयम । जो स्वभाव ही से रागद्वेषको छोड़कर गुप्ति धर्ममे कायोत्सर्ग ध्यान द्वारा स्थिर हो वहाॅ उसके उपेक्षा सयम है, उपेक्षाका अर्थ उदासीनता या वीतरागता है । अपहृत सयमके तीन भेद है—उत्कृष्ट मध्यम जघन्य । चलते या बैठते समय जो जीव दिखाई दे उससे आप बच जाय जीवको नही हटावे सो उत्कृष्ट है, कोमल मयूरपखकी पीछीसे जीवको हटाना सो मध्यम है और अन्य तृणादिकसे हटाना सो जघन्य है । यहाँ अपहृत-सयमीको पच समितिका उपदेश है । आहार बिहारके लिये गमन करे सो प्रासुक मार्ग देख जूडा प्रमाण (चार हाथ) भूमिको देखते हुए मन्द मन्द अति यत्नसे गमन करना सो ईर्यासमिति है । धर्मोपदेश आदिके निमित्त वचन क सो हितरूप मर्यादापूर्वक सन्देह रहित स्पष्ट अक्षररूप वचन कहे, बहु प्रलाप आदि वचनके दोष है उनसे रहित बोले सो भाषासमिति है । कायकी स्थितिके लिये आहार करे सो मन-वचन-काय कृत कारित अनुमोदनाके दोष जिसमे नही लगै, ऐसा दूसरेसे दिया हुआ, छियालीस दोष बत्तीस अन्तराय टाल कर चौदह मल रहित अपने हाथमे खड़े होकर अति यत्नसे शुद्ध आहार करना सो एषणा समिति है । धर्मके उपकरणोको अति-यत्नसे भूमिको देख कर उठाना धरना सो आदाननिक्षेपण समिति है । अगके मल मूत्रादिकको, त्रस स्थावर जीवोको देख, टाल (वचा) कर यत्नपूर्वक क्षेपण करना सो प्रतिष्ठापना समिति है, ऐसे पाॅच समिति पाले उसके सयमका पालन होता है क्योंकि ऐसा कहा है कि जो यत्नाचारसे प्रवर्तता है उसके बाह्यमे जीवको बाधा होने पर भी बध नही है और यत्नरहित प्रवृत्ति करता है उसके बाह्यमे जीव मरे या न मरे बध अवश्य होता है । अपहृत सयमके

पालनके लिये आठ शुद्धियोंका उपदेश है, १ भावशुद्धि २ कायशुद्धि ३ विनयशुद्धि ४ ईर्यापथशुद्धि ५ भिक्षाशुद्धि ६ प्रतिष्ठापना शुद्धि ७ शयनासनशुद्धि ८ वाक्यशुद्धि ।

भावशुद्धि तो, जैसे शुद्ध (उज्ज्वल) भीति (दिवार) में चित्र शोभायमान दिखाई देता है वैसे—ही कर्मके क्षयोपशम जनित है इसलिये उसके बिना तो आचार ही प्रगट नही होता है । दिगम्बररूप सब विकारोसे रहित यत्नरूप जिसमे प्रवृत्ति शान्त मुद्रा जिसको देखकर दूसरोको भय उत्पन्न नही होता है तथा आप भी निर्भय रहता है, ऐसी कायशुद्धि है । अरहन्त आदिमे भक्ति, गुरुओके अनुकूल रहना सो विनयशुद्धि है । मुनि जीवोके सब स्थान जानते है इसलिये अपने ज्ञानसे, सूर्यके प्रकाशसे, नेत्र इन्द्रियसे मार्गको अतियत्नसे देखकर गमन करते है सो ईर्यापथशुद्धि है । भोजनके लिये गमन करे तब पहिले तो अपने मलमूत्रकी बाधाकी परीक्षा करे, अपने अंगका अच्छी तरह प्रतिलेखन करे, आचारसूत्रमें कहे अनुसार देश काल स्वभावको विचारे और इतनी जगह आहारके लिये नही जावे—जिनके गीत नृत्य वादित्रकी आजीविका हो उनके घर पर नही जावे, जहाँ प्रसूति हुई हो वहाँ नही जावे, जहाँ मृत्यु हुई हो वहाँ नही जावे, वेश्याके नही जावे, पापकर्म हिंसाकर्म जहाँ हो वहाँ नही जावे, दीनके घर, अनाथके घर, दानशाला, यज्ञशाला, यज्ञ, पूजनशाला, विवाह आदि मंगल जहाँ हो रहे हों, इन सबके आहारके लिये नही जावे । धनवानके जाना या निर्धनके जाना ऐसा विचार न करे, लोकनिद्यकुलके घर नही जावे, दीनवृत्ति नही करे, प्रासुक आहार ले, आगमके अनुसार दोष अन्तराय टालकर निर्दोष आहारले, सो भिक्षाशुद्धि है । यहाँ लाभ अलाभ सरस नीरसमें समानबुद्धि रखता है । भिक्षा पाच प्रकारकी कही है १ गोचर २ अक्षम्रक्षण ३ उदराग्निप्रशमन ४ भ्रमराहार ५ गर्तपूरण । गौ की जैसे दातारकी सम्पदादिककी तरफ न देखे, जैसा पावे वैसा आहार लेनेहीमें चित्त रक्खे सो गोचरीवृत्ति है । जैसे गाड़ीको वागि (पहियोमें तेल देकर) ग्राम पहुँचे वैसे सयमके साधक कायको निर्दोष आहार देकर संयम साधे सो अक्षम्रक्षण है । आग लगने पर जैसे तैसे जलसे बुझा कर घरको बचावे वैसे ही क्षुधा अग्निको सरस नीरस आहारसे बुझा कर अपने परिणाम उज्ज्वल रक्खे सो उदराग्नि प्रशमन है । भौरा जैसे फूलको बाधा नही करता है और वासना (गध) लेता है वैसे ही मुनि दातारको बाधा न पहुँचा कर आहार ले सो भ्रमराहार है । जैसे गर्त्त (गड्ढा) को जैसे तैसे भरतसे भरते है वैसे ही मुनि स्वादु नि:स्वादु आहारसे उदर भरे सो गर्त्तपूरण है, ऐसे भिक्षाशुद्धि होती है । मल मूत्र श्लेष्म थूक आदिका जीवोको देखकर यत्नपूर्वक

क्षेपण करना सो प्रतिष्ठापना शुद्धि है । जहाँ स्त्री, दुष्ट जीव, नपुंसक, चोर, मद्यपायी, जीव-बध करनेवाले, नीच लोग रहते हो वहां न रहना सो शयनासनशुद्धि है, शृङ्गार विकार आभूषण सुन्दरवेश ऐसी वेश्यादिककी क्रीडा जहां होती हो, सुन्दर गीत नृत्य वादित्र जहाँ होते हो, जहा विकारके कारण नग्न गुह्यप्रदेश जिनमे दिखाई दे ऐसे चित्र हो, जहा हास्य महोत्सव घोडे आदिको शिक्षा देनेका स्थान तथा व्यायामभूमि हो, वहा मुनि न रहे, जहा क्रोधादिक उत्पन्न हो ऐसे स्थान पर न रहे सो शयनासन-शुद्धि है, जब तक कायोत्सर्ग खड़े रहनेको शक्ति हो तबतक स्वरूपमे लीन होकर खडे रहे बादमें बैठे तथा खेदको दूर करनेके लिये अल्पकाल सोवे । जहाँ आरम्भकी प्रेरणा-रहित वचन प्रवर्ते, युद्ध, काम, कर्कश, प्रलाप, पैशुन्य, कठोर, परपीडा करनेवाले वाक्य न प्रवर्ते, विकथाके अनेक भेद है वैसे वचन नही प्रवर्ते, जिनमें व्रत शीलका उपदेश हो, अपना परका हित हो, मीठे, मनोहर, वैराग्यके कारण, अपनी प्रशंसा दूसरेकी निन्दासे रहित, सयमी योग्य वचन प्रवर्ते सो वाक्यशुद्धि है । ऐसा सयम धर्म है, सयमके पाँच भेद कहे है—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसापराय, यथाख्यात ऐसे पाच भेद है, इनका विशेष वर्णन अन्य ग्रन्थोसे जानना ।

अब तपधर्मको कहते है—

इहपरलोयसुहाणं, णिरवेक्खो जो करेदि समभावो ।
विविहं कायकिलेसं, तवधम्मो णिम्मलो तस्स ॥४००॥

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [इहपरलोयसुहाणं णिरवेक्खो] इसलोक परलोकके सुखकी अपेक्षासे रहित होता हुआ [समभावो] सुखदु ख शत्रु मित्र तृण कंचन निन्दा प्रशंसा आदिमे रागद्वेष रहित समभावी होता हुआ [विविहं कायकिलेसं] अनेक प्रकार कायक्लेश [करेदि] करता है [तस्स णिम्मलो तवधम्मो] उस मुनिके निर्मल तपधर्म होता है ।

भावार्थः—चारित्रके लिये जो उद्यम और उपयोग करता है सो तप कहा है । वह कायक्लेश सहित ही होता है इसलिये आत्माकी विभावपरिणतिके सस्कारको मिटानेके लिए उद्यम करता है । अपने शुद्धस्वरूप उपयोगको चारित्रमे रोकता है, बडे बलपूर्वक रोकता है ऐसा बल करना ही तप है । वह बाह्य आभ्यन्तरके भेदसे बारह

प्रकारका कहा गया है। उसका वर्णन आगे चूलिकामें होगा, ऐसे तपधर्मका वर्णन किया।

अब त्यागधर्मको कहते हैं—

जो चयदि मिट्ठभोज्जं, उवयरणं रायदोससंजणयं।
वसदिं ममत्तहेदुं, चायगुणो सो हवे तस्स ॥४०१॥

अन्वयार्थः—[जो मिट्ठभोज्जं चयदि] जो मुनि मिष्ट भोजनको छोडता है [रायदोससंजणयं उवयरण] रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले उपकरणको छोड़ता है [ममत्तहेदुं वसदिं] ममत्वका कारण वसतिकाको छोड़ता है [तस्स चायगुणो हवे] उस मुनिके त्याग नामका धर्म होता है।

भावार्थः—मुनिके संसार देह भोगके ममत्वका त्याग तो पहिले ही है। जिन वस्तुओंसे काम पडता है उनको मुख्यरूपसे कहा है। आहारसे काम पड़े तो सरस नीरसका ममत्व नही करे, धर्मोपकरण पुस्तक पीछी कमण्डलु जिनसे राग तीव्र बँधे ऐसे न रक्खे, जो गृहस्थजनके काम न आवे, बड़ी वसतिका रहनेकी जगहसे काम पड़े तो ऐसी जगह न रहे जिससे ममत्व उत्पन्न हो, ऐसे त्याग धर्मका वर्णन किया।

अब आकिंचन्य धर्मको कहते है—

तिविहेण जो विवज्जदि, चेयणमियरं च सव्वहा संगं।
लोयववहारविरदो, णिग्गंथत्तं हवे तस्स ॥४०२॥

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [लोयववहारविरदो] लोक व्यवहारसे विरक्त होकर [चेयणमियरं च सव्वहा संगं] चेतन अचेतन परिग्रहको सर्वथा [तिविहेण विवज्जदि] मनवचनकाय कृतकारितअनुमोदनासे छोडता है [तस्स णिग्गंथत्तं हवे] उस मुनिके निर्ग्रन्थत्व होता है।

भावार्थः—मुनि अन्य परिग्रह तो छोडता ही है [illegible] छोडे हैं
चेतन तो शिष्य संघ और अचेतन पुस्तक पिच्छिका [illegible]
वसतिका देह ये अचेतन इनसे भी सर्वथा [illegible]
ही हूँ अन्य मेरा [illegible] रहा है मैं अकिं[illegible]
धर्म होता है।



अब ब्रह्मचर्य धर्मको कहते है—

जो परिहरेदि संगं, महिलाणं णेव पस्सदे रूवं ।
कामकहादिणिरीहो, णव विह बंभं हवे तस्स ॥४०३॥

अन्वयार्थः—[जो महिलाणं संगं परिहरेदि] जो मुनि स्त्रियोकी सगति नही करता है [रूवं णेव पस्सदे] उनके रूपको नही देखता है [कामकहादिणिरीहो] कामकी कथा आदि शब्दसे, स्मरणादिकसे रहित हो [णव विह] ऐसा नवधा कहिये मनवचनकाय कृतकारितअनुमोदना और तीनो कालसे—नव कोटिसे करता है [तस्स बंभ हवे] उस मुनिके ब्रह्मचर्य धर्म होता है ।

भावार्थः—ब्रह्म आत्मा है उसमे लीन होना सो ब्रह्मचर्य है । परद्रव्योमे आत्मा लीन हो उनमे स्त्रीमें लीन होना प्रधान है क्योकि काम मनमे उत्पन्न होता है इसलिये यह अन्य कषायोसे भी प्रधान है और इस कामका आलम्बन स्त्री है सो इसका ससर्ग छोडनेपर अपने स्वरूपमे लीन होता है । इसलिये स्त्रीकी संगति करना, रूप निरखना, कथा करना, स्मरण करना जो छोडता है उसके ब्रह्मचर्य होता है । यहॉ टीकामें शीलके अठारह हजार भेद ऐसे लिखे है—

अचेतन स्त्री—काष्ठ पाषाण और लेपकृत इन तीनोको मनवचनकाय और कृतकारितअनुमोदना इन छहसे गुणा करने पर अठारह हुए । इनको पाँच इन्द्रियोसे गुणा करने पर नव्वे (९०) हुए । द्रव्य और भावसे गुणा करने पर एकसौ अस्सी (१८०) हुए । क्रोध मान माया लोभ इन चारोसे गुणा करने पर सातसौ बीस (७२०) हुए ।

चेतन स्त्री—देवांगना मनुष्यणी इनको कृत कारित अनुमोदनासे गुणा करने पर नौ (९) हुए । इनको मन वचन काय इन तीनसे गुणा करने पर सत्ताईस (२७) हुए । पॉच इन्द्रियोसे गुणा करने पर एकसौ पैंतीस (१३५) हुए । द्रव्य और भावसे गुणा करने पर दो सौ सत्तर (२७०) हुए । इनको चार संज्ञा आहार भय मैथुन परिग्रहसे गुणा करने पर एक हजार अस्सी (१०८०) हुए । इनको अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण सज्वलन क्रोध मान माया लोभ रूप सोलह कषायोंसे गुणा करने पर सत्रह हजार दोसौ अस्सी (१७२८०) हुए । इनमें अचेतन स्त्रीके सातसौ बीस (७२०) भेद मिलाने पर अठारह हजार (१८०००)

भेद हो जाते हैं। इन भेदोंको अन्य प्रकारसे भी किये है सो अन्य ग्रन्थोंसे जानना[1]। ये आत्माकी परिणतिके विकारके भेद है सो सबही को छोड़कर अपने स्वरूपमें रमण करे तब ब्रह्मचर्य धर्म उत्तम होता है।

अब शीलवानकी बड़ाई कहते हैं, उक्तं च—

जो ण वि जादि वियारं, तरुणियणकडक्खबाणविद्धो वि।
सो चेव सूरसूरो, रणसूरो[2] णो हवे सूरो ॥१॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [तरुणियणकडक्खबाणविद्धो वि] स्त्रियोके कटाक्षरूपी बाणोसे आहत होकर भी [वियारं ण वि जादि] विकारको प्राप्त नही होता है [सो चेव सूरसूरो] वह शूरवीरोंमें प्रधान है [रणसूरो सूरो णो हवे] और जो रणमें शूरवीर है वह शूरवीर नहीं है।

भावार्थः—युद्धमें सामना करके मरनेवाले शूरवीर तो बहुत है परन्तु जो स्त्रियोंके वशमें नहीं होते है ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते है ऐसे विरले ही है वे ही बड़े साहसी है, शूरवीर है, कामको जीतनेवाले ही बड़े सुभट है। ऐसे दस प्रकारके धर्मका वर्णन किया।

अब इसको संकोच करते हैं—

एसो दहप्पयारो, धम्मो दहलक्खणो हवे णियमा।
अण्णो ण हवदि धम्मो, हिंसा सुहमा वि जत्थत्थि ॥४०४॥

अन्वयार्थः—[एसो दहप्पयारो धम्मो णियमा दहलक्खणो हवे] यह दस प्रकारका धर्म ही नियमसे दस लक्षण स्वरूप धर्म है [अण्णो जत्थत्थि सुहमा वि हिंसा धम्मो ण हवदि] और अन्य जहाँ सूक्ष्म भी हिसा होय सो धर्म नही है।

---

१ अशुभ मन-वचन-कायको त्रिगुप्ति द्वारा घात करे वह शीलके नौ भेद उनको आहार, भय, मैथुन और परिग्रह सज्ञाओसे गुणा करनेसे ९×४=३६ उनको पचेन्द्रिजयसे गुणनेसे १८० भेद उसे पृथ्वी आदि पाँच स्थावर और त्रसकायिकोमे दो-तीन-चार सज्ञी पचेन्द्रिय और असज्ञी पंचन्द्रिय यह १० भेदसे गुणने पर १८०० हुए। उसको उत्तम क्षमादि १० धर्मोसे गुणने पर १८००० भेद हुए। षट् प्राभृतादि सग्रह पृ० २६७।

२ मुद्रित प्रतिमे "रणसूणो', पाठ है।

भावार्थः—जहाँ हिसा हो और उसको कोई अन्यमती धर्म मानता हो तो उसको धर्म नही कहते है। यह दस लक्षण स्वरूप धर्म कहा है सो ही धर्म नियमसे है।

इस गाथामें कहा है कि जहाँ सूक्ष्म भी हिसा पाई जाय सो धर्म नही है इसी अर्थको अब स्पष्ट कहते है—

हिंसारंभो ण सुहो, देवणिमित्तं गुरूण कज्जेसु।
हिंसा पावं ति मदो, दयापहाणो जदो धम्मो ॥४०५॥

अन्वयार्थः—[हिंसा पावं ति मदो जदो धम्मो दयापहाणो] जिससे हिसा हो वह पाप है, धर्म है सो दयाप्रधान है ऐसा कहा गया है [देवणिमित्तं गुरूण कज्जेसु हिंसारंभो सुहो ण] इसलिये देवके निमित्त तथा गुरुके कार्यके निमित्त हिसा आरम्भ शुभ नही है।

भावार्थः—अन्यमती हिसामें धर्म मानते है। मीमासक तो यज्ञ करते है उसमे पशुओको होमते है और उसका फल शुभ कहते है। देवी और भैरो (भैरव) के उपासक बकरे आदि मार कर देवी और भैरोके चढाते है और उसका शुभ फल मानते है। बौद्धमती हिसा सहित मांसादिक आहारको शुभ कहते हैं। श्वेताम्बरोके कई सूत्रोमे ऐसा कहा है कि देव गुरु धर्मके निमित्त चक्रवर्तीकी सेनाका नाश कर देना चाहिये, जो साधु ऐसा नही करता है वो अनन्तससारी होता है, कही मद्यमासका आहार भी लिखा है। इन सबका निषेध इस गाथासे जानना चाहिये। जो देवगुरुके कार्यनिमित्त हिसाका आरम्भ करता है सो शुभ नही है, धर्म तो दयाप्रधान ही है। पूजा, प्रतिष्ठा, चैत्यालयका निर्मापण, संघयात्रा तथा वसतिकाका निर्मापण ये गृहस्थोके कार्य है इनको भी मुनि न आप करता है, न कराता है, अनुमोदना करता है। यह धर्म गृहस्थोका है सो जैसे इनका सूत्रमे विधान लिखा है वैसे गृहस्थ करता है। यदि गृहस्थ मुनिसे इनके सम्बन्धमे प्रश्न करे तो मुनि उत्तर देवे कि जैन सिद्धान्तमे गृहस्थका धर्म पूजा प्रतिष्ठा आदि लिखा है वैसे करो। ऐसा कहनेमे हिसाका दोष तो गृहस्थके ही है। इसमे जो श्रद्धा, भक्ति धर्मकी प्रधानता हुई उस सम्बन्धी पुण्य हुआ उसके साथी मुनि भी है। हिसा गृहस्थकी है, उसके साथी नही है। गृहस्थ भी हिसा करनेका अभिप्राय रक्खे (करे) तो अशुभ ही है। पूजा प्रतिष्ठा यत्नपूर्वक करता है, कार्यमे

हिसा होती है उससे गृहस्थ कैसे बचे ? सिद्धान्तमें ऐसा भी कहा है कि जिस कार्यके करनेमे पाप अल्प हो और पुण्य अधिक हो तो ऐसा कार्य गृहस्थको करना योग्य है। गृहस्थ जिसमे लाभ समझता है सो कार्य करता है। थोड़ा द्रव्य देने पर अधिक द्रव्य आवे सो कार्य करता है किन्तु मुनियोके ऐसा कार्य नही होता है उनके तो सर्वथा यत्न ही है ऐसा जानना चाहिये।

देवगुरूण[1] णिमित्तं, हिंसासहिदो वि होदि जदि धम्मो।
हिंसारहिदो धम्मो, इदि जिणवयणं हवे अलियं ॥४०६॥

अन्वयार्थः—[जदि देवगुरूण णिमित्तं हिंसासहिदो वि धम्मो होदि] यदि देव गुरुके निमित्त हिसाका आरम्भ भी यतिका धर्म हो तो [धम्मो हिंसारहिदो इदि जिणवयणं अलियं हवे] "धर्म हिसा रहित है" ऐसा जिनेन्द्र भगवानका वचन अलीक (झूठा) सिद्ध होवे।

भावार्थः—क्योंकि भगवानने धर्म हिसारहित कहा है इसलिये देव गुरुके कार्यके निमित्त भी मुनि हिसाका आरम्भ नही करते है, जो श्वेताम्बर कहते है सो मिथ्या है।

अब इस धर्मकी दुर्लभता दिखाते है—

इदि एसो जिणधम्मो, अलद्धपुव्वो अणाइकाले वि।
मिछत्तसंजुदाणं, जीवाणं लद्धिहीणाणं ॥४०७॥

अन्वयार्थः—[इदि एसो जिणधम्मो] इसप्रकारसे यह जिनेश्वर देवका धर्म [अणाइकाले वि] अनादिकालमें [लद्धिहीणाणं] जिनको स्व-काल आदिकी प्राप्ति नही हुई है ऐसे [मिछत्तसजुदाण जीवाण] मिथ्यात्व सहित जीवोके [अलद्धपुव्वो] अलब्धपूर्व है अर्थात् पहिले कभी नही पाया।

भावार्थः—अनादिकालसे मिथ्यात्वके कारण जीवोको जीव अजीवादि तत्त्वार्थका श्रद्धान कभी नही हुआ, बिना तत्त्वार्थश्रद्धानके अहिसाधर्मकी प्राप्ति कैसे हो ?

---

१ मुद्रित "प्रतिमे "णिम्मित्त" पाठ है।

अब कहते है कि अलब्धपूर्व धर्मको पाकर केवल पुण्यके ही आशयसे सेवन नही करना—

एदे दहप्पयारा, पावकम्मस्स णासिया भणिया ।
पुण्णस्स य संजणया, पर पुण्णत्थं ण कायव्वा ॥४०८॥

अन्वयार्थः—[एदे दहप्पयारा] ये दस प्रकारके धर्मके भेद [पावकम्मस्स णासिया] पाप कर्मका तो नाश करने वाले [य पुण्णस्स संजणया] और पुण्यकर्मको उत्पन्न करनेवाले [भणिया] कहे गये है [पर पुण्णत्थं ण कायव्वा] परन्तु केवल पुण्यही के प्रयोजनसे इनको अगीकार करना उचित नही है ।

भावार्थः—सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, शुभगोत्र तो पुण्यकर्म कहे गये है । चार घातिया कर्म, असातावेदनीय, अशुभनाम, अशुभआयु और अशुभगोत्र ये पापकर्म कहे गये है । दस लक्षण धर्मको पापका नाश करनेवाला और पुण्यको उत्पन्न करनेवाला कहा है सो केवल पुण्योपार्जनका अभिप्राय रखकर इनका सेवन उचित नही है क्योकि पुण्य भी बध ही है । ये धर्म तो पाप जो घातियाकर्म उसका नाश करनेवाले है और अघातियोमे अशुभ प्रकृतियोका नाश करते हैं । पुण्यकर्म ससारके अभ्युदयको देते हैं इसलिये इनसे (दशधर्मसे) पुण्यका भी व्यवहार अपेक्षा बन्ध होता है सो स्वयमेव होता ही है, उसको वाछा करना तो संसारकी वाछा करना है और ऐसा करना तो निदान हुआ, मोक्षार्थीके यह होता नही है । जैसे किसान खेती अनाजके लिये करता है उसके घास स्वयमेव होता है उसको वाछा क्यो करे ? वैसे ही मोक्षार्थीको पुण्यबन्धकी वाछा करना योग्य नही है ।

पुण्णं पि जो समच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि ।
पुण्णं सुग्गई हेदुं, पुण्णखएणेव णिव्वाणं ॥४०९॥

अन्वयार्थः—[जो पुण्ण पि समच्छदि] जो पुण्यको भी चाहता है [तेण [संसारो ईहिदो होदि] वह पुरुष संसार ही को चाहता है [पुण्ण सुग्गई हेदु] क्योकि पुण्य सुगतिके बन्धका कारण है [णिव्वाण पुण्णखएणेव] और मोक्ष पुण्यके भी क्षयसे होता है ।

जाने, कषायोंको अपराध (दुःख) रूप जाने इनसे अपना घात जाने तब अपनी दया कषायभावके अभावको मानता है इस तरह अहिसाको धर्म जानता है हिसाको अधर्म जानता है ऐसा श्रद्धान ही सम्यक्त्व है । उसके निःशकित आदि आठ अग है, उनको जीवदया हो पर लगाकर कहते है, पहिले निःशकित अगको कहते है—

किं जीवदया धम्मो, जण्णे हिंसा वि होदि किं धम्मो ।
इच्चेवमादिसंका, तदकरणं जाण णिस्संका ॥४१३॥

अन्वयार्थः—[किं जीवदया धम्मो] यह विचार करना कि क्या जीवदया धर्म है ? [जण्णे हिंसा वि होदि किं धम्मो] अथवा यज्ञमें पशुओके वधरूप हिसा होती है सो धर्म है ? [इच्चेवमादिसंका] इत्यादि धर्ममें संशय होना सो शंका है [तदकरणं णिस्संका जाण] इसका नही करना सो निःशका है ऐसा जान ।

भावार्थः—यहाँ आदि शब्दसे क्या दिगम्बर यतीश्वरोको ही मोक्ष है अथवा तापस पंचाग्नि आदि तप करते है उनको भी है । क्या दिगम्बरको ही मोक्ष है या श्वेताम्बरको भी है ? केवली कवलाहार करते है या नही करते है ? स्त्रियोको मोक्ष है या नही ? जिनदेवने वस्तुको अनेकान्त कहा है सो सत्य है या असत्य है ? ऐसी आशकाएँ नही करना सो निःशकित अग है ।

दयभावो वि य धम्मो, हिंसाभावो ण भण्णदे धम्मो ।
इदि संदेहाभावो, णिस्संका णिम्मला होदि ॥४१४॥

अन्वयार्थः—[दयभावो वि य धम्मो] निश्चयसे दया भाव ही धर्म है [हिंसाभावो धम्मो ण भण्णदे] हिसाभाव धर्म नही कहलाता है [इदि] ऐसा निश्चय होने पर [संदेहाभावो] सन्देहका अभाव होता है [णिम्मला णिस्संका होदि] वह ही निर्मल निःशकित गुण है ।

भावार्थः—अन्यमतवालोंके माने हुए देव धर्म गुरु तथा तत्त्वके विपरीत स्वरूपका सर्वथा निषेध करके जैनमतमें कहे हुएका श्रद्धान करना सो निःशकित गुण है, जबतक शका रहती है तबतक श्रद्धान निर्मल नही होता है ।

इसलिये पुण्यबन्धका कारण मन्दकषाय है [वंछा ण हि] वांछा पुण्यबन्धका कारण नही है ।

भावार्थः—पुण्यबन्ध मन्दकषायसे होता है और इसकी वांछा है सो तीव्र कषाय है इसलिये वांछा नही करना चाहिये । निर्वांछक पुरुषके पुण्य बन्ध होता है । यह लोकमें भी प्रसिद्ध है कि जो चाह करता है उसको कुछ नही मिलता है, बिना चाहवालेको बहुत मिलता है इसलिये वांछाका तो निषेध ही है ।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि अध्यात्म ग्रन्थोंमे तो पुण्यका निषेध बहुत किया और पुराणोमे पुण्यहीका अधिकार है इसलिये हम तो यह जानते हैं कि संसारमे पुण्य ही बड़ा है, इसीसे तो यहाँ इन्द्रियोके सुख मिलते है और इसीसे मनुष्य पर्याय, उत्तम संगति, उत्तम शरीर मोक्षसिद्धिके उपाय मिलते है, पापसे नरक निगोदमे जावे तब मोक्षका भी साधन कहाँ मिले ? इसलिये ऐसे पुण्यकी वाछा क्यो नही करना चाहिये ? इसका समाधान—

यह कहा सो तो सत्य है परन्तु भोगोंके लिये पुण्यकी वांछाका अत्यन्त निषेध है । जो भोगनेके लिये पुण्यकी वांछा करता है उसके पहिले तो सातिशय पुण्यबन्ध ही नही होता है और यहाँ तपश्चरणादिकसे कुछ पुण्य बाँध कर भोग पाता है तो अति तृष्णासे भोगोको भोगता है तब नरक निगोद ही पाता है । बन्ध मोक्षके स्वरूप साधनेके लिये पुण्य पाता है उसका निषेध नही है । पुण्यसे मोक्ष ,साधनेकी सामग्री मिले ऐसा उपाय रक्खे तो परम्परासे मोक्षही की वाछा हुई, पुण्यकी वांछा तो नही हुई । जैसे कोई पुरुष भोजन करनेकी वांछासे रसोईकी सामग्री इकट्ठी करता है उनको वाछा पहिले होवे तो भोजन ही की वाछा कहना चाहिये और भोजनको वाछाके बिना केवल सामग्रीहीकी वाछा करे तो सामग्री मिलने पर भी प्रयास मात्र ही हुआ, कुछ फल तो नही हुआ ऐसा जानना चाहिये । पुराणोमें पुण्यका अधिकार भी मोक्ष ही के लिये है संसारका तो वहाँ भी निषेध ही है ।

दशलक्षण धर्म दयाप्रधान है और दया सम्यक्त्वका मुख्य चिह्न है क्योंकि सम्यक्त्व जीव अजीव आश्रव बन्ध सवर निर्जरा मोक्ष इस तत्त्वार्थके ज्ञानपूर्वक श्रद्धान स्वरूप है । इसके यह होवे तब सब जीवोको अपने समान ही जानता है, उनको दु ख होता है तो अपने समान जानता है तब उनकी करुणा होवे ही और अपना शुद्ध स्वरूप

जाने, कषायोंको अपराध (दु:ख) रूप जाने इनसे अपना घात जाने तब अपनी दया कषायभावके अभावको मानता है इस तरह अहिसाको धर्म जानता है हिसाको अधर्म जानता है ऐसा श्रद्धान ही सम्यक्त्व है। उसके नि:शकित आदि आठ अग है, उनको जीवदया हो पर लगाकर कहते हैं, पहिले नि:शंकित अगको कहते है—

किं जीवद्या धम्मो, जण्णे हिंसा वि होदि किं धम्मो ।
इच्चेवमादिसंका, तदकरणं जाण णिस्संका ॥४१३॥

अन्वयार्थः—[किं जीवदया धम्मो] यह विचार करना कि क्या जीवदया धर्म है ? [जण्णे हिंसा वि होदि किं धम्मो] अथवा यज्ञमे पशुओके वधरूप हिसा होती है सो धर्म है ? [इच्चेवमादिसंका] इत्यादि धर्ममें संशय होना सो शंका है [तदकरणं णिस्संका जाण] इसका नही करना सो नि:शका है ऐसा जान।

भावार्थः—यहाँ आदि शब्दसे क्या दिगम्बर यतीश्वरोको ही मोक्ष है अथवा तापस पंचाग्नि आदि तप करते है उनको भी है। क्या दिगम्बरको ही मोक्ष है या श्वेताम्बरको भी है ? केवली कवलाहार करते है या नही करते है ? स्त्रियोको मोक्ष है या नही ? जिनदेवने वस्तुको अनेकान्त कहा है सो सत्य है या असत्य है ? ऐसी आशकाएँ नही करना सो नि:शकित अंग है।

दयभावो वि य धम्मो, हिंसाभावो ण भण्णदे धम्मो ।
इदि संदेहाभावो, णिस्संका णिम्मला होदि ॥४१४॥

अन्वयार्थः—[दयभावो वि य धम्मो] निश्चयसे दया भाव ही धर्म है [हिंसाभावो धम्मो ण भण्णदे] हिसाभाव धर्म नही कहलाता है [इदि] ऐसा निश्चय होने पर [संदेहाभावो] सन्देहका अभाव होता है [णिम्मला णिस्संका होदि] वह ही निर्मल नि:शकित गुण है।

भावार्थः—अन्यमतवालोके माने हुए देव धर्म गुरु तथा तत्त्वके विपरीत स्वरूपका सर्वथा निषेध करके जैनमतमें कहे हुएका श्रद्धान करना सो नि.शकित गुण है, जबतक शका रहती है तबतक श्रद्धान निर्मल नही होता है।

अब निःकांक्षित गुणको कहते है—

जो सग्गसुहणिमित्तं, धम्मं णायरदि दूसहतवेहिं ।
मोक्खं समीहमाणो, णिक्खंखा जायदे तस्स ॥४१५॥

अन्वयार्थः—[जो] जो सम्यग्दृष्टि [दूसहतवेहिं] दुद्धर तपसे भी [मोक्खं समीहमाणो] मोक्षकी ही वाछा करता हुआ [सग्गसुहणिमित्तं धम्मं णायरदि] स्वर्गसुखके लिये धर्मका आचरण नही करता है [तस्स णिक्खखा जायदे] उसके नि.काक्षित गुण होता है ।

भावार्थः—जो धर्मका आचरण तथा दुद्धर तप मोक्षहीके लिये करता है, स्वर्गादिके सुख नही चाहता है उसके निःकाक्षित गुण होता है ।

अब निर्विचिकित्सा गुणको कहते है—

दहविहधम्मजुदाणं, सहावदुग्गंधअसुइदेहेसु ।
जं णिंदणं ण कीरइ, णिव्विदिगिंछा गुणो सो हु ॥४१६॥

अन्वयार्थः—[दहविहधम्मजुदाणं] दस प्रकारके धर्म सहित [सहावदुग्गंध-असुइदेहेसु] मुनिराजका शरीर पहिले तो जो स्वभावसे ही दुर्गन्धित और अशुचि है और स्नानादि सस्कारके अभावसे बाह्यमे विशेष अशुचि और दुर्गन्धित दिखाई देता है उसकी [जं णिंदणं ण कीरइ] जो निन्दा (अवज्ञा) नही करना [सो हु णिव्विदिगिंछा गुणो] सो निर्विचिकित्सा गुण है ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि पुरुषकी प्रधान दृष्टि सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र गुणों पर पड़ती है, देह तो स्वभाव ही से अशुचि और दुर्गन्धित है इसलिये मुनिराजकी देहकी तरफ क्या देखे ? उनके रत्नत्रयकी तरफ देखे तब ग्लानि क्यो आवे ? ऐसी ग्लानिका उत्पन्न न होना ही निर्विचिकित्सा गुण है । जिसके सम्यक्त्व गुण प्रधान नही होता है उसकी दृष्टि पहिले देह पर पड़ती है तब ग्लानि उत्पन्न होती है वहाँ यह गुण नहीं होता है ।

अब अमूढ़दृष्टि गुणको कहते हैं—

भयलज्जालाहादो, हिंसारंभो ण मण्णदे धम्मो ।
जो जिणवयणे लीणो, अमूढदिट्ठी हवे सो दु ॥४१७॥

अन्वयार्थः—[जो] जो [भयलज्जालाहादो हिंसारंभो धम्मो ण मण्णदे] भय, लज्जा और लाभसे हिसाके आरम्भको धर्म नही मानता है [जिणवयणे लीणो] और जिनवचनोमें लीन है, भगवानने धर्म अहिसा ही कहा है ऐसी दृढ़ श्रद्धा युक्त है [सो दु अमूढदिट्ठी हवे] वह पुरुष अमूढदृष्टिगुण सयुक्त है ।

भावार्थः—अन्यमतवाले यज्ञादिक हिसामें धर्म मानते है उसको राजाके भयसे, किसी व्यन्तरके भयसे, लोकलाजसे और कुछ धनादिकके लाभसे इत्यादि अनेक कारणोसे धर्म न माने ऐसी श्रद्धा रखे कि धर्म तो भगवानने अहिसा ही कहा है सो अमूढदृष्टि गुण है । यहाँ हिसारभके कहनेमे हिसाके प्ररूपक देव शास्त्र गुरु आदिमें भी मूढदृष्टि नही होता है । ऐसा जानना ।

अब उपगूहनगुणको कहते है—

जो परदोसं गोवदि, णियसुकयं जो ण पयासदे लोए ।
भवियव्वभावणरओ, उवगूहणकारओ सो हु ॥४१८॥

अन्वयार्थः—[जो परदोसं गोवदि] जो सम्यग्दृष्टि दूसरेके दोषोंको छिपाता है । [णियसुकयं लोए जो ण पयासदे] अपने सुकृत (पुण्य) को लोकमें प्रकाशित नही करता फिरता है [भवियव्वभावणरओ] ऐसी भावनामें लीन रहता है कि जो भवितव्य है सो होता है तथा होगा [सो हु उवगूहणकारओ] सो उपगूहन गुण करनेवाला है ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टिके ऐसी भावना रहती है कि कर्मके उदयके अनुसार मेरी लोकमें प्रवृत्ति है सो होनी है सो होती है, ऐसी भावनासे अपने गुणोको प्रकाशित नही करता फिरता है, दूसरोके दोष प्रगट नही करता है, साधर्मी जन तथा पूज्य पुरुषोमें किसी कर्मके उदयसे दोष लगे तो उसको छिपावे, उपदेशादिसे दोषको छुडावे, ऐसा न करे जिससे उनकी निन्दा हो, धर्मकी निन्दा हो, धर्म. धर्मात्मामेसे दोषका अभाव करना है सो दोषका छिपाना भी अभाव ही करना है क्योकि जिसको लोग न जाने सो अभाव तुल्य ही है, ऐसे उपगूहन गुण होता है ।

अब स्थितिकरण गुणको कहते है—

धम्मादो चलमाणं, जो अण्णं संठवेदि धम्मम्मि ।
अप्पाणं सुदिढयदि, ठिदिकरणं होदि तस्सेव ॥४१९॥

अन्वयार्थः—[जो धम्मादो चलमाणं अण्णं धम्मम्मि संठवेदि] जो धर्मसे चलायमान होते हुए दूसरेको धर्ममे स्थापित करता है [अप्पाणं सुदिढयदि] और अपने आत्माको भी चलायमान होनेसे दृढ करता है [तस्सेव ठिदिकरण होदि] उसके निश्चयसे स्थितिकरण गुण होता है ।

भावार्थः—धर्मसे चिगने (चलायमान होने) के अनेक कारण हैं इसलिये निश्चय व्यवहाररूप धर्मसे दूसरेको तथा अपनेको चलायमान होता जानकर उपदेशसे तथा जैसे बने वैसे दृढ करे उसके स्थितिकरण गुण होता है ।

अब वात्सल्य गुणको कहते है—

जो धम्मिएसु भत्तो, अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए ।
पियवयणं जंपंतो, वच्छल्लं तस्स भव्वस्स ॥४२०॥

अन्वयार्थः—[जो धम्मिएसु भत्तो] जो सम्यग्दृष्टि जीव धार्मिक अर्थात् सम्यग्दृष्टि श्रावको तथा मुनियोमे भक्तिवान् हो [अणुचरणं कुणदि] उनके अनुसार प्रवृत्ति करता हो [परमसद्धाए पियवयणं जंपतो] परम श्रद्धासे प्रिय वचन बोलता हो [तस्स भव्वस्स वच्छल्लं] उस भव्यके वात्सल्य गुण होता है ।

भावार्थः—वात्सल्य गुणमे धर्मानुराग प्रधान है, विशेषकर धर्मात्मा पुरुषोसे जिसके भक्ति अनुराग हो, उनसे प्रिय वचन सहित बोले, उनका भोजन गमन आगमन आदिकी क्रियामे अनुचर होकर प्रवृत्ति करे, गाय बछड़ेकासा प्रेम रक्खे उसके वात्सल्य गुण होता है ।

अब प्रभावना गुणको कहते है—

जो दसभेयं धम्मं, भव्वजणाणं पयासदे विमलं ।
अप्पाणं पि पयासदि, णाणेण पहावणा तस्स ॥४२१॥

अन्वयार्थः—[जो दसभेय धम्मं भव्वजणाण] जो सम्यग्दृष्टि दसभेदरूप धर्मको भव्यजीवोके निकट [णाणेण] अपने ज्ञानसे [विमलं पयासदे] निर्मल प्रगट करे [अप्पाणं पि पयासदि] तथा अपनी आत्माको दसप्रकारके धर्मसे प्रकाशित करे [तस्स पहावणा] उसके प्रभावना गुण होता है ।

भावार्थः—धर्मको विख्यात करना प्रभावना गुण है। इसलिये उपदेशादिसे तो दूसरोमे धर्मको प्रगट करे और अपनो आत्माको दस प्रकारका धर्म अगीकार कर कर्मकलकसे रहित करके प्रगट करे उसके प्रभावना गुण होता है।

जिणसासणमाहप्पं, बहुविहजुत्तीहि जो पयासेदि।
तह तिव्वेण तवेण य, पहावणा णिम्मला तस्स ॥४२२॥

अन्वयार्थः—[जो बहुविहजुत्तीहि] जो सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने ज्ञानके बलसे, अनेक प्रकारकी युक्तियोसे वादियोका निराकरण कर तथा न्याय व्याकरण छन्द अलकार साहित्य विद्यासे उपदेश वा शास्त्रोंकी रचना कर [तह तिव्वेण तवेण य] तथा अनेक अतिशय चमत्कार पूजा प्रतिष्ठा और महान् दुद्धर तपश्चरणसे [जिणसासण-माहप्पं] जिनशासनके माहात्म्यको [पयासेदि] प्रगट करे [तस्स पहावणा णिम्मला] उसके प्रभावना गुण निर्मल होता है।

भावार्थः—यह प्रभावना गुण बड़ा गुण है इससे अनेकानेक जीवोंके धर्मकी रुचि श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है इसलिये सम्यग्दृष्टि पुरुषोंके अवश्य होता है।

अब निःशंकित आदि गुण किस पुरुषके होते है सो कहते हैं—

जो ण कुणदि परतत्तिं, पुणु पुणु भावेदि सुद्धमप्पाणं।
इंदियसुहणिरवेक्खो, णिस्संकाईगुणा तस्स ॥४२३॥

अन्वयार्थः—[जो परतत्ति ण कुणदि] जो पुरुष दूसरोंकी निन्दा नहीं करता है [सुद्धमप्पाणं पुणु पुणु भावेदि] शुद्ध आत्माको बार बार भाता (भावना करता) है [इदियसुहणिरवेक्खो] और इन्द्रिय सुखकी अपेक्षा (वाछा) रहित होता है [तस्स णिस्सकाईगुणा] उसके निःशकित आदि अष्ट गुण अहिसा धर्मरूप सम्यक्त्व होता है।

भावार्थः—यहाँ तीन विशेषण है उनका तात्पर्य यह है कि जो दूसरोकी निन्दा करता है उसके निर्विचिकित्सा, उपगूहन, स्थितिकरण और वात्सल्य गुण कैसे हो? इसलिये दूसरोकी निन्दा न करे तब ये चार गुण होवे। जिसको अपनी आत्माके वस्तु स्वरूपमें शका (सन्देह) हो तथा मूढदृष्टि हो सो अपनी आत्माको बारम्बार शुद्ध कैसे भावे? इसलिये जो आपको शुद्ध भावे उसीके नि.शकित तथा अमूढ़दृष्टि गुण होते है

और प्रभावना गुण भी उसीके होता है। जिसके इन्द्रियसुखकी वांछा हो उसके निःकांक्षित गुण नहीं होता है, इन्द्रियसुखकी वांछासे रहित होने पर ही नि काक्षित गुण होता है। ऐसे आठ गुण संभव होनेके तीन विशेषण है।

अब यह कहते है कि ये आठ गुण जैसे धर्ममें कहे वैसे देव गुरु आदिके लिये भी जानने—

णिस्संकापहुडिगुणा, जह धम्मे तह य देवगुरुतच्चे।
जाणेहि जिणमयादो, सम्मत्तविसोहया एदे ॥४२४॥

अन्वयार्थः—[णिस्संकापहुडिगुणा जह धम्मे तह य देवगुरुतच्चे] ये निःशकित आदि आठ गुण जैसे धर्ममें प्रगट होते कहे गये है वैसे ही देवके स्वरूपमें तथा गुरुके स्वरूपमे और षड्द्रव्य पंचास्तिकाय सप्त तत्त्व नव पदार्थोंके स्वरूपमे होते है [जिणमयादो जाणेहि] इनको प्रवचन सिद्धान्तसे जानना चाहिये [एदे सम्मत्तविसोहया] ये आठ गुण सम्यक्त्वको निरतिचार विशुद्ध करनेवाले है।

भावार्थः—देव गुरु तत्त्वमे शका न करना, इनकी यथार्थ श्रद्धासे इन्द्रियसुखकी वाछारूप काक्षा न करना, इनमे ग्लानि न लाना, इनमे मूढदृष्टि न रखना, इनके दोषोका अभाव करना तथा उनको छिपाना, इनका श्रद्धान दृढ करना, इनमे वात्सल्य विशेष अनुराग करना, इनकी महिमा प्रगट करना ऐसे आठ गुण इनमे जानना चाहिये। इनकी कथाएँ पहिले जो सम्यग्दृष्टि हुए है उनकी जैन शास्त्रोसे जानना। ये आठो गुण सम्यक्त्वके अतिचार दूर कर उसको निर्मल करनेवाले है।

अब इस धर्मको करनेवाला तथा जाननेवाला दुर्लभ है ऐसा कहते हैं—

धम्मं ण मुणदि जीवो, अहवा जाणेइ कह व कट्ठेण।
काउं तो वि ण सक्कदि, मोहपिसाएण भोलविदो ॥४२५॥

अन्वयार्थः—[जीवो धम्मं ण मुणदि] इस ससारमें पहिले तो जीव धर्मको जानता ही नही है [अहवा कह व कट्ठेण जाणेइ] अथवा किसी बड़े कष्टसे जान भी जाता है तो [मोहपिसाएण भोलविदो] मोह पिशाचसे भ्रमित किया हुआ [काउं तो वि ण सक्कदि] करनेको समर्थ नही होता है।

भावार्थः—अनादिसंसारसे मिथ्यात्व द्वारा भ्रमित यह प्राणी पहिले तो धर्मको जानता ही नही है और किसी काललब्धिसे* गुरुके संयोगसे ज्ञानावरणीके क्षयोपशमसे जान भी जाय तो उसका करना दुर्लभ है।

अब धर्मके ग्रहणका माहात्म्य दृष्टान्तपूर्वक कहते है—

जह जीवो कुणइ रइं, पुत्तकलत्तेसु कामभोगेसु।
तह जइ जिणिंदधम्मे, तो लीलाए सुहं लहदि ॥४२६॥

अन्वयार्थः—[जह जीवो पुत्तकलत्तेसु कामभोगेसु रइं कुणइ] जैसे यह जीव पुत्रकलत्रमे तथा काम भोगमें रति (प्रीति) करता है [तह जइ जिणिंदधम्मे तो लीलाए सुहं लहदि] वैसे ही यदि जिनेन्द्रके वीतरागधर्ममे करे तो लीलामात्र (शीघ्र काल) में ही सुखको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थः—जैसी इस प्राणीके संसारमें तथा इन्द्रियोके विषयोमें प्रीति है वैसी यदि जिनेश्वरके दसलक्षण धर्म स्वरूप वीतराग धर्ममें प्रीति होवे तो थोड़े ही समयमे मोक्षको पावे।

अब कहते है कि जो जीव लक्ष्मी चाहता है सो धर्म बिना कैसे हो ?

लच्छिं वंछेइ णरो, णेव सुधम्मेसु आयरं कुणइ।
बीएण विणा कत्थ वि, किं दीसदि सस्सणिप्पत्ती ॥४२७॥

अन्वयार्थः—[णरो लच्छिं वंछेइ] यह जीव लक्ष्मीको चाहता है [सुधम्मेसु आयरं णेव कुणइ] और जिनभाषित मुनि श्रावक धर्ममें आदर (प्रीति) नही करता है सो लक्ष्मीका कारण तो धर्म है, उसके बिना कैसे आवे ? [बीएण विणा [illegible] कत्थ वि किं दीसदि] जैसे बीजके बिना धान्यकी उत्पत्ति क्या कही [illegible] है नही दिखाई देती है।

भावार्थः—जैसे बीजके बिना [illegible] नही होता है वैसे [illegible] नही होती है यह प्रसिद्ध है।

* स्वकालकी प्राप्तिसे;

अब धर्मात्मा जीवकी प्रवृत्ति कहते है—

जो धम्मत्थो जीवो, सो रिउवग्गे वि कुणदि खमभावं ।
ता परदव्वं वज्जइ, जणणिसमं गणइ परदारं ॥४२८॥

अन्वयार्थः—[जो जीवो धम्मत्थो] जो जीव धर्ममे स्थित है [सो रिउवग्गे वि खमभावं कुणदि] वह शत्रुओके समूह पर भी क्षमा भाव करता है [ता परदव्वं वज्जइ] दूसरेके द्रव्यको त्यागता है, ग्रहण नही करता है [परदारं जणणिसमं गणइ] परस्त्रीको माता बहिन कन्याके समान समझता है ।

ता सव्वत्थ वि कित्ती, ता सव्वस्स वि हवेइ वीसासो ।
ता सव्वं पिय भासइ, ता शुद्धं माणसं कुणई ॥४२९॥

अन्वयार्थः—[ता सव्वत्थ वि कित्ती] जो जीव धर्ममे स्थित है तो उसकी सब लोकमें कीर्त्ति होती है [ता सव्वस्स वि वीसासो हवेइ] उसका सब लोक विश्वास करता है [ता सव्वं पिय भासइ] वह पुरुष सबको प्रियवचन कहता है जिससे कोई दु ख नही पाता है [ता सुद्धं माणसं कुणई] और वह पुरुष अपने तथा दूसरेके मनको शुद्ध (उज्ज्वल) करता है, किसीको इससे कालिमा नही रहती है वैसे ही इसको भी किसीसे कालिमा (मानसिक कुटिलता) नही रहती है ।

भावार्थः—धर्म सब प्रकारसे सुखदाई है ।

अब धर्मका माहात्म्य कहते है—

उत्तमधम्मेण जुदो, होदि तिरक्खो वि उत्तमो देवो ।
चंडालो वि सुरिंदो, उत्तमधम्मेण संभवदि ॥४३०॥

अन्वयार्थः—[उत्तमधम्मेण जुदो तिरक्खो वि उत्तमो देवो होदि] सम्यक्त्व सहित उत्तम धर्मसे युक्त तिर्यंच भी उत्तम देव होता है [उत्तमधम्मेण चंडालो वि सुरिंदो संभवदि] सम्यक्त्व सहित उत्तम धर्मसे चाडाल भी देवोका इन्द्र हो जाता है ।

अग्गी वि य होदि हिमं, होदि भुयंगो वि उत्तमं रयणं ।
जीवस्स सुधम्मादो, देवा वि य किंकरा होंति ॥४३१॥

अन्वयार्थः—[जीवस्स सुधम्मादो] इस जीवके उत्तमधर्मके प्रभावसे [अग्गी वि य हिमं होदि] अग्नि तो हिम (शीतल पाला) हो जाती है [भुयंगो वि उत्तमं रयणं होदि] साप भी उत्तम रत्नोंकी माला हो जाता है [देवा वि य किंकरा होंति] देव भी किंकर हो जाते हैं ।

उक्तं च गाथा—

तिक्खं खग्गं माला, दुज्जयरिउणो सुहंकरा सुयणा ।
हालाहलं पि अमियं, महापया संपया होदि ॥१॥

अन्वयार्थः—[तिक्खं खग्गं माला] उत्तम धर्मसहित जीवके तीक्ष्ण खड्ग फूलमाला हो जाती है [दुज्जयरिउणो सुहंकरा सुयणा] दुर्जय शत्रु भी सुख देनेवाला मित्र हो जाता है [हालाहलं पि अमियं] हालाहल विष भी अमृत हो जाता है [महापया संपया होदि] अधिक कहाँ तक कहे बड़ी आपत्ति भी सम्पत्ति हो जाती है ।

अलियवयणं पि सच्चं, उज्जमरहिए वि लच्छिसंपत्ती ।
धम्मपहावेण णरो, अणओ वि सुहंकरो होदि ॥४३२॥

अन्वयार्थः—[धम्मपहावेण णरो] धर्मके प्रभावसे जीवके [अलियवयणं पि सच्चं] झूठ वचन भी सत्य वचन हो जाते है [उज्जमरहिए वि लच्छिसंपत्ती] उद्यम रहितको भी लक्ष्मीकी प्राप्ति हो जाती है [अणओ वि सुहंकरो होदि] और अन्यान्य कार्य भी सुखके करनेवाले हो जाते है ।

भावार्थः—यहाँ ऐसा अर्थ समझना चाहिये कि यदि पहिले धर्मसेवन किया हो तो उसके प्रभावसे यहाँ झूठ बोले सो भी सच हो जाय, उद्यम बिना भी सपत्ति मिल जाय, अन्यायरूप प्रवृत्ति करे तो भी सुखी रहे ।

अब धर्मरहित जीवकी निन्दा करते है—

देवो वि धम्मचत्तो, मिच्छत्तवसेण तरुवरो होदि ।
चक्की वि धम्मरहिओ, णिवडइ, णरए ण संदेहो ॥४३३॥

अन्वयार्थः—[धम्मचत्तो मिच्छत्तवसेण देवो वि तरुवरो होदि] धर्मरहित मिथ्यात्वके वशसे देव भी वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव हो जाता है [धम्मरहिओ

चक्की वि णरए णिवडइ] धर्मरहित चक्रवर्ती भी नरकमें जा पड़ता है [ण संदेहो] संपत्तिकी प्राप्ति नही होती उसमे भी कोई सन्देह नही है ।

धम्मविहीणो जीवो, कुणइ असक्कं पि साहसं जइ वि ।
तो ण वि पावदि इट्ठं, सुट्ठु अणिट्ठं परं लहदि ॥४३४॥

अन्वयार्थः—[धम्मविहीणो जीवो जइ वि असक्क साहसं पि कुणइ] धर्मरहित जीव यद्यपि बड़ा असह्य साहस (पराक्रम) भी करता है [तो इट्ठ सुट्ठु ण वि पावदि] तो भी उसको इष्ट वस्तुकी प्राप्ति नही होती है [पर अणिट्ठं लहदि] केवल उलटी उत्कट अनिष्टकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थः—पापके उदयसे अच्छा करते हुए भी बुरा होता है यह जगत्प्रसिद्ध है ।

इय पच्चक्खं पेच्छह धम्माहम्माण विविहमाहप्पं ।
धम्मं आयरह सया, पावं दूरेण परिहरह ॥४३५॥

अन्वयार्थः—[इय धम्माहम्माण विविहमाहप्प पचक्खं पेच्छह] हे प्राणियो ! इस प्रकारसे धर्म और अधर्मका अनेक प्रकारका माहात्म्य प्रत्यक्ष देखकर [सया धम्मं आयरह] तुम सदा धर्मका आदर करो [पावं दूरेण परिहरह] और पापको दूर ही से छोड़ो ।

भावार्थः—आचार्यने दसप्रकारके धर्मका स्वरूप कहकर अधर्मका फल दिखाया । यहाँ यह उपदेश दिया है कि प्राणियों ! प्रत्यक्ष धर्म अधर्मका फल लोकमे देखकर धर्मका आदर (पालन) करो और पापका त्याग करो । आचार्य बड़े उपकारी है अकारण ही जिनको कुछ चाह नही है निस्पृह होते हुए जीवोके कल्याण ही के लिये बारबार कहकर प्राणियोको चेत (ज्ञान) कराते है, ऐसे श्रीगुरु वन्दने पूजने योग्य है । ऐसे यतिधर्मका वर्णन किया ।

दोहा ।

मुनिश्रावकके भेदतैं, धर्म दोय परकार ।
ताकूं सुनि चिंतवो सतत, गहि पावौ भवपार ॥१२॥

इति धर्मानुप्रेक्षा समाप्ता ॥१२॥



द्वादश तप

अब धर्मानुप्रेक्षाकी चूलिकाको कहते हुए आचार्य बारह प्रकार तपके विधानका निरूपण करते है—

बारसभेओ भणिओ, णिज्जरहेऊ तवो समासेण ।
तस्स पयारा एदे, भणिज्जमाणा मुणेयव्वा ॥४३६॥

अन्वयार्थः—[णिज्जरहेऊ तवो बारसभेओ समासेण भणिओ] कर्म निर्जराका कारण तप बारह प्रकारका सक्षेपसे जिनागममे कहा गया है [तस्स पयारा एदे भणिज्जमाणा मुणेयव्वा] उसके भेद जो अब कहेगे सो जानना चाहिये ।

भावार्थः—निर्जराका कारण तप है, यह बारह प्रकार है । अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह छह प्रकारका बाह्य तप है । प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकारका अन्तरंग तप है । इनका व्याख्यान अब करेगे ।

पहिले अनशन तपको चार गाथाओसे कहते है—

उवसमणं अक्खाणं, उववासो वण्णिदो मुणिंदेहि ।
तम्हा भुंजुंता वि य जिदिंदिया होंति उववासा ॥४३७॥

अन्वयार्थः—[मुणिंदेहि अक्खाणं उवसमण उववासा वण्णिदो] मुनीन्द्रोंने सक्षेपमें इन्द्रियोको विषयोमें न जाने देनेको, मनको अपने आत्मस्वरूपमे लगानेको उपवास कहा है [तम्हा जिदिंदिया भुंजुंता वि य उववासा होंति] इसलिये जितेन्द्रिय आहार करते हुए भी उपवास सहित ही होते है ।

भावार्थः—इन्द्रियोको जीतना उपवास है इसलिये यतिगण भोजन करते हुए भी उपवास सहित ही हैं क्योकि वे इन्द्रियोको वशमे कर प्रवर्तते है ।

जो मणइंदियविजई, इहभवपरलोयसोक्खणिरवेक्खो ।
अप्पाणे विय णिवसइ, सज्झायपरायणो होदि ॥४३८॥
कम्माणणिज्जरट्ठं, आहारं परिहरेइ लीलाए ।
एगदिणादिपमाणं, तस्स तवं अणसणं होदि ॥४३९॥

अन्वयार्थः—[जो मणइंदियविजई] जो मन और इन्द्रियोको जीतनेवाला है [इहभवपरलोयसोक्खणिरवेक्खो] इस भव और परभवके विषयसुखोमे अपेक्षा रहित है, वांछा नही करता है [अप्पाणे विय णिवसइ] अपने आत्मस्वरूपमे ही रहता है [सज्झायपरायणो होदि] तथा स्वाध्यायमें तत्पर है [एगदिणादिपमाणं] और एक दिनकी मर्यादासे [कम्माण णिज्जरट्ठं] कर्मोकी निर्जराके लिये [लीलाए आहार परिहरेइ] लीलामात्र ही क्लेशरहित हर्षसे आहारको छोड़ता है [तस्स अणसणं तवं होदि] उसके अनशन तप होता है।

भावार्थः—इन्द्रिय और मन विषयोमें प्रवृत्तिसे रहित होकर आत्मामे वसे (निवास करे) वह उपवास है। इन्द्रियोंको जीतना, इसलोक परलोक सम्बन्धी विषयोकी वांछा न करना, या तो आत्मस्वरूपमे लीन रहना, या शास्त्रके अभ्यास स्वाध्यायमे मन लगाना उपवासमें ये कार्य प्रधान है और क्लेश उत्पन्न न हो जैसे क्रीडामात्र, एक दिनकी मर्यादारूप आहारका त्याग करना सो उपवास है। ऐसे उपवास नामक अनशन तप होता है।

उववासं कुव्वाणो, आरंभं जो करेदि मोहादो।
तस्स किलेसो अवरं, कम्माणं णेव णिज्जरणं ॥४४०॥

अन्वयार्थः—[जो उववासं कुव्वाणो मोहादो आरंभं करेदि] जो उपवास करता हुआ मोहसे आरम्भ (गृहकार्यादि) को करता है [तस्स अवरं किलेसो] उसके पहिले तो गृहकार्यका क्लेश था ही और दूसरा भोजनके बिना क्षुधा तृषाका और क्लेश हो गया [कम्माण णिज्जरणं णेव] कर्मोका निर्जरण तो नही हुआ।

भावार्थः—आहारको तो छोड़े और विषय कषाय आरम्भको न छोड़े उसके पहिले तो क्लेश था ही और दूसरा क्लेश भूख प्यासका और हो गया ऐसे उपवासमे कर्मकी निर्जरा कैसे हो? कर्मकी निर्जरा तो सब क्लेश छोड़कर साम्यभाव करनेसे होती है।

अब अवमौदर्य तपको दो गाथाओसे कहते है—

आहारगिद्धिरहिओ, चरियामग्गेण पासुगं जोग्गं।
अप्पयरं जो भुञ्जइ, अवमोदरियं तवं तस्स ॥४४१॥

अन्वयार्थः—[जो आहारगिद्धिरहिओ] जो तपस्वी आहारकी अतिचाहसे रहित होकर [चरियामग्गेण जोग्गं पासुगं] शास्त्रोक्त चर्याकी विधिसे योग्य प्रासुक आहार [अप्पयरं भुंजइ] अति अल्प लेता है [तस्स अवमोदरियं तवं] उसके अवमौदर्य तप होता है।

भावार्थः—मुनि आहारके छियालीस दोष, बत्तीस अन्तराय टालकर चौदह मल रहित प्रासुक, योग्य भोजन लेते है तो भी ऊनोदर तप करते है, अपने आहारके प्रमाणसे थोड़ा लेते है। एक ग्राससे बत्तीस ग्रास तक आहारका प्रमाण कहा गया है उसमे इच्छानुसार घटाकर लेना सो अवमौदर्य तप है।

जो पुण कित्तिणिमित्तं, मायाए मिट्ठभिक्खलाहट्ठं ।
अप्पं भुञ्जदि भोज्जं, तस्स तवं णिप्फलं बिदियं ॥४४२॥

अन्वयार्थः—[जो पुण कित्तिणिमित्तं] जो मुनि कीर्तिके निमित्त तथा [मायाए मिट्ठभिक्खलाहट्ठं] माया (कपट) से और मिष्ट भोजनके लाभके लिए [अप्प भोज्जं भुंजदि] अल्प भोजन करता है (तपका नाम करता है) [तस्स बिदियं तवं णिप्फलं] उसके दूसरा अवमौदर्य तप निष्फल है।

भावार्थः—जो ऐसा विचार करे कि अल्प भोजन करनेसे मेरी कीर्ति होगी तथा कपटसे लोगोंको धोखा देकर कुछ प्रयोजन सिद्ध कर लूंगा और थोड़ा भोजन करने पर भोजन मिष्ट रससहित मिलेगा ऐसे अभिप्रायोसे ऊनोदर तप करे तो वह निष्फल है। यह तप नही, पाखण्ड है।

अब वृत्तिपरिसंख्यान तपको कहते है—

एगादिगिहपमाणं, किं वा संकप्पकप्पियं विरसं ।
भोज्जं पसु व्व भुंजदि, वित्तिपमाणं तवो तस्स ॥४४३॥

अन्वयार्थः—[एगादिगिहपमाण] जब मुनि आहारके लिये चले तब पहिले मनमें ऐसी प्रतिज्ञा करे कि आज एक ही घर आहार मिलेगा तो लेंगे, नही तो लौट आवेगे तथा दो घर तक जायेगे [किं वा सकप्पकप्पिय विरसं] एक रसकी, देनेवालेकी, पात्रकी प्रतिज्ञा करे कि ऐसा दातार ऐसी रीतिसे ऐसे पात्रमे लेकर देगा तो लेगे तथा आहारकी प्रतिज्ञा करे कि सरस नीरस या अमुक अन्न मिलेगा तो लेगे इत्यादि वृत्तिकी

संख्या (गणना) प्रतिज्ञा मनमें विचार कर चले वैसी ही विधि मिले तो आहार ले अन्यथा न ले [भोज्जं पसु व्व भुंजदि] और आहार पशु गौ आदि की तरह करे (जैसे गौ इधर उधर नही देखती है चरने हो की तरफ देखतो है) [तस्स वित्तिपमाणं तवो] उसके वृत्तिपरिसख्यान तप है ।

भावार्थः—भोजनकी आशाको निराश करनेंके लिये यह तप है । सकल्प माफिक विधि मिलना दैवयोग है, यह बड़ा कठिन तप महामुनि करते है ।

अब रसपरित्याग तपको कहते है—

संसारदुक्खतट्ठो, विससमविसयं विचिंतमाणो जो ।
णीरसभोज्जं भुंजइ, रसचाओ तस्स सुविसुद्धो ॥४४४॥

अन्वयार्थः—[जो संसारदुक्खतट्ठो विससमविसय विचिंतमाणो] जो मुनि ससारके दु खसे तप्तायमान होकर ऐसे विचार करता है कि इन्द्रियोके विषय विषसमान है विष खाने पर तो एक ही बार मरता है और विषय सेवन करने पर बहुत जन्म मरण होते है ऐसा विचार कर [णीरसभोज्जं भुंजइ] नीरस भोजन करता है [तस्स रसचाओ सुविसुद्धो] उसके रसपरित्याग तप निर्मल होता है ।

भावार्थः—रस छह प्रकारके है—घृत, तैल, दधि (दही) मिष्ट (मीठा) लवण (नमक) दुग्ध (दूध) और खट्टा, खारा, मीठा, कडुआ, तीखा, कसायला ये भी रस* कहे गये है इनका दृढतानुसार त्याग करना, एक दो या सब रसोको छोड़ना रसपरित्याग है । यहाँ कोई पूछता है कि मनहीमे त्याग करनेके कारण रसपरित्यागको कोई नही जानता है और ऐसे ही वृत्तिपरिसख्यान होता है तब इसमे और उसमे क्या विशेषता है ? इसका समाधान—

वृत्तिपरिसख्यानमे तो अनेक प्रकारका त्याग है यहाँ केवल रसहीका त्याग है यह विशेषता है । दूसरी विशेषता यह है कि रसपरित्याग तो बहुत दिनका भी होता है उसको श्रावक जान भी जाता है और वृत्तिपरिसख्यान बहुत दिनका नही होता है ।

---

* मूलाचार पचाचाराधिकार गा० १५५ ।

अब विविक्तशय्यासन तपको कहते है—

जो रायदोसहेदू आसणसिज्जादियं परिच्चयइ ।
अप्पा णिव्विसय सया, तस्स तवो पंचमो परमो ॥ ४४५॥

अन्वयार्थः—[जो रायदोसहेदू आसणसिज्जादियं परिच्चयइ] जो मुनि रागद्वेषके कारण आसन शय्या आदिको छोड़ता है [अप्पा णिव्विसय सया] तथा सदा अपने आत्मस्वरूपमें रहता है और इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होता है [तस्स पंचमो तवो परमो] उस मुनिके पाँचवाँ तप विविक्तशय्यासन उत्कृष्ट होता है ।

भावार्थः—आसन (बैठनेका स्थान) और शय्या (सोनेका स्थान) आदि शब्दसे मलमूत्रादि क्षेपण करनेका स्थान ऐसा हो जहाँ रागद्वेष उत्पन्न न हो और वीतरागता बढे ऐसे एकान्त स्थानमें सोवे बैठे क्योंकि मुनियोंको अपना आत्मस्वरूप साधना है, इन्द्रियविषय नही सेवन करने है इसलिये एकान्त स्थान कहा गया है ।

पूजादिसु णिरवेक्खो, संसारसरीरभोगणिव्विण्णो ।
अब्भंतरतवकुसलो, उवसमसीलो महासंतो ॥४४६॥
जो णिवसेदि मसाणे, वणगहणे णिज्जणे महाभीमे ।
अण्णत्थ वि एयंते, तस्स वि एदं तवं होदि ॥४४७॥

अन्वयार्थः—[जो पूजादिसु णिरवेक्खो] जो महामुनि पूजा आदिमे निरपेक्ष है, अपनी पूजा महिमादि नही चाहता है [संसारसरीरभोगणिव्विण्णो] ससार, शरीर और भोगोंसे विरक्त है [अब्भंतरतवकुसलो] स्वाध्याय ध्यान आदि अन्तरंग तपोमे प्रवीण है, ध्यानाध्ययनका निरन्तर अभ्यास रखता है [उवसमसीलो] उपशमशील मन्दकषायरूप शान्तपरिणाम ही है स्वभाव जिसका ऐसा है तथा [महासंतो] महा पराक्रमी है, क्षमादिपरिणाम युक्त है [मसाणे वणगहणे णिज्जणे महाभीमे अण्णत्थ वि एयंते णिवसेदि] श्मशानभूमिमें, गहन वनमें, निर्जन स्थानमें, महाभयानक उद्यानमें और अन्य भी ऐसे एकान्त स्थानोमे रहता है [तस्स वि एदं तवं होदि] उसके निश्चयसे यह विविक्तशय्यासन तप होता है ।

भावार्थः—महामुनि विविक्तशय्यासन तप करते है । वे ऐसे एकान्त स्थानोमे सोते बैठते है जहाँ चित्तमें क्षोभ करनेवाले कोई भी पदार्थ नही होते है जैसे शून्य गृह,

गिरिकी गुफा, वृक्षके मूल तथा स्वयमेव गृहस्थोके बनाये हुए उद्यानमें वसतिकादि देवमन्दिर और श्मशानभूमि इत्यादि एकान्त स्थानोमें ध्यानाध्ययन करते है क्योकि शरीरसे तो निर्ममत्व है, विषयोसे विरक्त है और अपने आत्मस्वरूपमे अनुरक्त है वे ही मुनि विविक्तशय्यासनतपसंयुक्त है ।

अब कायक्लेश तपको कहते है—

दुस्सहउवसग्गजई, आतावणसीयवायखिण्णो वि ।
जो ण वि खेदं गच्छदि, कायकिलेसो तवो तस्स ॥४४८॥

अन्वयार्थः—[जो दुस्सहउवसग्गजई] जो मुनि दु:सह उपसर्गको जीतने वाला है [आतावणसीयवायखिण्णो वि] आताप शीत वात पीडित होकर भी खेदको प्राप्त नही होता है [खेदं वि ण गच्छदि] चित्तमे क्षोभ (क्लेश) भी नही करता है [तस्स कायकिलेसो तवो] उस मुनिके कायक्लेश नामक तप होता है ।

भावार्थः—महामुनि ग्रीष्मकालमें तो पर्वतके शिखर आदि पर जहाँ सूर्यकी किरणोका अत्यन्त आताप होता है, नीचे भूमि शिलादिक तप्तायमान होती है वहाँ आतापनयोग धारण करते है । शीतकालमे नदी आदिके किनारे पर खुले मैदानोमें जहाँ अत्यन्त शीत पडती है डाहेसे वृक्ष भी जल जाते हैं वहाँ खड़े रहते है और चातुर्मासमें वर्षा बरसती है, प्रचण्ड पवन चलता है, दशमशक काटते हैं ऐसे समयमे वृक्षके नीचे योग धारण करते है, अनेक विकट आसन करते है ऐसे अनेक कायक्लेशके कारण मिलाते है और साम्यभावसे चलायमान नही होते है क्योकि अनेकप्रकारके उपसर्गके जीतनेवाले है इसलिये जिनके चित्तमे खेद उत्पन्न नही होता है, अपने स्वरूपके ध्यानमे लगे रहते है उनके कायक्लेश नामका तप होता है । जिनके काय तथा इन्द्रियोमे ममत्व होता है उनके चित्तमें क्षोभ होता है । ये मुनि सबसे निस्पृह रहते हैं इनको किसका खेद हो ? ऐसे छह प्रकारके बाह्य तपका वर्णन किया ।

अब छहप्रकारके अन्तरग तपका व्याख्यान करेगें । पहिले प्रायश्चित्त नामक तपको कहते है—

दोसं ण करेदि सयं, अण्णं पि ण कारएदि जो तिविहं ।
कुव्वाणं पि ण इच्छदि, तस्स विसोही परा होदि ॥४४९॥

अन्वयार्थः—[जो तिविह सय दोस ण करेदि अण्णं पि ण कारएदि] जो मुनि मनवचनकायसे स्वय दोष नही करता है, दूसरेसे भी दोष नही कराता है और [कुव्वाणं पि ण इच्छदि] करते हुएको भी अच्छा नही मानता है [तस्स परा विसोही होदि] उसके उत्कृष्ट विशुद्धि होती है ।

भावार्थः—यहाँ विशुद्धि नाम प्रायश्चित्तका है क्योकि 'प्राय.' शब्दसे तो प्रकृष्ट चारित्रका ग्रहण है ऐसा चारित्र जिसके होता है सो 'प्राय.' कहिये साधु लोक; उसका चित्त जिस कार्यमे होता है उसको प्रायश्चित्त कहते है इसलिये जो आत्माकी विशुद्धि करता है सो प्रायश्चित्त है । दूसरा अर्थ ऐसा भी है कि प्राय. नाम अपराधका है उसका चित्त कहिये शुद्ध करना सो प्रायश्चित्त कहलाता है । इस तरह पहिले किये हुए अपराधोकी शुद्धता जिससे होती है सो प्रायश्चित्त है । ऐसे जो मुनि मनवचनकाय कृतकारितअनुमोदनासे दोष नही लगाता है उसके उत्कृष्ट विशुद्धता होती है । यही प्रायश्चित ×नामका तप है ।

अह कह वि पमादेण य, दोसो जदि एदि तं पि पयडेदि ।
णिद्दोससाहुमूले, दसदोसविवज्जिदो होदुं ॥४५०॥

अन्वयार्थः—[अह कह वि पमादेण य दोसो जदि एदि त पि] अथवा किसी प्रमादसे अपने चारित्रमे दोष आया हो तो उसको [णिद्दोससाहुमूले दसदोसविवज्जिदो होदुं पयडेदि] निर्दोष आचार्यके पास दस दोषोसे रहित होकर प्रकट करे, आलोचना करे ।

भावार्थः—अपने चारित्रमे दोष प्रमादसे लग गया हो तो आचार्यके पास जाकर दसदोषरहित आलोचना करे । +प्रमाद—५ इन्द्रिय, १ निद्रा, ४ कषाय, ४ विकथा, १ स्नेह ये पाँच इनके पन्द्रह भेद है । भगोकी अपेक्षा बहुत भेद होते है

× यत्याचारोक्त दशप्रकार प्रायश्चित्तं । मूलाचार–पचाचार
आलोयण पडिकमण, उभय विवेगो तहा विओसग्गो ।
तवछदो मूल पि य, परिहारो चेव सद्दहण ॥ १६५ ॥

+ विकहा तहा कषाया, इन्दिय णिद्दा तहेव पणओ य ।
चउ चउ पण मेगेग, होदि पमादा हु पण्णरसा ॥ गो० जी० ३४

उनसे दोष लगते है आलोचनाके दस –ं–दोष है—१ आकम्पित, २ अनुमानित, ३ बादर, ४ सूक्ष्म, ५ दृष्ट, ६ प्रच्छन्न, ७ शब्दाकुलित, ८ बहुजन, ९ अव्यक्त, १० तत्सेवो। आचार्यको उपकरणादि देकर, अपने प्रति करुणा उत्पन्न कर आलोचना करे कि ऐसा करनेसे थोडा प्रायश्चित्त देंगे, ऐसा विचार करना आकम्पितदोष है। वचनहीसे आचार्योकी बडाई आदि कर आलोचना करे, अभिप्राय ऐसा रक्खे कि आचार्य मुझसे प्रसन्न रहेंगे तो थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे, यह अनुमानितदोष है। प्रत्यक्ष दृष्टिदोष हो सो कहे, अदृष्ट न कहे यह दृष्टदोष है। स्थूल (बडा) दोष तो कहे सूक्ष्म न कहे सो बादरदोष है। सूक्ष्म दोष ही कहे, बादर न कहे यह बतावे कि इसने सूक्ष्म ही कह दिया सो बादर क्यो छिपाता यह सूक्ष्मदोष है। छिपाकर ही कहे, कोई दूसरा अपना दोष कहे तब कहे कि ऐसा ही दोष मेरे लगा है उसका नाम प्रगट न करे सो प्रच्छन्न-दोष है। बहुत शब्दके कोलाहलमे दोष कहे, अभिप्राय ऐसा रक्खे कि कोई और न सुनें सो शब्दाकुलितदोष है। एक गुरुके पास आलोचना कर फिर अन्यगुरुके पास आलोचना करे अभिप्राय ऐसा रक्खे कि इसका प्रायश्चित्त अन्य गुरु क्या बतावे सो बहुजनदोष है। जो दोष व्यक्त हो सो कहे, अभिप्राय ऐसा रक्खे कि यह दोष छिपानेसे नही छिपेगा अत: कहना ही चाहिये सो अव्यक्तदोष है। अन्य मुनिको लगे हुए दोषकी गुरुके पास आलोचना कर प्रायश्चित्त लिए हुए देखकर उसके समान अपनेको दोष लगा हो तो उसको प्रगट न करनेके अभिप्रायसे उसकी आलोचना गुरुके पास न करे आप ही प्रायश्चित्त ले लेवे सो तत्सेवीदोष है। इस तरह दस दोषरहित सरलचित्त होकर बालकके समान आलोचना करे।

जं किं पि तेण दिण्णं, तं सव्वं सो करेदि सद्धाए।
णो पुण हियए संकदि, किं थोवं किं पि बहुयं वा ॥४५१॥

अन्वयार्थः—[जं किं पि तेण दिण्ण तं सव्वं सो सद्धाए करेदि] दोषोंकी आलोचना करनेके बादमे जो कुछ आचार्यने प्रायश्चित्त दिया हो उस सबही को श्रद्धापूर्वक करे [पुण हियए णो संकदि किं थोवं किमु बहुयं वा] और हृदयमे ऐसी शका न करे कि यह प्रायश्चित्त दिया सो थोड़ा है या बहुत है।

–ं– आकम्पिय अणुमाणिय, ज दिट्ठ बादर च सुहम च।
छण्ण सद्दाउलिय, बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥
(भगवती आरा० पृ० २५७ तथा मूला० भा० २ शीलगुणाधिकार गा० १५)

भावार्थः—तत्त्वार्थसूत्रमें प्रायश्चित्तके नौ भेद कहे है—१ आलोचन, २ प्रतिक्रमण, ३ तदुभय, ४ विवेक, ५ व्युत्सर्ग, ६ तप, ७ छेद, ८ परिहार, ९ उपस्थापना। दोषका यथावत् कहना आलोचना है। दोषका मिथ्या कराना प्रतिक्रमण है। आलोचन प्रतिक्रमण दोनों कराना तदुभय है। आगामी त्याग कराना विवेक है। कायोत्सर्ग कराना व्युत्सर्ग है। अनशनादि तप कराना तप है। दीक्षा छेदन—बहुत दिनके दीक्षितको थोड़े दिनका करना छेद है। सघके बाहर करना परिहार है। फिरसे नवीन दीक्षा देना उपस्थापना है। इनके भी अनेक भेद है। इसलिये देश, काल, अवस्था, सामर्थ्य, दोषका विधान देखकर यथाविधि आचार्य प्रायश्चित्त देते है उसको श्रद्धासे स्वीकार करे, उसमें सशय न करे।

पुणरवि काउं णेच्छदि, तं दोसं जइ वि जाइ सयखंडं।
एवं णिच्चयसहिदो, पायच्छित्तं तवो होदि ॥४५२॥

अन्वयार्थः—[पुणरवि तं दोसं काउं णेच्छदि जइ वि सयखंडं जाइ] लगें हुए दोषका प्रायश्चित्त लेकर उस दोषको करना न चाहे, यदि अपने सौ टुकड़े भी हो जाँय तो भी न करे [एवं णिच्चयसहिदो पायच्छित्तं तवो होदि] ऐसे निश्चयसहित प्रायश्चित्त नामक तप होता है।

भावार्थः—ऐसा दृढचित्त करे कि अपने शरीरके सौ टुकड़े भी हो जाँय तो भी लगे हुए दोषको फिर न लगावे सो प्रायश्चित्त तप है।

जो चिंतइ अप्पाणं, णाणसरूवं पुणो पुणो णाणी।
विकहादिविरत्तमणो, पायच्छित्तं वरं तस्स ॥४५३॥

अन्वयार्थः—[जो णाणी अप्पाणं णाणसरूव पुणो पुणो चिंतइ] जो ज्ञानी मुनि आत्माको ज्ञानस्वरूप बारम्बार चितवन करता है [विकहादिविरत्तमणो] और विकथादिक प्रमादोंसे विरक्त होता हुआ ज्ञान ही का निरन्तर सेवन करता है [तस्स वरं पायच्छित्तं] उसके श्रेष्ठ प्रायश्चित्त होता है।

भावार्थः—निश्चय प्रायश्चित्त यह है जिसमें सब प्रायश्चित्तके भेद गर्भित है कि प्रमादसे रहित होकर अपना शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्माका ध्यान करना जिससे सब पापोंका प्रलय (नाश) होता है। इस तरह प्रायश्चित्त नामक अभ्यन्तर तपके भेदका वर्णन किया।

अब विनय तपको तीन गाथाओंमे कहते है—

विणयो पंचपयारो, दंसणणाणे तहा चरित्ते य ।
वारसभेयम्मि तवे, उवयारो बहुविहो णेओ ॥४५४॥

अन्वयार्थः—[विणयो पचपयारो] विनय पाँच प्रकारका है [दंसणणाणे तहा चरित्ते य] दर्शनमे, ज्ञानमे तथा चारित्रमे और [वारसभेयम्मि तवे] बारह प्रकारके तपमे विनय [उवयारो बहुविहो णेओ] और उपचार विनय इसप्रकार यह अनेकप्रकारका जानना चाहिये ।

दंसणणाणचरित्ते, सुविसुद्धो जो हवेइ परिणामो ।
वारसभेदे वि तवे, सो च्चिय विणओ हवे तेसिं ॥४५५॥

अन्वयार्थः—[दंसणणाणचरित्ते] दर्शनज्ञानचारित्रमे [वारसभेदे वि तवे] और बारहप्रकारके तपमे [जो सुविसुद्धो परिणामो हवेइ] जो विशुद्ध परिणाम होते है [सो च्चिय तेसि विणओ हवे] वह ही उनका विनय है ।

भावार्थः—सम्यग्दर्शनके शकादिक अतिचाररहित परिणाम सो दर्शन विनय है । ज्ञानका संशयादिरहित परिणामसे अष्टाग अभ्यास करना सो ज्ञानविनय है । चारित्रको अहिसादिक परिणामसे अतिचाररहित पालना सो चारित्रविनय है । तपके भेदोका देखभालकर दोषरहित पालन करना सो तपविनय है ।

रयणत्तयजुत्ताणं, अणुकूलं जो चरेदि भत्तीए ।
भिच्चो जह रायाणं, उवयारो सो हवे विणओ ॥४५६॥

अन्वयार्थः—[जह रायाण भिच्चो] जैसे राजाके नौकर राजाके अनुकूल प्रवृत्ति करते हैं वैसे ही [जो रयणत्तयजुत्ताण अणुकूलं भत्तीए चरेदि] जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) के धारक मुनियोके अनुकूल भक्तिपूर्वक आचरण (प्रवृत्ति) करता है [सो उवयारो विणओ हवे] सो उपचार विनय है ।

भावार्थः—जैसे राजाके नौकर लोग राजाके अनुकूल प्रवृत्ति करते है, उसकी आज्ञा मानते है, प्रत्यक्षमे देखकर उठ खड़े हो जाते है, सामने जाकर हाथ जोडते है, प्रणाम करते है, चले तब पीछे २ चलते है, उसकी पोशाक आदि उपकरण सजाते है

वैसे ही मुनियोंकी भक्ति करना, विनय करना, उनकी आज्ञा मानना, प्रत्यक्षमें देखे तब उठकर सम्मुख हो हाथ जोड़ प्रणाम करे, चले तब पीछे पीछे चले, उपकरण सभाले इत्यादिक उनका विनय करे सो उपचार विनय है ।

अब वैयावृत्य तपको दो गाथाओमें कहते है—

जो उवयरदि जदीणं, उवसग्गजराइखीणकायाणं ।
पूजादिसु णिरवेक्खं, वेज्जावच्चं तवो तस्स ॥४५७॥

अन्वयार्थः—[जो] जो [पूजादिसु णिरवेक्खं] अपनी पूजा (महिमा) आदिमें अपेक्षा (वाछा) रहित होकर [उवसग्गजराइखीणकायाण जदीण उवयरदि] उपसर्गपीड़ित तथा जरा रोगादिसे क्षीणकाय यातियोका अपनी चेष्टासे, उपदेशसे और अल्प वस्तुसे उपकार करता है [तस्स वेज्जावच्च तवो] उसके वैयावृत्य नामक तप होता है ।

भावार्थः—निस्पृह होकर मुनियोकी सेवा करना वैयावृत्य है । आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, सघ, साधु, मनोज्ञ ये दस प्रकारके यति वैयावृत्य करने योग्य कहे गये है । इनका यथायोग्य अपनी शक्ति अनुसार वैयावृत्य करना चाहिये ।

जो वावरइ सरूवे, समदम भावम्मि सुद्धिउवजुत्तो ।
लोयववहारविरदो, वेज्जावच्चं परं तस्स ॥४५८॥

अन्वयार्थः—[जो समदम भावम्मि वावरइ सरूवे सुद्धिउवजुत्तो] जो मुनि शमदमभावरूप अपने आत्मस्वरूपमे शुद्धोपयोगमय प्रवृत्ति करता है और [लोयववहार-विरदो] लोकव्यवहार (बाह्य वैयावृत्य) से विरक्त होता है [तस्स परं वेज्जावच्चं] उसके उत्कृष्ट (निश्चय) वैयावृत्य होता है ।

भावार्थः—जो मुनि सम (रागद्वेषरहित साम्यभाव) और दम (इन्द्रियोको विषयोमें न जाने देना) भावरूप अपने आत्मस्वरूपमे लीन होता है उसके लोकव्यव-हाररूप बाह्य वैयावृत्य किस लिये हो ? उसके तो निश्चय वैयावृत्य ही होता है । शुद्धोपयोगी मुनियोंकी यह रीति है ।

अब स्वाध्याय तपको छह गाथाओसे कहते हैं—

परतत्तीणिरवेक्खो, दुट्ठवियप्पाण णासणसमत्थो ।
तच्चविणिच्छयहेदू, सज्झाओ ज्झाणसिद्धियरो ॥४५९॥

अन्वयार्थः—[परतत्तीणिरवेक्खो] जो मुनि दूसरेकी निन्दामें निरपेक्ष (वांछारहित) होता है [दुट्ठवियप्पाण णासणसमत्थो] मनके दुष्ट विकल्पोका नाश करनेमें समर्थ होता है [तच्चविणिच्छयहेदू] उसके तत्त्वके निश्चय करनेका कारण और [ज्झाणसिद्धियरो] ध्यानकी सिद्धि करनेवाला [सज्झाओ] स्वाध्याय नामक तप होता है ।

भावार्थः—जो परकी निन्दा करनेमें परिणाम रखता है और आर्त्तरौद्रध्यानरूप खोटे विकल्प मनमे चितवन किया करता है उसके शास्त्रोका अभ्यासरूप स्वाध्याय कैसे हो ? इसलिये इनको छोड़कर जो स्वाध्याय करता है उसके तत्त्वका निश्चय होता है और धर्म शुक्ल ध्यानकी सिद्धि होती है, ऐसा स्वाध्याय तप है ।

पूयादिसु णिरवेक्खो, जिणसत्थं जो पढेइ भत्तीए ।
कम्ममलसोहणट्ठं, सुयलाहो सुहयरो तस्स ॥४६०॥

अन्वयार्थः—[जो पूयादिसु णिरवेक्खो] जो मुनि अपनी पूजा आदिमे निरपेक्ष (वांछारहित) होता है और [कम्ममलसोहणट्ठं] कर्मरूपी मैलका नाश करनेके लिए [भत्तीए जिणमत्थं पढेइ] भक्तिपूर्वक जिनशास्त्रको पढता है [तस्स सुयलाहो सुहयरो] उसको श्रुतका लाभ सुखकारी होता है ।

भावार्थः—जो पूजा महिमा आदिके लिये शास्त्रको पढता है उसको शास्त्रका पढना सुखकारी नही है । अपने कर्मक्षयके निमित्त जिन—शास्त्रोको पढे उसको ही सुखकारी है ।

जो जिणसत्थं सेवदि, पंडियमाणी फलं समीहंतो ।
साहम्मियपडिकूलो, सत्थं पि विसं हवे तस्स ॥४६१॥

अन्वयार्थः—[जो जिणसत्थं सेवदि फलं समीहंतो] जो पुरुष जिनशास्त्र तो पढता है और अपनी पूजा लाभ और सत्कारको चाहता है [साहम्मियपडिकूलो] तथा

साधर्मी—सम्यग्दृष्टि जैनियोंके प्रतिकूल (विपरीत) है [पंडियमाणी] सो पंडितमन्य है (जो पण्डित तो होता नही है और अपनेको पण्डित मानता है उसको पण्डितमन्य कहते है) [तस्स सत्थं पि विसं हवे] उसके वह ही शास्त्र विषरूप परिणमता है ।

भावार्थः—जैनशास्त्र पढकर भी तीव्रकषायी भोगाभिलाषी हो जैनियोसे प्रतिकूल रहे ऐसे पण्डितमन्यके शास्त्र ही विष हुआ कहना चाहिये, यदि यह मुनि भी होवे तो भेषी पाखण्डी ही कहलाता है ।

जो जुद्धकामसत्थं, रायदोसेहिं परिणदो पढइ ।
लोयावंचणहेदुं, सज्झाओ णिप्फलो तस्स ॥४६२॥

अन्वयार्थः—[जो जुद्धकामसत्थं रायदोसेहिं परिणदो] जो पुरुष युद्धके शास्त्र कामकथाके शास्त्र रागद्वेषपरिणामसे [लोयावंचणहेदु पढइ] लोगोको ठगनेके लिये पढता है [तस्स सज्झाओ णिप्फलो] उसका स्वाध्याय निष्फल है ।

भावार्थः—जो पुरुष युद्धके, कामकौतूहलके, मन्त्र ज्योतिष वैद्यक आदिके लौकिक शास्त्र लोगोंको ठगनेके लिये पढता है उसके कैसा स्वायाय है ? यहाँ कोई पूछता है कि मुनि और पण्डित तो सब ही शास्त्र पढ़ते है वे किसलिए पढ़ते है इसका समाधान—

रागद्वेषसे अपने विषय आजीविका पुष्ट करनेको, लोगोंको ठगनेको पढनेका निषेध है । जो धर्मार्थी होकर कुछ प्रयोजन जान इन शास्त्रोको पढे, ज्ञान बढाना, परोपकार करना, पुण्यपापका विशेष निर्णय करना, स्व पर मतकी चर्चा जानना, पण्डित हो तो धर्मकी प्रभावना हो कि जैनमतमे ऐसे पण्डित है इत्यादि प्रयोजन है उसका निषेध नही है । दुष्ट अभिप्रायसे पढनेका निषेध है ।

जो अप्पाणं जाणदि, असुइसरीरादु तच्चदो भिण्णं ।
जाणगरूवसरूवं, सो सत्थं जाणदे सव्वं ॥४६३॥

अन्वयार्थः—[जो अप्पाणं असुइसरीरादु तच्चदो भिण्णं] जो मुनि अपनी आत्माको इस अपवित्रशरीरसे भिन्न [जाणगरूवसरूव जाणदि] ज्ञायकरूप स्वरूप जानता है [सो सव्वं सत्थं जाणदे] वह सब शास्त्रोको जानता है ।

भावार्थः—जो मुनि शास्त्र अभ्यास अल्प भी करता है और अपनी आत्माका रूप ज्ञायक–देखने जानने वाला, इस अशुचि शरीरसे भिन्न, शुद्ध उपयोगरूप होकर जानता है वह सबही शास्त्र जानता है। अपना स्वरूप न जाना और बहुत शास्त्र पढे तो क्या साध्य है ?

जो णवि जाणदि अप्पं, णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं।
सो णवि जाणदि सत्थं, आगमपाढं कुणंतो वि ॥४६४॥

अन्वयार्थः—[जो अप्पं णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं णवि जाणदि] जो मुनि अपनी आत्माको ज्ञानस्वरूपी, शरीरसे भिन्न नही जानता है [सो आगमपाढं कुणंतो वि सत्थं णवि जाणदि] सो आगमका पाठ करे तो भी शास्त्रको नही जानता है।

भावार्थः—जो मुनि शरीरसे भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्माको नही जानता है वह बहुत शास्त्र पढता है तो भी बिना पढ़ा ही है। शास्त्रके पढनेका सार तो अपना स्वरूप जानकर रागद्वेष रहित होना था सो पढकर भी ऐसा नहीं हुआ तो क्या पढा ? अपना स्वरूप जानकर उसमे स्थिर होना सो निश्चय–स्वाध्यायतप है। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ऐसे पाँच प्रकारका व्यवहारस्वाध्याय है सो यह व्यवहार निश्चयके लिये हो तो वह व्यवहार भी सत्यार्थ है और बिना निश्चयके व्यवहार सारहीन (थोथा) है।

अब व्युत्सर्ग तपको कहते है—

जल्लमललित्तगत्तो, दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारो।
मुहधोवणादिविरओ, भोयणसेज्जादिणिरवेक्खो ॥४६५॥
ससरूवचिंतणरओ, दुज्जणसुयणाण जो हु मज्झत्थो।
देहे वि णिम्ममत्तो, काओसग्गो तवो तस्स ॥४६६॥

अन्वयार्थः—[जो जल्लमललित्तगत्तो] जो मुनि जल्ल (पसेव) और मलसे तो लिप्त शरीर हो [दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारो] असह्य तीव्र रोग आने पर भी उसका प्रतीकार (इलाज) न करता हो [मुहधोवणादिविरओ] मुँह धोना आदि शरीरके सस्कारसे विरक्त हो [भोयणसेज्जादिणिरवेक्खो] भोजन और शय्या आदिकी वाछा

रहित हो [ससरूवचिंतणरओ] अपने स्वरूपके चितवनमें रत (लीन) हो [दुज्जणसुयणाण हु मज्झत्थो] दुर्जन सज्जनमे मध्यस्थ हो (शत्रु मित्र बराबर जानता हो) [देहे वि णिम्ममत्तो] अधिक क्या कहें, देहमें भी ममत्वरहित हो [तस्स काओसग्गो तवो] उसके कायोत्सर्ग नामक तप होता है ।

भावार्थः—जब मुनि कायोत्सर्ग करता है तब सब बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह त्याग कर, सब बाह्य आहारविहारादिक क्रियासे रहित हो, कायसे ममत्व छोड़, अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामें, रागद्वेषरहित, शुद्धोपयोगरूप हो लीन होता है उस समय यदि अनेक उपसर्ग आवे, रोग आवे, कोई शरीरको काट ही डाले तो भी अपने स्वरूपसे चलायमान नही होता है, किसीसे रागद्वेष नही करता है उसके कायोत्सर्ग तप होता है ।

जो देहधारणपरो, उवयरणादिविसेससंसत्तो ।
बाहिरववहाररओ, काओसग्गो कुदो तस्स ॥४६७॥

अन्वयार्थः—[जो देहधारणपरो] जो मुनि देहका पालन करनेमें तत्पर हो [उवयरणादीविसेससंसत्तो] उपकरणादिकमे विशेष ससक्त हो [बाहिरववहाररओ] और बाह्य व्यवहार (लोकरजन) करनेमे रत हो (तत्पर हो) [तस्स काओसग्गो कुदो] उसके कायोत्सर्ग तप कैसे हो ?

भावार्थः—जो मुनि बाह्य व्यवहार पूजा प्रतिष्ठा आदि तथा ईर्यासमिति आदि क्रियाओमे (जिनसे लोग जाने कि यह मुनि है) तत्पर हो, देहका आहारादिकसे पालन करना, उपकरणादिकका विशेष सँवारना (सजाना), शिष्यजनोसे बहुत ममत्व रखकर प्रसन्न होना इत्यादिमे लीन हो और अपने स्वरूपका यथार्थ अनुभव जिसके नही है, उसमे कभी लीन होता ही नही है यदि कायोत्सर्ग भी करता है तो खड़े रहना आदि बाह्य विधान कर लेता है उसके कायोत्सर्ग तप नही होता है, निश्चयके विना बाह्यव्यवहार निरर्थक है ।

अंतो मुहुत्तमेत्तं, लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं ।
झाणं भण्णदि समए, असुहं च सुहं च तं दुविहं ॥४६८॥

अन्वयार्थः—[माणसं णाणं वत्थुम्मि अन्तो मुहुत्तमेत्तं लीणं] जो मनसम्बन्धी ज्ञान वस्तुमे अन्तर्मुहूर्तमात्र लीन होता है (एकाग्र होता है) सो [समए ज्झाणं भण्णदि] सिद्धान्तमें ध्यान कहा गया है [तं च असुहं सुहं च दुविहं] और वह शुभ अशुभके भेदसे दो प्रकारका है ।

भावार्थः—ध्यान परमार्थसे ज्ञानका उपयोग ही है । जो ज्ञानका उपयोग एक ज्ञेय वस्तुमे अन्तर्मुहूर्त्तमात्र एकाग्र ठहरता है सो ध्यान है वह शुभ भी है और अशुभ भी है ऐसे दो प्रकारका है ।

अब शुभ अशुभध्यानके नाम व स्वरूप कहते है—

असुहं अट्ट रउद्दं, धम्मं सुक्कं च सुहयरं होदि ।
अट्टं तिव्वकषायं, तिव्वतमकसायदो रुद्दं ॥४६९॥

अन्वयार्थः—[अट्ट रउद्दं असुहं] आर्तध्यान रौद्रध्यान ये दोनो तो अशुभ ध्यान है [धम्मं सुक्क च सुहयरं होदि] और धर्मध्यान शुक्लध्यान ये दोनो शुभ और शुभतर है [अट्ट तिव्वकषायं] इनमें आदिका आर्त्तध्यान तो तीव्र कषायसे होता है [रुद्द तिव्वतमकसायदो] और रौद्रध्यान अति तीव्र कषायसे होता है ।

मंदकषायं धम्मं, मंदतमकसायदो हवे सुक्कं ।
अकसाए वि सुयड्ढे, केवलणाणे वि तं होदि ॥४७०॥

अन्वयार्थः—[धम्मं मंदकषाय] धर्मध्यान मन्दकषायसे होता है [सुक्क मंदतमकसायदो हवे] शुक्लध्यान अत्यन्त मन्दकषायमें होता है, श्रेणी चढनेवाले महामुनिके होता है [अकसाए वि सुयड्ढे केवलणाणे वि तं होदि] और वह शुक्लध्यान कपायका अभाव होनेपर श्रुतज्ञानी, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, केवलज्ञानी, सयोगी तथा अयोगी जिनके भी होता है ।

भावार्थः—धर्मध्यानमे तो व्यक्तरागसहित पंच परमेष्ठी तथा दसलक्षणस्वरूप धर्म और आत्मस्वरूपमे उपयोग एकाग्र होता है इसलिये इसको मन्दकषाय सहित है ऐसा कहा है । शुक्लध्यानके समय उपयोगमे व्यक्तराग तो नही होता और अपने अनुभवमें न आवे ऐसे सूक्ष्मराग सहित श्रेणी चढ़ता है वहाँ आतमपरिणाम उज्ज्वल

हैं अतः शुचि गुणके योगसे शुक्ल कहा है। इसको मन्दतम कषाय अर्थात् अत्यन्त मन्दकषायसे होता है, ऐसा कहा है तथा कषायका अभाव होनेपर होता है ऐसा भी कहा है।

अब आर्त्तध्यानको कहते है—

दुक्खयर-विसयजोए, केम इमं चयदि इदि विचिंतंतो।
चेट्ठदि जो विक्खित्तो, अट्टं ज्झाणं हवे तस्स ॥४७१॥
मणहरविसयविओगे, कह तं पावेमि इहि वियप्पो जो।
संतावेण पयट्टो, सो च्चिय अट्टं हवे ज्झाणं ॥४७२॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [दुक्खयरविसयजोए] दुःखकारी विषयका संयोग होने पर [इदि विचिंतंतो] ऐसा चिन्तवन करे कि [इमं केम चयदि] यह मेरे कैसे दूर हो ? [विक्खित्तो चेट्ठदि] और उसके संयोगसे विक्षिप्तचित्त होकर चेष्टा करे, रुदनादि करे [तस्स अट्टं ज्झाणं हवे] उसके आर्त्तध्यान होता है [जो मणहरविसय-विओगे] जो मनोहर विषय सामग्रीका वियोग होने पर [इदि वियप्पो] ऐसा चितवन करे कि [तं कह पावेमि] उसको मैं कैसे पाऊँ [संतावेण पयट्टो] उसके वियोगसे संतापरूप (दुःखस्वरूप) प्रवृत्ति करे [सो च्चिय अट्टं ज्झाणं हवे] वह भी आर्त्त-ध्यान है।

भावार्थः—आर्त्तध्यान सामान्यतया तो दुःखक्लेशरूप परिणाम है। उस दुःखमें लीन रहने पर अन्य कुछ चेत (ज्ञान) नही रहता है। यह दो प्रकारका है। पहिलेमें तो दुखदाई सामग्रीका सयोग होनेपर उसको दूर करनेका ध्यान रहता है। दूसरेमें इष्ट (सुखदाई) सामग्रीका वियोग होने पर उसके मिलनेका चितवन (ध्यान) रहता है सो आर्त्तध्यान है। अन्य ग्रन्थोमे इसके चार भेद कहे गये हैं— इष्टवियोगका चिन्तवन, अनिष्टसयोगका चिन्तवन, पीड़ाका चिन्तवन, निदानबन्धका चिन्तवन। यहाँ दो भेद कहे उनमें ही ये सब गर्भित हो जाते है। अनिष्टसंयोगके दूर करनेमे तो पीड़ाका चितवन आ गया और इष्टके मिलनेकी वाछामें निदानबन्ध आ गया। ये दोनो ध्यान अशुभ हैं, पापबन्ध करते है, धर्मात्मा पुरुषोके त्यागने योग्य हैं।

अब रौद्रध्यानको कहते है—

हिंसाणंदेण जुदो, असच्चवयणेण परिणदो जो दु ।
तत्थेव अथिरचित्तो, रुद्दं झाणं हवे तस्स ॥४७३॥

अन्वयार्थः—[जो हिंसाणंदेण जुदो] जो पुरुष हिसामे आनन्दयुक्त होता है [असच्चवयणेण परिणदो दु] तथा असत्यवचनसे प्रवृत्ति करता रहता है [तत्थेव अथिरचित्तो] और इन्हीमे विक्षिप्तचित्त बना रहता है [तस्स रुद्दं ज्झाण हवे] उसके रौद्रध्यान होता है ।

भावार्थः—हिसा (जीवोका घात) करके अति हर्ष माने, शिकार आदिमे आनन्दसे प्रवृत्ति करे, दूसरेके विघ्न हो तब अति सन्तुष्ट (प्रसन्न) हो और झूठ बोलकर अपनेको प्रवीण माने, दूसरेके दोषोको निरन्तर देखे, कहे और उसमे आनन्द माने इस तरह ये रौद्रध्यानके दो भेद है ।

अब दो भेद और कहते है—

परविसयहरणसीलो, सगीयविसये सुरक्खणे दक्खो ।
तग्गयचिंताविट्ठो, णिरंतरं तं पि रुद्दं पि ॥४७४॥

अन्वयार्थः—[परविसयहरणसीलो] जो पुरुष दूसरेकी विषयसामग्रीको हरण करनेके स्वभाव सहित हो [सगीयविसये सुरक्खणे दक्खो] अपनी विषयसामग्रीकी रक्षा करनेमें प्रवीण हो [तग्गयचिंताविट्ठो णिरतरं] इन दोनो कार्योमे निरन्तर चित्तको लवलीन रखता हो [तं पि रुद्दं पि] उस पुरुषके यह भी रौद्रध्यान ही है ।

भावार्थः—दूसरेकी सम्पत्तिको चुरानेमे प्रवीण हो, चोरी कर हर्ष माने तथा अपनी विषय सामग्रीको रखनेका अति यत्न करे और उसकी रक्षा कर आनन्द माने ऐसे ये दो भेद रौद्रध्यानके हुए । इस तरहसे यह चारो भेदरूप रौद्रध्यान अतितीव्र कषायके योगसे होता है, महापापरूप है, महापापबन्धका कारण है इसलिये धर्मात्मा पुरुष ऐसे ध्यानको दूरहीसे छोड देते है । जितने जगतमे उपद्रवके कारण है वे सव रौद्रध्यानयुक्त पुरुषसे बनते है क्योकि जो पाप करके हर्ष (सुख) मानता है उसको धर्मका उपदेश भी नही लगता है वह तो अति प्रमादी होकर अज्ञानी पापहीमे मस्त रहता है ।

अब धर्मध्यानको कहते हैं—

विण्णि वि असुहे ज्झाणे, पावणिहाणे य दुक्खसंताणे ।
तम्हा दूरे वज्जह, धम्मे पुण आयरं कुणह ॥४७५॥

अन्वयार्थः—[विण्णि विज्झाणे असुहे] हे भव्यजीवों ! आर्त्त और रौद्र ये दोनो ही ध्यान अशुभ है [पावणिहाणे य दुक्खसताणे] पापके निधान और दुःखकी सन्तान [तम्हा दूरे वज्जह] जानकर दूरहीसे छोडो [पुण धम्मे आयरं कुणह] और धर्मध्यानमे आदर करो ।

भावार्थः—आर्त्त रौद्र दोनो ही ध्यान अशुभ है तथा पापसे भरे है और दुःखहीकी संतति इनसे चलती है इसलिये इनको छोडकर धर्मध्यान करनेका श्रीगुरुका उपदेश है ।

अब धर्मका स्वरूप कहते है—

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥४७६॥

अन्वयार्थः—[वत्थुसहावो धम्मो] वस्तुका स्वभाव धर्म है जैसे जीवका स्वभाव दर्शन ज्ञान स्वरूप चैतन्यता सो इसका यही धर्म है [खमादिभावो य दसविहो धम्मो] दस प्रकारके क्षमादिभाव धर्म है [रयणत्तयं य धम्मो] रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) धर्म है [जीवाण रक्खणं धम्मो] और जीवोकी रक्षा करना भी धर्म है ।

भावार्थः—अभेदविवक्षासे तो वस्तुका स्वभाव धर्म है । जीवका चैतन्यस्वभाव ही इसका धर्म है । भेदविवक्षासे दसलक्षण उत्तम क्षमादिक तथा रत्नत्रयादिक धर्म है । निश्चयसे तो अपने चैतन्यकी रक्षा, विभावपरिणतिरूप नही परिणमना है और व्यवहारसे परजीवको विभावरूप, दुःख क्लेशरूप न करना, उसीका भेद जीवका प्राणान्त न करना सो धर्म है ।

अब धर्मध्यान कैसे जीवके होता है सो कहते है—

धम्मे एयग्गमणो, जो ण वि वेदेदि पंचहा विसयं ।
वेरग्गमओ णाणी, धम्मज्झाणं हवे तस्स ॥४७७॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [णाणी] ज्ञानी [धम्मे एयग्गमणो] धर्ममें एकाग्र मन हो प्रवर्ते [पचहा विसयं ण वि वेदेदि] पाँचो इन्द्रियोके विषयोंको नही वेदै [वेरग्गमओ] और वैराग्यमयी हो [तस्स धम्मज्झाणं हवे] उस ज्ञानीके धर्मध्यान होता है ।

भावार्थः—ध्यानका स्वरूप एक ज्ञेयमें ज्ञानका एकाग्र होना है । जो पुरुष धर्ममें एकाग्रचित्त करता है उस काल इन्द्रियविषयोको नही वेदता है उसके धर्मध्यान होता है । इसका मूल कारण ससारदेहभोगसे वैराग्य है, बिना वैराग्यके धर्मंमे चित्त रुकता नही है ।

सुविसुद्धरायदोसो, बाहिरसंकप्पवज्जिओ धीरो ।
एयग्गमणो संतो, जं चिंतइ तं पि सुहज्झाणं ॥४७८॥

अन्वयार्थः—[सुविसुद्धरायदोसो] जो पुरुष रागद्वेषसे रहित होता हुआ [बाहिरसंकप्पवज्जिओ धीरो] बाह्यके सकल्पसे वर्जित होकर, धीरचित्त, [एयग्गमणो [संतो जं चिंतइ] एकाग्रमन होता हुवा जो चिन्तवन करे [तं पि सुहज्झाण] वह भी शुभ ध्यान है ।

भावार्थः—जो रागद्वेषमयी या वस्तुसम्बन्धी संकल्प छोड़ एकाग्रचित्त हो (किसीसे चलायमान करने पर चलायमान न हो) चिन्तवन करता है सो भी शुभध्यान है ।

ससरूवसमुब्भासो, णट्ठममत्तो जिदिंदिओ संतो ।
अप्पाणं चिंतंतो, सुहज्झाणरओ हवे साहू ॥४७९॥

अन्वयार्थः—[ससरूवसमुब्भासो] जिस साधुको अपने स्वरूपका समुद्भास (प्रकट होना) हो गया हो [णट्ठममत्तो] परद्रव्यमे ममत्वभाव जिसका नष्ट हो गया हो [जिदिंदिओ संतो] जितेन्द्रिय हो [अप्पाणं चिंततो] और अपनो आत्माका चिन्तवन करता हुवा प्रवतता हो [साहू सुहज्झाणरओ हवे] वह साधु शुभ ध्यानमे लीन होता है ।

भावार्थः— जिसको अपने स्वरूपका तो प्रतिभास हो गया हो तथा परद्रव्यमे ममत्व नही करता हो और इन्द्रियोको वशमे रखता हो इस तरहसे आत्माका चिन्तवन करनेवाला साधु शुभध्यानमे लीन होता है, दूसरेके शुभध्यान नही होता है ।

वज्जियसयलवियप्पो, अप्पसरूवे मणं णिरुंधंतो ।
जं चिंतदि साणंदं, तं धम्मं उत्तमं ज्झाणं ॥४८०॥

अन्वयार्थः—[जं] जो [वज्जियसयलवियप्पो] समस्त अन्य विकल्पोको छोड़ [अप्पसरूवे मणं णिरुंधंतो] आत्मस्वरूपमें मनको रोककर [साणंद चिंतदि] आनन्द सहित चिन्तवन करता है [तं उत्तमं धम्मं ज्झाणं] सो उत्तम धर्मध्यान है ।

भावार्थः—समस्त अन्य विकल्पोंसे रहित आत्मस्वरूपमें मनको रोकनेसे आनन्दरूप चिन्तवन होता है सो उत्तम धर्मध्यान है। यहाँ संस्कृतटीकाकारने धर्मध्यानका अन्य ग्रन्थोंके अनुसार विशेष कथन किया है उसको सक्षेपसे लिखते है ।

धर्मध्यानके चार भेद हैं, १ आज्ञाविचय, २ अपायविचय, ३ विपाकविचय, ४ संस्थान विचय । जीवादिक छह द्रव्य, पचास्तिकाय, सप्ततत्त्व और नौ पदार्थोका विशेष स्वरूप विशिष्ट गुरुके अभावसे तथा अपनी मन्दबुद्धिके कारण, प्रमाण नय निक्षेपोसे साधन कर सके ऐसा न जाना जा सके तब ऐसा श्रद्धान करे कि जो सर्वज्ञ वीतराग देवने कहा है सो हमे प्रमाण है ऐसे आज्ञा मानकर उसके अनुसार पदार्थोंमें उपयोगको रोकना सो* १ आज्ञाविचय धर्मध्यान है ।

अपायका अर्थ नाश है इसलिये जैसे कर्मोका नाश हो वैसा चिन्तवन करना तथा मिथ्यात्वभाव धर्ममे विघ्नका कारण है इसका चिन्तवन रखना, इसका अपने न होनेका चिन्तवन दूसरेके दूर करनेका चिन्तवन करना सो २ अपायविचय है । विपाकका अर्थ कर्मका उदय है इसलिये जैसा कर्मका उदय हो उसके वैसे ही स्वरूपका चिन्तवन करना सो ३ विपाकविचय है । लोकके स्वरूपका चिन्तवन करना सो ४ सस्थानविचय है । धर्मध्यानके दस भेद भी होते है, १ अपाय विचय, २ उपायविचय, ३ जीवविचय, ४ आज्ञाविचय, ५ विपाकविचय, ६ अजीवविचय, ७ हेतुविचय, ८ विरागविचय, ९ भव विचय, १० सस्थानविचय, ऐसे इन दसोका चिन्तवन सो इन चार भेदोंके ही विशेष भेद किये गये है ।

---

* सूक्ष्मं जिनोदित तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञासिद्ध तु तद्ग्राह्य, नान्यथावादिनो जिना. ॥

पदस्थ❀, पिण्डस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ऐसे भी धर्मध्यान चार प्रकारका होता है । पद अक्षरोके समुदायको कहते है इसलिये परमेष्ठीके वाचक अक्षर जिनकी मत्र सज्ञा है सो उन अक्षरोको प्रधान कर परमेष्ठीका चिन्तवन करे उस समय जिस अक्षरमे एकाग्रचित्त होता है सो उसका ध्यान कहलाता है । णमोकारमत्रके पैंतीस अक्षर है वे प्रसिद्ध × है उनमे मन लगावे तथा उस ही मंत्रको भेदरूप करने पर सक्षिप्त सोलह अक्षर है—"अरहन्त सिद्ध आइरिय, उवज्झाय साहू— । इसहीके भेदरूप 'अरहन्त सिद्ध' ये छह अक्षर है । इसहीका सक्षेप "अ सि आ उ सा" ये आदि अक्षररूप पाँच अक्षर है । "अरहन्त" ये चार अक्षर है । "सिद्ध" अथवा "अर्हं" ये दो अक्षर है । "ॐ" यह एक अक्षर है इसमे पचपरमेष्ठीके सब आदिके अक्षर है । अरहन्तका अकार, अशरीर (सिद्ध) का अकार, आचार्यका आकार, उपाध्यायका उकार, मुनिका मकार ऐसे पाँच अक्षर अ+अ+आ+उ+म्="औम्❖" ऐसा सिद्ध होता है । ये मत्रवाक्य है इसलिये इनके उच्चारणरूपसे मनमे चिन्तवनरूप ध्यान करे तथा इनका वाच्य अर्थ जो परमेष्ठी है उनका अनन्तज्ञानादिरूप स्वरूप विचार कर ध्यान करना । अन्य भी बारह हजार श्लोकरूप नमस्कार ग्रन्थ है उनके अनुसार तथा लघु वृहत् सिद्धचक्र प्रतिष्ठा ग्रन्थोमे मन्त्र कहे गये है उनका ध्यान करना चाहिये । मत्रोका विशेष वर्णन सस्कृत टीकामे है सो वहाँसे जानना । यहाँ संक्षेपसे लिखा है यह सब पदस्थध्यान है ।

पिण्डका अर्थ शरीर है उसमें पुरुषाकार अमूर्त्तीक अनन्तचतुष्टय सहित जैसा परमात्माका स्वरूप है वैसा ही आत्माका चितवन करना सो पिण्डस्थध्यान है । रूप अर्थात् अरहन्तका रूप, समोसरणमे घातिकर्मरहित, चौतीस अतिशय आठ प्रातिहार्य सहित, अनन्तचतुष्टयमंडित, इन्द्रादिसे पूज्य, परम औदारिक शरीर सहित ऐसे अरहन्तका

❀ पदस्थं मत्रवाक्यस्थं, पिण्डस्थ स्वात्मचिन्तन ।
रूपस्थं सर्वचिद्रूप, रूपातीत निरजन ॥

× णमो अरहताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण ।
णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

÷ अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः ।

❖ अरहता असरीरा, आइरिया तह उवज्झया मुणिणो ।
पढमक्खरणिप्पण्णो, ओंकारो पचपरमेट्ठी ॥

ध्यान करना तथा ऐसा ही संकल्प अपनी आत्माका करके अपना ध्यान करना सो रूपस्थ ध्यान है। देह बिना, बाह्यके अतिशयादिक बिना, अपना दूसरेका ध्याता ध्यान ध्येयके भेद बिना, सर्व विकल्प रहित, परमात्मस्वरूपमें लयको प्राप्त हो जाना सो रूपातीत ध्यान है। ऐसा ध्यान सातवे गुणस्थानमे होता है तब श्रेणी मांडता है। यह ध्यान व्यक्तरागसहित चौथे गुणस्थानसे सातवे गुणस्थान तक अनेक भेदरूप प्रवर्त्तता है।

अब शुक्लध्यानको पाँच गाथाओमे कहते है—

जत्थ गुणा सुविसुद्धा, उवसमखमणं च जत्थ कम्माणं।
लेसा वि जत्थ सुक्का, तं सुक्कं भण्णदे ज्झाणं ॥४८१॥

अन्वयार्थः—[जत्थ सुविसुद्धा गुणा] जहाँ भले प्रकार विशुद्ध (व्यक्त कषायोंके अनुभव रहित) उज्ज्वल गुण (ज्ञानोपयोग आदि) हो [जत्थ कम्माणं उवसमखमणं च] जहाँ कर्मोका उपशम तथा क्षय हो [जत्थ लेसा वि सुक्का] और जहाँ लेश्या भी शुक्ल ही हो [तं सुक्कं ज्झाणं भण्णदे] उसको शुक्लध्यान कहते है।

भावार्थः—यह सामान्य शुक्लध्यानका स्वरूप कहा, विशेष आगे कहेगे। कर्मके उपशम और क्षयका विधान अन्य ग्रन्थोसे टीकाकारने लिखा है सो आगे लिखेगे।

अब विशेष भेदोको कहते है—

पडिसमयं सुज्झंतो अणंतगुणिदाए उभयसुद्धीए।
पढमं सुक्कं ज्झायदि, आरूढो उभयसेणीसु ॥४८२॥

अन्वयार्थः—[उभयसेणीसु आरूढो] उपशमक और क्षपक इन दोनो श्रेणियोमें आरूढ होकर [पडिसमयं] समय समय [अणतगुणिदाए उभयसुद्धीए सुज्झंतो] अनन्तगुणी विशुद्धता कर्मके उपशम तथा क्षयरूपसे शुद्ध होता हुआ मुनि [पढमं सुक्कं ज्झायदि] प्रथम शुक्लध्यान पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान करता है।

भावार्थः—पहिले मिथ्यात्व तीन, कषाय अनन्तानुबन्धी चार, प्रकृतियोका उपशम तथा क्षय होनेसे सम्यग्दृष्टि होता है। फिर अप्रमत्त गुणस्थानमे सातिशय विशुद्धतासहित हो श्रेणी प्रारम्भ करता है, तब अपूर्वकरण गुणस्थान होकर शुक्लध्यानका

पहिला पाया प्रवर्त्तता है। वहाँ यदि मोहकी प्रकृतियोका उपशम करना प्रारम्भ करता है तो अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मसांपराय इन तीनो गुणस्थानोमें समय समय अनन्तगुणी विशुद्धतासे बढ़ता हुआ मोहनीय कर्मकी इक्कीस प्रकृतियोका उपशम कर उपशान्त कषाय गुणस्थानको प्राप्त हो जाता है अथवा मोहकी प्रकृतियोका क्षय करना प्रारम्भ करता है तो तीनो गुणस्थानोमें इक्कीस मोहकी प्रकृतियोका सत्तामेसे नाश कर क्षीणकषाय बारहवे गुणस्थानको प्राप्त हो जाता है। ऐसे शुक्लध्यानका पहिला पाया पृथक्त्ववितर्कवीचार प्रवर्तता है। सो पृथक् कहिये भिन्न भिन्न, वितर्क कहिये श्रुतज्ञानके अक्षर और अर्थ, तथा वीचार कहिये अर्थका, *व्यजनका और मन वचन कायके योग, इनका पलटना इस पहिले शुक्लध्यानमें होता है। सो अर्थ तो द्रव्यगुण पर्याय है सो द्रव्यसे द्रव्यान्तर गुणसे गुणान्तर पर्यायसे पर्यायान्तर होता है और इसी तरह वर्णसे वर्णान्तर तथा योगसे योगान्तर होता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि ध्यान तो एकाग्रचित्तानिरोध है, पलटनेको ध्यान कैसे कहा? इसका समाधान—

जितने समय तक एक विषय पर रुका सो तो ध्यान हुआ और पलट गया तब दूसरे विषय पर रुका वह भी ध्यान हुआ ऐसे ध्यानकी सन्तानको भी ध्यान कहते है। यहाँ सन्तानकी जाति एक है उसकी अपेक्षा लेना। उपयोग पलटता है सो ध्याताकी पलटनेकी इच्छा नही है यदि इच्छा हो तो रागसहित होनेके कारण यह भी धर्म ध्यान ही रहे। यहाँ, रागका अव्यक्त होना केवलज्ञानगम्य है, ध्याताके ज्ञान गम्य नही है। आप शुद्धोपयोगरूप हुवा पलटनेका भी ज्ञाता ही है। पलटना क्षयोपशम ज्ञानका स्वभाव है इसलिये यह उपयोग बहुत समय तक एकाग्र नही रहता है, इसको 'शुक्ल' रागके अव्यक्त होनेहीके कारण कहा है।

अब दूसरा भेद कहते हैं—

णिस्सेसमोहविलए, खीणकसाए य अंतिमे काले।
ससरूवम्मि णिलीणो, सुक्कं ज्झाएदि एयत्तं ॥४८३॥

---

*व्यजन नाम श्रुतवचनका है जिससे अर्थ विशेष अभिव्यक्त होता है, ऐसे किसी भी श्रुतके वाक्यको व्यजन कहते है।

(सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पृष्ठ ४२९)

अन्वयार्थः—[णिस्सेसमोहविलए] आत्मा समस्त मोहकर्मके नाश होने पर [खीणकसाए य अंतिमे काले] क्षीणकषाय गुणस्थानके अन्तके कालमे [ससरूवम्मि णिलीणो] अपने स्वरूपमे लीन हुवा [एयत्तं सुक्कं ज्झाएदि] दूसरा शुक्लध्यान एकत्ववितर्कवीचारध्यान करता है।

भावार्थः—पहिले पायेमें उपयोग पलटता था सो पलटता रह गया। एक द्रव्य तथा पर्याय पर, एक व्यजन पर, एक योग पर रुक गया। अपने स्वरूपमें लोन है हो, अब घातिया कर्मके नाशसे उपयोग पलटैगा सो सबका प्रत्यक्ष ज्ञाता होकर लोकालोकको जानना यह ही पलटना शेष रहा है।

अब तीसरे भेदको कहते हैं—

केवलणाणसहावो, सुहमे जोगम्हि संठिओ काए।
जं ज्झायदि सजोगिजिणो, तं तिदियं सुहमकिरियं च ॥४८४॥

अन्वयार्थः—[केवलणाणसहावो] केवल ज्ञान ही है स्वभाव जिसका ऐसा [सजोगिजिणो] सयोगीजिन [सुहमे काए जोगम्हि सठिओ] जब सूक्ष्म काययोगमें स्थित होकर उस समय [जं ज्झायदि] जो ध्यान करता है [तं तिदियं सुहमकिरियं च] वह तीसरा सूक्ष्मक्रिया नामक शुक्लध्यान है।

भावार्थः—जब घातिया कर्मके नाशसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है तब तेरहवाँ गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली होता है वहाँ उस गुणस्थान कालके अन्तमें अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है तब मनोयोग वचनयोग रुक जाते है और काययोगकी सूक्ष्म क्रिया रह जाती है तब शुक्लध्यानका तीसरा पाया कहलाता है। यहाँ उपयोग तो केवलज्ञान उत्पन्न हुआ तबहीसे अवस्थित है और ध्यानमें अन्तर्मुहूर्त्त ठहरना कहा है सो इस ध्यानकी अपेक्षा तो यहाँ ध्यान है नही और योगके रुकनेकी अपेक्षा ध्यानका उपचार है। उपयोगकी अपेक्षा कहें तो उपयोग रुक ही रहा है कुछ जानना रहा नही तथा पलटानेवाला प्रतिपक्षी कर्म रहा नही इसलिये सदा ही ध्यान है। अपने स्व स्वरूपमें रम रहे है। ज्ञेय आरसी (दर्पण) की तरह समस्त प्रतिविम्बित हो रहे है। मोहके नाशसे किसीमे इष्ट अनिष्टभाव नही है ऐसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामक तीसरा शुक्लध्यान प्रवर्त्तता है।

अब चौथे भेदको कहते है—

जोगविणासं किच्चा, कम्मचउक्कस्स खवणकरणट्ठं ।
जं झायदि अजोगिजिणो, णिक्किरियं तं चउत्थं च ॥४८५॥

अन्वयार्थः—[जोगविणासं किच्चा] केवली भगवान् योगोकी प्रवृत्तिका अभाव करके [अजोगिजिणो] जब अयोगी जिन हो जाते हैं तब [कम्मचउक्कस्स खवणकरणट्ठ] सत्तामे स्थित अघातिया कर्मकी पिच्यासी प्रकृतियोका क्षय करनेके लिये [जं ज्झायदि] जो ध्यान करते है [तं चउत्थ णिक्किरिय च] सो चौथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान होता है ।

भावार्थः—चौदहवाँ गुणस्थान अयोगीजिन है वहाँ स्थिति पंच लघुअक्षर प्रमाण है । वहाँ योगोकी प्रवृत्तिका अभाव है सो सत्तामे अघातिया कर्मकी पिच्यासी प्रकृतियाँ है उनके नाशका कारण यह योगोका रुकना है इसलिये इसको ध्यान कहा है । तेरहवे गुणस्थानकी तरह यहाँ भी ध्यानका उपचार जानना । कुछ इच्छापूर्वक उपयोगको रोकनेरूप ध्यान नही है । यहाँ कर्म प्रकृतियोके नाम तथा और भी विशेष कथन अन्य ग्रन्थोके अनुसार है सो सस्कृतटीकासे जानना । ऐसे ध्यान तपका स्वरूप कहा ।

अव तपके कथनका संकोच करते है—

एसो वारसभेओ, उग्गतवो जो चरेदि उवजुत्तो ।
सो खविय कम्मपुंजं, मुत्तिसुहं उत्तमं लहदि ॥४८६॥

अन्वयार्थः—[एसो वारसभेओ] यह बारह प्रकारका तप है [जो उवजुत्तो उग्गतवो चरेदि] जो मुनि उपयोग सहित इस उग्रतपका आचरण करता है [सो कम्मपुज खविय] सो मुनि कर्मसमूहका नाश करके [उत्तमं मुत्तिसुहं लहदि] उत्तम (अक्षय) मोक्षसुखको पाता है ।

भावार्थः—तपसे कर्मकी निर्जरा होती है और संवर होता है ये दोनो ही मोक्षके कारण है इसलिये जो मुनिव्रत लेकर बाह्य अभ्यन्तर भेदरूप तपका विधिपूर्वक आचरण करता है सो मोक्ष पाता है । तब ही कर्मका अभाव होता है इसीसे अविनाशी बाधारहित आत्मीक सुखकी प्राप्ति होती है । ऐसे बारह प्रकारके तपके धारक तथा

इस तपका फल पानेवाले साधु चार प्रकारके कहे गये है—१ अनगार, २ यति, ३ मुनि ४ ऋषि। सामान्य साधु गृहवासके त्यागी मूलगुणोंके धारक अनगार है। ध्यानमे स्थित होकर श्रेणो मांडनेवाले यति है। जिनको अवधि मन.पर्ययज्ञान हो तथा केवलज्ञान हो सो मुनि है और ऋद्धिधारी हो सो ऋषि है। इनके चार भेद है—१ राजर्षि, २ ब्रह्मर्षि, ३ देवर्षि, ४ परमर्षि विक्रिया ऋद्धिवाले राजर्षि, अक्षीणमहानस ऋद्धिवाले ब्रह्मर्षि, आकाशगामी देवर्षि और केवलज्ञानो परमर्षि है।

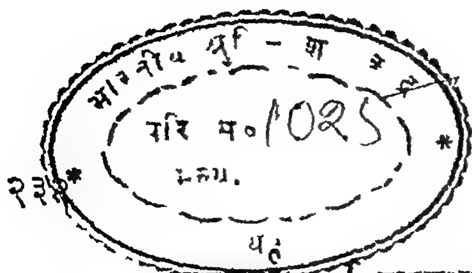
अब इस ग्रन्थके कर्त्ता श्रीस्वामिकार्त्तिकेय मुनि अपना कर्त्तव्य प्रगट करते है—

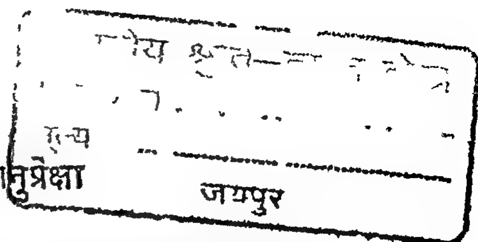
जिणवयणभावणट्ठं, सामिकुमारेण परमसद्धाए।
रइया अणुवेक्खाओ, चंचलमण-रुंभणट्ठं च ॥४८७॥

अन्वयार्थः—[अणुवेक्खाओ] यह अनुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ [सामिकुमारेण] स्वामिकुमारने (यहाँ कुमार शब्दसे ऐसा सूचित होता है कि यह मुनि जन्महीसे ब्रह्मचारी थे) [परमसद्धाए] श्रद्धापूर्वक (ऐसा नही कि कथनमात्र कर दिया हो, इस विशेषणसे अनुप्रेक्षासे अत्यन्त प्रीति सूचित होती है) [जिणवयणभावणट्ठं] जिनवचनकी भावनाके लिये (इस वचनसे यह वताया है कि ख्याति लाभ पूजादिक लौकिक प्रयोजनके लिये यह ग्रन्थ नही बनाया है, जिनवचनका ज्ञान श्रद्धान हुआ है उसकी बारम्बार भावना करना स्पष्ट करना जिससे ज्ञानकी वृद्धि हो कपायोका नाश हो ऐसा प्रयोजन है) [चंचलमणरुंभणट्ठं च रइया] और चचल मनको रोकनेके लिये रचा (बनाया) है। इस विशेषणसे ऐसा जानना कि मन चचल है इसलिये एकाग्र नही रहता है उसको इस शास्त्रमे लगावे तो रागद्वेषके कारण विपय कपायोमे न जावे इस प्रयोजनके लिये यह अनुप्रेक्षा ग्रन्थ वनाया है सो भव्यजीवोंको इसका अभ्यास करना योग्य है जिससे जिनवचनकी श्रद्धा हो, सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि हो और मन चचल है सो इसके अभ्यासमे लगे, अन्य विपयोमें न जावे।

अब अनुप्रेक्षाका माहात्म्य कहकर भव्योको उपदेशरूप फलका वर्णन करते हैं—

बारसअणुवेक्खाओ, भणिया हु जिणागमाणुसारेण।
जो पढइ सुणइ भावइ, सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥४८८॥





अन्वयार्थः—[बारसअणुपेक्खाओ जिणागमाणुसारेण भणिया हु] ये बा
अनुप्रेक्षाये जिनागमके अनुसार कही है (इस वचनसे यह बताया है कि मैंने कलि
नही कही है शास्त्रानुसार कही है) [जो पढइ सुणइ भावइ] जो भव्यजीव इनको
सुने और इनकी भावना (बारम्बार चिन्तवन) करे [सो उत्तमं सोक्खं पावइ]
उत्तम (बाधारहित, अविनाशी, स्वात्मीक) सुखको पावे । यह सम्भावनारूप कर्त्त
अर्थका उपदेश जानना । भव्यजीव है सो पढो, सुनो, बारम्बार इनके चिन्तवन
भावना करो ।

अब अन्त्यमगल करते है—

तिहुयणपहाणस्वामिं, कुमारकाले वि तविय तवचरणं ।
वसुपुज्जसुयं मल्लिं, चरिमतियं संथुवे णिच्चं ॥४८९॥

अन्वयार्थः—[तिहुयणपहाणस्वामिं] तीन भुवनके प्रधान स्वामी तीर्थकरदे
जिन्होंने [कुमारकाले वि तविय तवचरणं] कुमारकालमे ही तपश्चरण धारण किया ऐ
[वसुपुज्जसुयं मल्लिं चरिमतियं] वसुपूज्य राजाके पुत्र वासुपूज्यजिन, मल्लिजिन औ
चरिमतिय (अन्तके तीन) नेमिनाथ जिन, पार्श्वनाथ जिन, वर्द्धमानजिन इन पाँच
जिनोका मै [णिच्चं संथुवे] नित्य ही स्तवन करता हूँ उनके गुणानुवाद करता हूँ, वद
करता हूँ ।

भावार्थः—ऐसे कुमारश्रमण पाँच तीर्थकरोको स्तवन नमस्काररूप अन्तमंग
किया है । यहाँ ऐसा सूचित होता है कि आप (श्रीस्वामिकार्तिकेय) कुमार अवस्था
मुनि हुए है इसीलिये कुमार तीर्थंकरोसे विशेष प्रीति उत्पन्न हुई है इसलिये उनके
नासरूप अन्तमंगल किया है ।

ऐसे श्रीस्वामिकार्तिकेय मुनिने यह अनुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ समाप्त किया ।

अब इस वचनिकाके होनेका सम्बन्ध लिखते है—

दोहा

प्राकृत स्वामिकुमार कृत, अनुप्रेक्षा शुभ ग्रन्थ ।

चौपाई

देश ढुँढाहड़ जयपुर थान, जगतसिंह नृपराज महान ।
न्यायबुद्धि ताकैं नित रहै, ताकी महिमा को कवि कहै ।।२।।

ताके मन्त्री बहुगुणवान, तिनकैं मन्त्र राजसुविधान ।
ईति भीति लोकनिकै नाहिं, जो व्यापै तो झट मिटि जाहिं ।।३।।

धर्मभेद सब मतके भले, अपने अपने इष्ट जु चले ।
जैनधर्मकी कथनी तनी, भक्ति प्रीति जैननिकै घनी ।।४।।

तिनमें तेरापंथ कहाव, धरै गुणीजन करै बढाव ।
तिनिके मध्य नाम जयचन्द्र, मैं हूँ आतमराम अनद ।।५।।

धर्मरागतैं ग्रंथ विचारि, करि अभ्यास लेय मनधारि ।
भावन बारह चितवन सार, सो हूँ लखि उपज्यो सुविचार ।।६।।

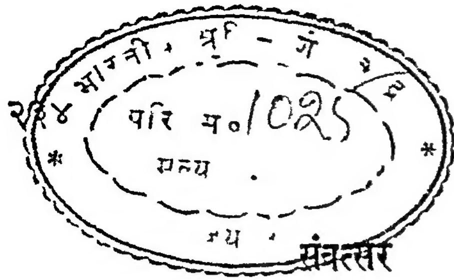
देशवचनिका करिये जोय, सुगम होय बांचै सब कोय ।
याते रची वचनिका सार, केवल धर्मराग निरधार ।।७।।

मूलग्रंथतैं घटि बढि होय, ज्ञानी पडित सोधौ सोय ।
अल्पबुद्धिकी हास्य न करैं, सतपुरुष मारग यह धरैं ।।८।।

बारह भावनकी भावना, बहु लै पुण्ययोग पावना ।
तीर्थंकर वैराग जु होय, तब भावै सब राग जु खोय ।।९।।

दीक्षा धारै तब निरदोष, केवल ले अरु पावै मोष(मोक्ष) ।
यह विचारि भावौ भवि जीव सब कल्याण सु धरौ सदीव ।।१०।।

पंच परमगुरु अरु जिनधर्म, जिनवानी भाषै सब मर्म ।
चैत्य चैत्यमंदिर पढि नाम, नमूं मानि नव देव सुधाम ।।११।।

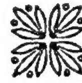


कार्तिकेयानुप्रेक्षा

दोहा

संवत्सर विक्रमतणूं, अष्टादशशत जानि ।
त्रेसठि सावण तीज वदि, पूरण भयो सुमानि ॥१२॥
जैनधर्म जयवन्त जग, जाको मर्म सु पाय ।
वस्तु यथारथरूप लखि, ध्यायें शिवपुर जाय ॥१३॥

इति श्रीस्वामिकार्तिकेय विरचित द्वादशानुप्रेक्षा जयचन्दजी कृत वचनिका हिन्दी अनुवाद सहित समाप्त ।



शुद्धि—पत्र

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१	१३	तनुनगनतर	तनुनगनधर
२४	१७	कस	कैसे
३८	अतिम	रूवादु	रूवाहुं
४४	१४	चेव	च्चेव
४४	१६	चेव	च्चेव
४५	१३	चेव	च्चेव
४५	१६	चेव	च्चेव

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र
जयपुर